नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रान्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

अथ षष्ठोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(वानप्रस्थ-संन्यास-धर्म विषय)

(वानप्रस्थ-विषय)

[६ । १ से ६ । ३२ तक]

वानप्रस्थ धारण करे—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥ (१)

(एवम्) पूर्वोक्त प्रकार (विधिवत् स्नातकः द्विजः) विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़के समावर्त्तन के समय स्नानविधि करने हारा द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (विजितेन्द्रियः नियतः यथावत् गृहाश्रमे स्थित्वा) जितेन्द्रिय, जितात्मा होके, यथावत् गृहाश्रम करके (वने वसेत्) वन में बसे ॥ १ ॥
(सं० वि० १९०)

"इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहरकर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीतके वनमें वसे"। (स० प्र० १२४)

अनुशीलन : (१) 'जितेन्द्रिय' का लक्षण २ । ७३ [२ । ९८] में वर्णित है। वहां द्रष्टव्य है।

(२) **वानप्रस्थ धारण में ब्राह्मणों के प्रमाण**—वानप्रस्थ का विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में और वेदों में विहित है। यहाँ तुलनार्थ शत० का० १४ का वचन प्रस्तुत है—

"ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।"
=ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके गृहस्थ बने, गृहस्थाश्रम को पूर्ण करके वानप्रस्थ बने, वानप्रस्थ आश्रम को पूर्ण करके संन्यासी बने।

(३) वेद का प्रमाण ६ । २ पर उल्लिखित है।

वानप्रस्थ धारण का समय—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥ (२)

(गृहस्थः तु) गृहस्थ लोग (यदा) जब (आत्मनः वली-पलितं पश्येत्) अपनी देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें (च) और (अपत्यस्य+एव अपत्यम) पुत्र का भी पुत्र हो जाये (तदा) तब (अरण्यं समाश्रयेत्) वन का आश्रय लेवें ॥ २ ॥ (सं० वि० १६०)

"परन्तु जब गृहस्थ शिर के केश श्वेत और त्वचा ढीली हो जाये और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके बसे'।

(स० प्र० १२४)

अनुशीलन : वानप्रस्थ धारण में वेद के प्रमाण— मनु ने ६ । २—४ श्लोकों में वेद के आधार पर विधान किये हैं। तुलनार्थ द्रष्टव्य है ऋग्वेद १० । ४ । ५ का वेदमन्त्र—

"कूचित् जायते सनयासु नव्यो,
बने तस्थौ पलितो धूमकेतुः ।"

अर्थात्—(कूचित्) जब किसी भी घर में (सनयासु नव्यः जायते) प्राचीन सन्ततियों अर्थात् अवस्थावृद्ध गृहस्थों में नवीन सन्तति पैदा हो जाये अर्थात् अपने पुत्र का भी पुत्र=पौत्र हो जाये, या (पलितः) पके केशों वाला हो जाये [६ । २ में वर्णित] तब (धूमकेतुः) धूमकेतुः=अग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि सामग्री लेकर (वने तस्थौ) वन में प्रस्थान करे—वानप्रस्थ बन जाये [६ । ४ में वर्णित] "**वनर्गू=वनगामिनौ**" [निरु० ३ । १४] अकेला अथवा पति और पत्नी दोनों वनगामी=वानप्रस्थ बनें ॥

वानप्रस्थ धारण की विधि—

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ (३)

जब वानप्रस्थ-आश्रम की दीक्षा लेवें तब (ग्राम्यम्+आहारम्) गांव में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार (च) और (सर्वम् एव परिच्छदम्) घर के सब पदार्थों को (संत्यज्य) छोड़के (पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य) पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ (वा सह+एव) अथवा सङ्ग में लेके (वनं गच्छेत्) वन को जावे ॥ ३ ॥ (सं० वि० १६१)

"सब ग्राम के आहार और वस्त्र आदि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को

छोड़ पुत्रों के पास स्त्री को रख वा अपने साथ लेके वन में निवास करे"।
(स० प्र० १२४)

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥ (४)

जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब (अग्निहोत्रं च गृह्यम् अग्निपरिच्छदं समादाय) अग्निहोत्र को सामग्री-सहित लेके (ग्रामात् निःसृत्य) गांव से निकल (अरण्यं जितेन्द्रियः निवसेत्) जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ॥ ४ ॥ (सं० वि० १६१)

"साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को लेकर ग्राम से निकल दृढ़ेन्द्रिय होकर अरण्य में जाकर बसे"। (स० प्र० १२४)

वानप्रस्थ के लिए पञ्चयज्ञों का विधान—

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥ (५)

(विविधैः मुन्यन्नैः) नाना प्रकार के सामा [=नीवार] आदि अन्न (मेध्यैः शाक-मूल-फलेन) सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल, कंदादि से (एतान्+एव महायज्ञान् विधिपूर्वकं निर्वपेत्) पूर्वोक्त [३ । ७० ॥ ६ । ७-१२ में वर्णित] महायज्ञों को❀ करे ॥ ५ ॥ (स० प्र० १२४)

❀ (विधिपूर्वकम्) पूर्वोक्त विहित विधि [३।६९-१०८ के] अनुसार…

अतिथि-यज्ञ एवं पितृ-यज्ञ का विधान—

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः ।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥ (६)

(यत् भक्ष्यं स्यात्) जो भी खाने का पदार्थ हो [६ । ५] (ततः) उससे ही (बलिं दद्यात्) बलिवैश्वदेव यज्ञ करे (च शक्तितः भिक्षाम्) और यथाशक्ति भिक्षा भी दे (आश्रम+आगतान्) आश्रम में आये अतिथियों को (अप्+मूल-फल-भिक्षाभिः) जल, कन्दमूल, फल आदि प्रदान करके (अर्चयेत्) उनका सत्कार करे ॥ ७ ॥

ब्रह्मयज्ञ का विधान—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥ (७)

(स्वाध्याये) स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में (नित्ययुक्तः) नियुक्त

(समाहितः) जितात्मा (मैत्रः) सब का मित्र (दान्तः) इन्द्रियों का दमनशील (दाता) विद्या आदि का दान देने हारा (सर्वभूत+अनुकंपकः) सब पर दयालु (अनादाता) किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे (नित्यं स्यात्) इस प्रकार सदा वर्तमान रहे ॥ ८ ॥ (स० प्र० १२५)

"वहां जङ्गल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्ययुक्त मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्व-स्त्री भी समीप हो तथापि उससे सेवा के सिवाय विषय-सेवन अर्थात् प्रसंग कभी न करे, सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देने हारा और किसी से कुछ भी न लेवे, सब प्राणीमात्र पर अनुकंपा=कृपा रखने हारा होवे।" (सं० वि० १६१)

अग्निहोत्र का विधान—

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः॥ ९ ॥ (८)

वानप्रस्थ (यथाविधि) पूर्वोक्त विधि के अनुसार (अग्निहोत्रम्) दैनिक यज्ञ-पञ्चमहायज्ञों को (च) और (वैतानिकम्) विशेष अवसरों पर किये जाने वाले (दर्शं च पौर्णमासं पर्व अस्कन्दयन्) अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्वों पर किये जाने पर्वयज्ञों को भी न छोड़ते हुए (योगतः जुहुयात्) निष्ठापूर्वक किया करे ॥ ९ ॥

अनुशीलन : 'वैतानिक' से अभिप्राय—'वैतानिक' शब्द से विस्तृत अर्थात् विशेष अवसरों पर आयोजित होने वाले यज्ञों से अभिप्राय है। यज्ञों के साथ 'वैतानिक' शब्द का अन्यत्र भी प्रयोग मिलता है। ६। १० का वर्णन उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है। द्रष्टव्य है ७। ७८—७९ और २। ११८ (२। १४३) श्लोकों के प्रयोग। २। ३ [२। २८] में भी ऐसे महायज्ञों का विधान है।

विशेष यज्ञों का आयोजन करे—

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्।
तुरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥ (९)

(ऋक्षेष्टि) नक्षत्रयज्ञ (आग्रयणम्) नये अन्न का यज्ञ (च) और (चातुर्मास्यानि) चातुर्मास्य का यज्ञ (च) तथा (क्रमशः तुरायणं च दक्षस्यायनं एव आहरेत्) क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन, इन अवसरों पर भी विशेष यज्ञों का आयोजन करे ॥ १० ॥

अनुशीलन : नक्षत्रों की गणना—(१) नक्षत्र परिवर्तन के समय भी विशेष या बृहत् यज्ञ का अनुष्ठान करे। नक्षत्र २७ हैं—'१. अश्विनी, २. भरणी, ३

कृत्तिका, ४. रोहिणी, ५. मृगशीर्ष, ६. आर्द्रा, ७. पुनर्वसु, ८. पुष्य, ९. आश्लेषा, १०. मघा, ११. पूर्वाफाल्गुनी, १२. उत्तराफाल्गुनी, १३ हस्त, १४. चित्रा, १५. स्वाति, १६. विशाखा, १७. अनुराधा, १८. ज्येष्ठा, १९. मूल, २०. पूर्वाषाढ़ा, २१. उत्तराषाढ़ा २२. श्रवण, २३. धनिष्ठा, २४. शतभिषज्, २५. पूर्वाभाद्रपदा, २६. उत्तराभाद्रपदा, २७. रेवती।

(२) चातुर्मास्य यज्ञ—प्रत्येक चार महीने के पश्चात् अनुष्ठेय यज्ञ अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन, और आषाढ़ के प्रारम्भ में।

(३) सूर्य की भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर स्थिति, जो मकर से कर्क संक्रान्ति तक का काल है, उसे उत्तरायण कहते हैं।

(४) सूर्य की भूमध्यरेखा से दक्षिण की ओर स्थिति का समय दक्षिणायन कहलाता है। (अयन विषयक विस्तृत विवेचन १। ६७ की समीक्षा में द्रष्टव्य है)।

इन अवसरों पर विशेष यज्ञों का अनुष्ठान करे।

बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान—

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥ (१०)

(वासन्त-शारदैः मेध्यैः स्वयम्+आहृतैः अन्नैः) वसन्त और शरद् ऋतु में प्राप्त होने वाले पवित्र और स्वयं लाये हुए नीवार आदि मुनि-अन्नों से (पुरोडाशान् च चरून् विधिवत् पृथक् निर्वपेत्) पुरोडाश और चरु नामक यज्ञीय हव्यों को विधि अनुसार अलग-अलग तैयार करे ॥ ११ ॥

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥ (११)

(तत् मेध्यतरं वन्यं हविः देवताभ्यः हुत्वा) उस पवित्र, वन के अन्नों से निर्मित हवि को देवताओं [३। ८४-९४] के लिये होम कर=आहुति देकर (शेषम्) शेष भोजन को (च) और (स्वयं कृतं लवणम्) अपने लिए बनाये गये लवणयुक्त पदार्थों को (आत्मनि युञ्जीत) अपने खाने के लिए प्रयोग में लाये ॥ १२ ॥

अनुशीलन : 'लवणशब्द-विवेचन'—यहां 'लवण' शब्द का अर्थ 'प्रत्येक लवणयुक्त भोजन' है। व्याकरणानुसार संसृष्ट अर्थ में लवण शब्द से "लवणाल्लुक्" [अ० ४। ४। २४] सूत्र द्वारा पूर्वप्राप्त ठक् प्रत्यय का लुक् हो जाता है, अतः 'लवण' शब्द ही रह जाता है, किन्तु उपर्युक्त रूप में अर्थ व्यापक रहता है।

पवित्र भोजन करे—

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्चफलसम्भवान् ॥ १३ ॥ (१२)

(स्थलज+औदक-शाकानि) भूमि और जल में उत्पन्न शाकों को (मेध्यवृक्ष+उद्भवानि पुष्प-मूल-फलानि) पवित्र वृक्षों से उत्पन्न होने वाले फूल, कन्दमूल और फलों को (च) और (फलसंभवान् स्नेहान्) फलों से प्राप्त होने वाले रसों, तैलों या अर्कों को (अद्यात्) खाये ॥ १३ ॥

अनुशीलन : भक्ष्य पदार्थों का विधान ५।८-१०, २४-२५ में भी द्रष्टव्य है।

अभक्ष्य पदार्थ—

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥ (१३)

(मधु) मदकारी मदिरा, भांग आदि पदार्थ (मांसम्) सब प्रकार के मांस (च) और (भौमानि कवकानि) भूमि में उत्पन्न होने वाले कवक=छत्राक=कुकुरमुत्ता (च) और (भूस्तृणम्) भूतृण नामक [=शरवाण] शाकविशेष, (शिग्रुकम्) सफेद सहिजन (च) और (श्लेष्मातकफलानि) लिसौड़े के फल (वर्जयेत्) इन्हें भोजन में वर्जित रखे अर्थात् न खाये ॥ १४ ॥

अनुशीलन : (१) यहां मधु का अर्थ 'मद्य अर्थात् नशा करने वाले मदिरा, भांग आदि पदार्थ' है। मांस के साथ पठित 'मधु' शब्द का अर्थ 'मदिरा' होता है। यहां 'शहद' अर्थ इस लिए ग्राह्य नहीं है क्योंकि २।४ में मनु ने उसे भक्ष्य माना है। प्रमाणयुक्त अर्थविवेचन २।१५२ [२।१७७] में देखिए।

(२) अभक्ष्य पदार्थों का वर्णन ५।५ तथा २।१७७ में भी है। इन पदार्थों को सभी आश्रमवासियों के लिए अभक्ष्य माना है।

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम्।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥ (१४)

(पूर्वसंचितं मुन्यन्नम्) पहले इकट्ठे किये हुए नीवार आदि मुनि-अन्नों को (च) और (जीर्णानि वासांसि) पुराने वस्त्रों को (च) और (शाक-मूल-फलानि) पूर्वसंचित शाक, कन्दमूल, फलों को (आश्वयुजे मासि त्यजेत्) आश्विन के महीने में छोड़ देवे अर्थात् नये ग्रहण करे ॥ १५ ॥

वानप्रस्थ ग्रामोत्पन्न पदार्थ न खाये—

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥ (१५)

(फालकृष्टम्) हल से जोती हुई भूमि में उत्पन्न पदार्थों को (केनचित् उत्सृष्टम्+अपि) किसी के द्वारा दिये जाने पर भी (च) और (ग्रामजातानि मूलानि च फलानि) ग्राम में उत्पन्न किये गये मूल और फलों को (आर्त्तः+अपि न अश्नीयात्) भूख से पीड़ित होते हुए भी न खाये ॥ १६ ॥

अनुशीलन : **वानप्रस्थ के लिए ग्रामोत्पन्न वस्तुओं के निषेध में कारण**—वनस्थ के लिए ग्रामोत्पन्न वस्तुओं का निषेध इसलिए है कि उसकी गृहस्थ सदृश सुखासक्ति में प्रवृत्ति न हो। इस श्लोक का सम्बन्ध २६ वें से है, जो इस श्लोक के निषेध का कारणरूप वर्णन है। विशेष समीक्षा २६ वें श्लोक के अनु शीलन में देखिए।

सांसारिक सुखों में आसक्ति न रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करे—

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥ (१६)

(सुखार्थेषु अप्रयत्नः) शरीर के सुख के लिए अतिप्रयत्न न करे, किन्तु (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषयचेष्टा कुछ न करे (धराशय) भूमि में सोवे (शरणेषु+अममः+च+एव) अपने वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे (वृक्षमूलनिकेतनः) वृक्ष के मूल में बसे ॥ ॥ २६ ॥ (स० प्र० १२५)

अनुशीलन : **२६ वें श्लोक की संगति का विवेचन**—इस श्लोक की संगति १६ वें से है। उसमें सभी ग्रामोत्पन्न पदार्थों का ग्रहण न करने का आदेश है चाहे कोई भेंट के रूप में भी लाया हो। इस श्लोक में उसका कारण प्रदर्शित है कि वनस्थ को सुख-सुविधाओं में ध्यान नहीं लगाना चाहिए। तभी वह मोह-ममता से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। ऐसा न करने पर विषयों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है। संन्यासी के प्रसंग में इस बात को दूसरे प्रकार से स्पष्ट किया है—**भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति** (६। ५५)

अर्थात्—भिक्षा के लालच में मन रखने वाला संन्यासी विषयों में भी फंस जाता है। यही धारणा १६ और २६ वें श्लोकों के मूल में है।

तपस्वियों के घरों से भिक्षा का ग्रहण—

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥ (१७)

[अथवा] (तापसेषु+एव विप्रेषु) जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करने हारे तपस्वी, धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों (अन्येषु गृहमेधिषु द्विजेषु वनवासिषु) जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, उनके घरों में से ही ※ (भैक्षम्+आहरेत्) भिक्षा ग्रहण करे ॥ २७ ॥ (सं० वि० १९६)

※ (यात्रिकम्) जीवनयात्रा चलाने योग्य............

आत्मशुद्धि के लिए वेदमन्त्रों का मनन-चिन्तन—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥ (१८)

(वने वसन्) इस प्रकार वन में बसता हुआ (एताः च+अन्याः दीक्षाः सेवेत) इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे (च) और (आत्मसंसिद्धये) आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए (विविधाः औपनिषदीः श्रुतीः) नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना-विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार कियाकरे ॥ २९ ॥ (सं० वि० १९१)

अनुशीलन : यहां उपनिषद् से 'पुस्तकविशेष' अर्थ अभिप्रेत नहीं अपितु 'उपनिषद् विद्या' से अभिप्राय है।

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥ (१९)

(ऋषिभिः ब्राह्मणैः गृहस्थैः एव) ऋषियों, ब्राह्मणों और गृहस्थों ने भी (विद्या+तपः विवृद्ध्यर्थम्) विद्या और तप की वृद्धि के लिए (च) और (शरीरस्य शुद्धये) शरीर की शुद्धि के लिए (सेविताः) इन दीक्षाओं और श्रुतियों [६ । २९] का सेवन किया है ॥ ३० ॥

(संन्यासधर्म विषय)

[६ । २० से ६ । ५६ तक]

संन्यास ग्रहण का विधान—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥ (२०)

(एवं वनेषु आयुषः तृतीयं भागं विहृत्य) इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक पच्चीस वर्ष अथवा न्यून से न्यून बारह वर्ष तक विहार करके (आयुषः चतुर्थं भागम्) आयु के चौथे भाग अर्थात् सत्तर वर्ष के पश्चात् (संगान् त्यक्त्वा) सब मोह आदि संगों को छोड़ कर (परिव्रजेत्) परिव्राजक अर्थात् संन्यासी हो जावे ॥ ३३ ॥

(सं० वि० १९८)

'इस प्रकार वन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से

पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके आयु के चौथे भागमें संगों को छोड़ के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी होजावे"। (स० प्र० १२६)

अनुशीलन : **'परिव्राजक' की व्युत्पत्ति**— परिव्रजन करने से अभिप्राय परिव्राजक अर्थात् संन्यासी होने से है। **'परिव्रजति—इति परिव्राजकः'**= जो सांसारिक एषणाओं को त्यागकर लोकोपकार के लिए विचरण करे, वह परिव्राजक अर्थात् संन्यासी होता है। संन्यासी की परिभाषा ऋषि दयानन्द ने निम्न प्रकार दी है—

"संन्यास-संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़के, विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे अर्थात् "**सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्ते उपविशति स्थिरीभवति येन स, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी।**"

(सं० वि० संन्यास प्रकरण)

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥ (२१)

(विधिवत् वेदान् अधीत्य) विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़कर (धर्मतः पुत्रान् च उत्पाद्य) और गृहाश्रमी होकर, धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर (शक्तितः यज्ञैः इष्ट्वा) वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके (मोक्षे मनः निवेशयेत्) मोक्ष में अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे ॥३६॥

(सं० वि० १६८)

परमात्मा-प्राप्ति हेतु गृहाश्रम से भी संन्यास ले सकता है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ३८ ॥ (२२)

(प्राजापत्यां सर्ववेदसदक्षिणाम् इष्टिं निरूप्य) प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है (अग्नीन् आत्मनि समारोप्य) आहवनीय, गार्हपत्य और दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके (ब्राह्मणः गृहात् प्रव्रजेत्) ब्राह्मण गृहाश्रम से ही सन्यास लेवे ॥ ३८ ॥ (सं० वि० १६८)

"प्रजापति अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञादि शिखाचिह्नों को छोड़ आहवनीयादि पांच अग्नियों को, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकलकर संन्यासी हो जावे ॥ ३८ ॥"

(स० प्र० १२८)

अनुशीलन : संन्यास वानप्रस्थ से और सीधे गृहस्थ से भी—यद्यपि

संन्यासाश्रम में जाने का सामान्य क्रम वानप्रस्थ के पश्चात् ही है, जिसका विधान क्रमानुसार ६। ३३ में किया गया है। इस क्रम को अपनाकर मनुष्य सांसारिक निःसारता एवं उसके कष्टों को अनुभव कर लेता है और उसके 'काम' आदि विकार शान्त हो जाते हैं। उसमें वैराग्य के संस्कार उत्पन्न होने लगते हैं।

किन्तु विशेष स्थिति में सीधे ब्रह्मचर्य और गृहस्थ से भी संन्यास लेने का विधान ३८-४१ श्लोकों में किया है। जब व्यक्ति 'काम' आदि विकारों पर नियंत्रण कर लेता है और पूर्ण वैरागी बन जाता है तो उस स्थिति में वानप्रस्थ से पूर्व भी संन्यास ग्रहण कर सकता है, अन्यथा नहीं [देखिए ६। ४१ पर अनुशीलन]। इन सभी श्लोकों में ये भाव स्पष्ट किये गये हैं।

इस प्रकार ३८-४१ श्लोक वैकल्पिक विशेष विधान हैं, इस कारण ६। ३३ से इनका विरोध नहीं आता।

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
यस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ३९॥ (२३)

(यः सर्वभूतेभ्यः अभयं दत्त्वा) जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर (गृहात् प्रव्रजति) गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है (तस्य ब्रह्मवादिनः तेजोमया लोकाः भवन्ति) उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्ष-लोक और सब लोक-लोकान्तर तेजोमय (ज्ञान से प्रकाशमय) हो जाते हैं॥ ३९॥ (सं० वि० १९९)

"जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर, घर से निकलके संन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त धर्म आदि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूपलोक प्राप्त होता है।" (स० प्र० १२९)

अनुशीलन : संन्यासी द्वारा अभयदान— संन्यासी में सब प्राणियों के प्रति निर्वैरता होती है, इस कारण वह सबको अभयदान देता है। यह अभयदान की प्रतिज्ञा ब्राह्मणग्रन्थों में भी इसी प्रकार विहित है—

"पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता, मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु।"
(शत० १४। ६। ४। १)

संसार में सन्तान-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, प्रसिद्धि-प्राप्ति की ये तीन इच्छाएं ही प्रधान हैं। जिनके वशीभूत होकर व्यक्ति ईर्ष्या-द्वेष आदि में फंसता है। इनसे मुक्त होकर ही व्यक्ति वास्तव में संन्यासी बनता है। तब उनसे सब प्राणियों को अभय होता है।

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥ ४०॥ (२४)

(यस्मात् द्विजात्) जिस द्विज से (भूतानाम् अणु+अपि भयं न+

उत्पद्यते) प्राणियों को थोड़ा-सा भी भय नहीं होता (तस्य) उसको (देहात् विमुक्तस्य) देह से मुक्त होने पर (कुतश्चन भयं न अस्ति) कहीं भी भय नहीं रहता ॥ ४० ॥

वैराग्य होने पर गृहस्थ या ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यासग्रहण—

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥ (२५)

(कामेषु समुपोढेषु निरपेक्षः) जब सब कामों को जीत लेवे और उनकी अपेक्षा न रहे (पवित्र+उपचितः) पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण (मुनिः) मननशील हो जावे (आगारात्+अभिनिष्क्रान्तः) तभी गृहाश्रम से निकलकर (परिव्रजेत्) संन्यासाश्रम का ग्रहण करे अथवा ब्रह्मचर्य से ही संन्यास का ग्रहण करलेवे ॥ ४१ ॥ (सं० वि० १६६)

अनुशीलन : गृहस्थ से संन्यास—३८–४१ श्लोकों में गृहस्थ से भी संन्यास लेने का वैकल्पिक विधान है। ब्रह्मचर्य या गृहस्थ या वानप्रस्थ से सीधा संन्यास लेने का विधान ब्राह्मणग्रन्थों में इसी प्रकार पाया जाता है, किन्तु वह विशेष अवस्था में है। इसे ऋषि दयानन्द ने निम्न प्रकार उद्धृत किया है—

"द्वितीय प्रकार—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद् वा गृहाद् वा।' यह ब्राह्मण ग्रन्थ का वाक्य है।

अर्थ—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन, चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो, अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

तृतीय प्रकार—'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।'

यह भी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है। यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर, विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबके उपकार करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूँगा, तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।" (सं० वि० संन्यास प्रकरण)

संन्यासी एकाकी विचरण करे—

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥ (२६)

(एकस्य सिद्धिम् संपश्यन्) अकेले की ही मुक्ति होती है, इस बात को देखते हुए (सिद्धयर्थम्) मोक्षसिद्धि के लिए (असहायवान्) किसी के सहारे या आश्रय की इच्छा से रहित होकर (नित्यम्) सर्वदा (एकः+एव चरेत्) एकाकी ही विचरण करे अर्थात् किसी पुत्र-पौत्र, सम्बन्धी, मित्र आदि का आश्रय न ले और न उनका साथ करे, इस प्रकार रहने से (न जहाति न हीयते) न वह किसी को छोड़ता है, न उसे कोई छोड़ता है अर्थात् वह मोहरहित हो जाता है और मृत्यु के समय बिछुड़ने के दुःख की भावना समाप्त हो जाती है ॥ ४२ ॥

निर्लिप्त भाव से गांवों में भिक्षा ग्रहण करे—

अनग्निरनिकेतः स्यात् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥ (२७)

वह संन्यासी (अनग्निः) आहवनीयादि अग्नियों से रहित (अनिकेतः) और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे (अन्नार्थं ग्रामम् आश्रयेत्) और अन्न-वस्त्र आदि के लिए ग्राम का आश्रय लेवे (उपेक्षकः) बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता (असंकुसुकः) और स्थिरबुद्धि (मुनिः) मननशील होकर (भावसमाहितः) परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ (स्यात्) विचरे ॥ ४३ ॥ (सं० वि० १९९) ❀

अनुशीलन : **'अनग्निः' का अभिप्राय**—अनग्नि पद के प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द ने जो विशिष्ट टिप्पणी दी है, वह उल्लेखनीय है—

"इसी पद से भ्रान्ति में पड़के संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते। यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहां आहवनीय आदि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है।" (सं० वि० १९९, संन्यास प्रकरण)

(२) प्रचलित टीकाओं में 'उपेक्षकः' का अव्यावहारिक अयुक्तियुक्त अर्थ प्रचलित है।

❀[**प्रचलित अर्थ**—लौकिक अग्नियों से रहित, गृह से रहित, शरीर में रोगादि होने पर भी चिकित्सा आदि का प्रबन्ध न करने वाला, स्थिर बुद्धि वाला, ब्रह्म का मनन करने वाला, और ब्रह्म में भी भाव रखने वाला संन्यासी भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करे ॥ ४३ ॥]

जीवन-मरण के प्रति समदृष्टि—

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥ (२८)

(न जीवितम् अभिनन्देत) न तो अपने जीवन में आनन्द और (न मरणम् अभिनन्देत) न मृत्यु में दु:ख माने, किन्तु (यथा) जैसे (भृतक: निर्देशम्) क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है वैसे ही (कालम्+एव प्रतीक्षेत) काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ॥ ४५ ॥

(स० वि० १६६)

अनुशीलन : काल की प्रतीक्षा कैसे ?—यहां स्वामी-भृत्य के उदाहरणपूर्वक काल की प्रतीक्षा से अभिप्राय यह है कि संन्यासी मृत्यु का भय अपने मन में न रखे, अपितु सृष्टिक्रम की व्यवस्थानुसार प्राप्त होने वाली मृत्यु को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करने के लिए तैयार रहे। योगदर्शन साधन पाद सूत्र ६ में मृत्यु के भय को **'अभिनिवेश'** कहा है और उसे पंचक्लेशों में माना है—**'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेश: ।'** संन्यासी को यह भय या क्लेश नहीं होना चाहिए अपितु स्वामी की आज्ञा को सुनकर प्रसन्नता अनुभव करने वाले भृत्य के समान मृत्युरूपी ईश्वरीय नियम को अनुभव करके भयरहित प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिए।

पवित्र एवं सत्य आचरण करे—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मन:पूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥ (२६)

(दृष्टिपूतं पादं न्यसेत्) जब संन्यासी मार्ग में चले तब इधर-उधर न देखकर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रखके चले (वस्त्रपूत जल पिबेत्) सदा वस्त्र से छानके जल पिये (सत्यपूतां वाच वदेत्) निरन्तर सत्य ही बोले (मन:पूतं समाचरेत्) सर्वदा मन से विचारके सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥ ४६ ॥ (स० प्र० १२६)

"चलते समय आगे-आगे देखके पग धरे, सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे, सबसे सत्य वाणी बोले अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे, जो कुछ व्यवहार करे वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे।" (सं० वि० १६६)

अपमान को सहन करे—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।

न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥ (३०)

(अतिवादान् तितिक्षेत) अपमानजनक वचनों को सहन करले (कंचन न+अवमन्येत) कभी किसी का अपमान न करे (च) और (इमं देहम्+आश्रित्य) इस शरीर का आश्रय लेकर अर्थात् अपने शरीर—मन, वाणी, कर्म से (केनचित् वैरं न कुर्वीत) किसी से वैर न करे ॥ ४७ ॥

क्रोध आदि न करे—

क्रुद्धयन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥ (३१)

(क्रुद्धयन्तं) जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा (आक्रुष्टः) निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि (न प्रतिक्रुद्धयेत्) उस पर आप क्रोध न करे (कुशलं वदेत्) किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे (च) और (सप्तद्वार+अवकीर्णां वाचम्+अनृतां न वदेत) एक मुख के, दो नासिका के, दो आंख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी मिथ्या कारण से कभी न बोले ॥ ४८ ॥ (स० प्र० १२६)

अनुशीलन : ४७-४८ श्लोकों के भावों की पुष्टि और तुलना के लिए २ । १३६-१३७ [२ । १६१-१६२] श्लोक भी द्रष्टव्य हैं । मनु ने वहां यही विचार प्रकट किये हैं । ६ । ५८ में भी इस मान्यता का कारण स्पष्ट किया है ।

आध्यात्मिक आचरण में स्थित रहे—

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥ (३२)

(इह अध्यात्मरतिः+आसीनः) इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित (निरपेक्षः) सर्वथा अपेक्षारहित (निरामिषः) मांस, मद्य आदि का त्यागी (आत्मनः+एव सहायेन) आत्मा के सहाय से ही (सुखार्थी) सुखार्थी होकर (विचरेत्) विचरा करे और सबको सत्योपदेश करता रहे ॥ ४९ ॥ (सं० वि० १९९)

"अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षारहित, मद्य-मांसादि-वर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिए सदा विचरता रहे" (स० प्र० १२९)

मुण्डनपूर्वक गेरुवे वस्त्र धारण करके रहे—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥ (३३)

(क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः) केश, नख, दाढ़ी, मूंछ को छेदन करवावे (पात्री दण्डी कुसुम्भवान्) पात्र, दण्ड और कुसुम्भ आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके (नियतः) निश्चितात्मा (सर्वभूतानि+अपीडयन्) सब भूतों को पीड़ा न देकर (विचरेत्) सर्वत्र विचरे ॥ ५२ ॥ (स० प्र० १२६)

"सब शिर के बाल, दाढ़ी, मूंछ और नखों को समय-समय पर छेदन कराता रहे। पात्री, दण्डी और कुसुंभ के रंगे हुए❀ वस्त्रों को धारण किया करे। सब भूत=प्राणिमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे"। (सं० वि० १९९)

एक समय ही भिक्षा मांगे—

एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥ (३४)

संन्यासी (एककालं भैक्षं चरेत्) एक ही समय भिक्षा मांगे (विस्तरे न प्रसज्जेत) भिक्षा के अधिक विस्तार अर्थात् लालच में न पड़े (हि) क्योंकि (भैक्षे प्रसक्तः यतिः) भिक्षा के लालच में या स्वाद में मन लगाने वाला संन्यासी (विषयेषु+अपि सज्जति) विषयों में भी फंस जाता है ॥ ५५ ॥

भिक्षा न प्राप्त होने पर दुःख का अनुभव न करे—

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥ (३५)

(अलाभे विषादी न स्यात्) भिक्षा के न मिलने पर दुःखी न हो (च) और (लाभे न हर्षयेत्) मिलने पर प्रसन्नता अनुभव न करे (मात्रासंगात् विनिर्गतः) अधिक-कम, अच्छी-बुरी भिक्षा की मात्रा का मोह न करके अर्थात् जैसी भी भिक्षा मिल जाये उसे ग्रहण करके (प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्) केवल अपनी प्राणयात्रा को चलाने योग्य भिक्षा प्राप्त करता रहे ॥ ५७ ॥

प्रशंसा-लाभ आदि से बचे—

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥ ५८ ॥ (३६)

(तु) और (अभिपूजितलाभान्) बहुत अधिक आदर-सत्कार से मिलने वाली भिक्षा या अन्य सभी लाभों से (सर्वशः एव जुगुप्सेत) सर्वथा उपेक्षा बरते, क्योंकि (अभिपूजितलाभैः मुक्तः+अपि यतिः बद्ध्यते) बहुत अधिक आदर-सत्कार से प्राप्त होने वाली भिक्षा से अथवा लाभों से मुक्त संन्यासी भी विषयों के बन्धन में फंस जाता है ॥ ५८ ॥

❀ "अथवा गेरू से रंगे वस्त्रों को पहने"। (सं० वि० २०१ पर टिप्पणी)

इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाए—

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहः स्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥ (३७)

(विषयैःह्रियमाणानि इन्द्रियाणि) विषयों से खिंचने वाली इन्द्रियों को (अल्प+अन्न+अभ्यवहारेण) थोड़ा भोजन करके (च) और (रहः स्थान+आसनेन) एकान्त स्थान में निवास करके (निवर्तयेत्) वश में करे ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥ (३८)

(इन्द्रियाणां निरोधेन) इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक (रागद्वेष-क्षयेण) राग, द्वेष को छोड़ (च) और (भूतानाम् अहिंसया) सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर (अमृतत्वाय कल्पते) मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाया करे ॥ ६० ॥ (स० प्र० १२९)

"जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।" (सं० वि० १९९)

अनुशीलन : 'इन्द्रियनिरोध' में योग के प्रमाण—योगदर्शन के सूत्रों द्वारा इस श्लोक की व्याख्या को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। **"योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः"** [१ । २] अर्थात् योग से इन्द्रियों के विषयों का निरोध होता है और यह निरोध **"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः** [१ । १२] अभ्यास-वैराग्य से सिद्ध होता है। **"सुखानुशयी रागः"** **"दुःखानुशयी द्वेषः"** [२ । ७, ८] = सुख की तृष्णा राग है, दुःख-विषय में क्रोध भावना द्वेष है। इनके त्याग से और **"अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"** [२ । ३५], अहिंसा सिद्धि से निर्वैरता प्राप्त करके व्यक्ति मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाने में सफल होता है।

मनुष्य-जीवन की दुःखमय गति-स्थितियाँ और उनका चिन्तन—

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥ (३९)

(कर्मदोषसमुद्भवाः नृणां गतीः) कर्मों के दोष से होने वाली मनुष्यों की कष्टयुक्त बुरी गतियों (च) और (निरये पतनम्) कष्टों का भोगना (च) तथा (यमक्षये यातनाः) प्राणक्षय में मृत्यु के समय होने वाली पीड़ाओं को (अवेक्षेत) विचारे और विचारकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करे ॥ ६१ ॥

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।। ६२ ।। (४०)

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ।। ६३ ।। (४१)

(च) और (प्रियैः विप्रयोगम्) प्रियजनों से वियोग हो जाना (तथा अप्रियैः संयोगम्) तथा शत्रुओं से संपर्क होना और उससे फिर कष्टप्राप्ति होना (च) और (जरया अभिभवनम्) बुढ़ापे से आक्रान्त होना (च) तथा (व्याधिभिः उपपीडनम्) रोगों से पीड़ित होना (च) और (अस्मात् देहात्+उत्क्रमणम्) फिर इस शरीर से जीव का निकल जाना (गर्भे पुनः संभवम्) गर्भ में पुनः जन्म लेना (च) और इस प्रकार (अस्य+अन्तरात्मनः) इस जीव का (योनिकोटिसहस्रेषु सृतीः) सहस्रों प्रकार की अर्थात् अनेकविध योनियों में आवागमन होना—इनको विचारे और इनके कष्टों को देखकर मुक्ति में मन लगावे ।। ६२, ६३ ।।

अधर्म से दुःख और धर्म से सुख-प्राप्ति—

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ।। ६४ ।। (४२)

(शरीरिणां दुःखयोगं अधर्मप्रभवम् एव) यह निश्चित है कि प्राणियों को सभी प्रकार के दुःख अधर्म से ही मिलते हैं (च) और (अक्षयं सुखसंयोगं धर्मार्थप्रभवम् एव) अक्षयसुखों मोक्ष को अवधि तक रहने वाले सुखों की प्राप्ति केवल धर्म से ही होती है । इसको भी विचारे और तदनुसार धर्माचरण करे ।। ६४ ।।

अनुशीलन : अधर्म से दुःख की प्राप्ति कैसे होती है इसका वर्णन ४ । १७०-१७६ में द्रष्टव्य है ।

योग से परमात्मा का प्रत्यक्ष करे—

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ।। ६५ ।। (४३)

(च) और (योगेन परमात्मनः सूक्ष्मताम्) योगाभ्यास से परमात्मा की सूक्ष्मता को (च) तथा (उत्तमेषु च अधमेषु देहेषु समुत्पत्तिम्) उत्तम तथा अधम शरीरों में जन्मप्राप्ति के विषय में (अवेक्षेत) विचार किया करे ।।६५।।

अनुशीलन : योग की परिभाषा एवं योग से ईश्वर प्राप्ति— योग-दर्शन में योग की परिभाषा और उससे परमात्मा की प्राप्ति इस प्रकार बतलायी है—

(क) "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**" = चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है। [१। २]।

(ख) पुनः चित्तवृत्तियों के निरोध से समाधिसिद्धि होने पर "**तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्**" [१। ३] = तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है। इसमें वेद का प्रमाण भी उल्लेखनीय है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ ऋ० १। ४। २ ॥

अर्थ—"(युञ्जानः) योग करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिए (प्रथमं मनः) जब अपने मन को पहले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेः ज्योति०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही लक्षण है।"

(ऋ० भू० उपासना विषय)।

दूषित आदि प्रत्येक अवस्था में धर्म का पालन आवश्यक—

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥ (४४)

(दूषितः+अपि धर्मं चरेत्) **यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान भी करें तथापि धर्म ही का आचरण करे** (यत्र तत्र+आश्रमे रतः) ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है (सर्वेषु भूतेषु समः) सब प्राणियों में पक्षपात रहित होकर समबुद्धि रखे, इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिए संन्यासाश्रम का विधि है, किन्तु (लिङ्गं धर्मकारणं न) केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है ॥ ६६ ॥ (सं० वि० १९९)

"कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी जिस किसी आश्रम में वर्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु और कषायवस्त्र आदि चिह्नधारण धर्म का कारण नहीं है, सब मनुष्यादि प्राणियों के सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है" ॥

(स० प्र० १२९)

धर्माचरण के बिना बाहरी दिखावे से श्रेष्ठ फल नहीं—

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥ (४५)

(यद्यपि कतकवृक्षस्य फलम्) यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल (अम्बु-प्रसादकम्) पीसके गदले जल में डालने से जल का शोधक होता है, तदपि (तस्य नामग्रहणात्+एव) बिना डाले उसके नाम कथन वा श्रवणमात्र से (वारि न प्रसीदति) उसका जल शुद्ध नहीं हो सकता ॥ ६७ ॥

(स० प्र० १२६)

"यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करने वाला है तथापि उसके नामग्रहण मात्र से जल शुद्ध नहीं होता किन्तु उसको ले, पीस, जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है; वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता किन्तु अपने-अपने आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है, अन्यथा नहीं।" (सं० वि० १६६)

अनुशीलन : कतक वृक्ष के फल को हिन्दी में 'रीठा' कहते हैं।

प्राणायाम अवश्य करे—

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥ (४६)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् व्यक्ति या संन्यासी के द्वारा जो (विधिवत्) विधि के अनुसार (व्याहृति-प्रणवैः युक्ताः) प्रणव अर्थात् ओङ्कारपूर्वक और 'भूः, भुवः, स्वः' आदि सप्तव्याहृतियों के जप सहित [अनुशीलन में प्रदर्शित] (त्रयः+अपि) तीनों प्रकार के बाह्य, आभ्यन्तर, स्तम्भक, प्राणायाम अथवा न्यून से न्यून तीन प्राणायाम (कृताः) किये जाते हैं, (परमं तपः विज्ञेयम्) वह इसका परम=उत्तम तप होता है ॥ ७० ॥

"ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे। यही संन्यासी का परम तप है।"

(स० प्र० १२६)

अनुशीलन : (१) प्राणायाम की विधि योगदर्शन में विहित है। १। २७-२८ में ओंकारपूर्वक ईश्वर जप का भी विधान है। यहां वही विधि व्यासभाष्य पर आधारित ऋषि दयानन्द के भाष्यसहित प्रस्तुत की जाती है। इस विधि को अपना कर उपासक अशुद्धिक्षय, ईश्वर-सिद्धि और बलपराक्रम की वृद्धि करे—

प्राणायाम का लक्षण—

(क) **तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ २। ४६ ॥**

'जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको श्वास और जो भीतर से बाहर

जाता है उसको प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के जाने-आने के विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को प्राणायाम कहते हैं।"

(ख) **प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ १। ३४ ॥**

"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकालके सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोके। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप, अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारम्बार मग्न करना चाहिए" (ऋ० भू० उपासना विषय)

(२) **प्राणायाम के भेद**—प्राणायाम के भेदों का वर्णन करते हुए योगदर्शन में प्रमुखरूप से प्रणायाम के तीन भेद माने हैं—

(ग) **स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ २। ५० ॥**

(घ) **बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी चतुर्थः ॥ २। ५१ ॥**

वे मुख्य तीन भेद हैं बाह्य विषय = रेचक, आभ्यन्तर = पूरक और स्तम्भवृत्ति। ये देशकाल संख्यानुसार दीर्घ, सूक्ष्म होते हैं। चौथा गौण भेद 'बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी' है। इनकी विधि निम्न प्रकार है—

(१) **रेचक** = श्वास को भीतर से वमन के समान बाहर निकालना और उसे उसी स्थिति में रोकना = नियन्त्रण करना।

(२) **पूरक** = श्वास को बाहर से भीतर धारण करके उसी स्थिति में रोकना = नियन्त्रण करना।

(३) **स्तम्भक** = आते, जाते, जहां के तहां श्वास को रोकना या अन्दर रोके श्वास को बाहर निकलते समय पुनः पुनः रोकना, बाहर रोके श्वास को अन्दर आते समय पुनः पुनः रोकना आदि स्तम्भक प्राणायाम है।

जैसा कि योगसूत्र में ही कहा गया है **'बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी'** अर्थात् जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ-कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे, यह गौण भेद है। अतः इसकी पृथक् गणना है और बाह्याभ्यन्तर पर आधारित है। अतः ये तथा अन्य भेद उक्त प्रमुख तीनों में अन्तर्भूत हो जाने से उन्हीं के अवान्तर भेद हैं।

कोई कोई [illegible] रेचक और [illegible] पूरक के बीच रोकना [illegible] को नहीं मानते। यह विचार ठीक नहीं। इस प्रकार तो वे मात्र उच्छ्वास, निःश्वास, प्रश्वास

ही कहलायेंगे। प्राणायाम शब्द का अर्थ ही उनकी इस मान्यता को गलत सिद्ध कर देता है। आयाम का अर्थ है='प्रसार, विस्तार, फैलाव या नियन्त्रण' इस प्रकार प्राणायाम शब्द का अर्थ हुआ 'प्राण का विस्तार या नियन्त्रण' करना। प्राणायाम शब्द सभी भेदों के साथ संयुक्त है। अतः उनका अर्थ भी प्राणायाम शब्द के अर्थ को साथ जोड़कर करना चाहिए। जैसे=बाह्यप्राणायाम, आभ्यन्तरप्राणायाम, स्तम्भकप्राणायाम।

(३) प्राणायाम मन्त्र—

शास्त्रों में व्याहृतियों की गणना तीन और सात के रूप में मिलती है। ऋषि दयानन्द ने सात व्याहृतियों की गणना स्वीकार करके प्राणायाम की विधि प्रदर्शित की है, क्योंकि तीन व्याहृतियां उनके अन्तर्गत ही हो जाती हैं। उन्होंने व्याहृति और मन्त्र निम्न प्रकार दिये हैं—

"इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिए संन्यासी पुरुष विधिवत् योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगाके जैसा कि प्राणायाम का मन्त्र लिखा है, उसको मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है।" (सं० वि० १६६)

वह प्राणायाम मन्त्र इस प्रकार है—

"ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्।"

इस रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक इक्कीस प्राणायाम करे।"
(सं० वि० १५६)

प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषों का क्षय—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥ (४७)

(हि) क्योंकि (यथा ध्मायमानानां धातूनां मलाः दह्यन्ते) जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं (तथा प्राणस्य निग्रहात्) वैसे ही प्राणों के निग्रह से (इन्द्रियाणां दोषाः दह्यन्ते) मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत हो जाते हैं ॥ ७१ ॥ (स० प्र० १२६)

अनुशीलन : प्राणायाम से दोषों का निवारण—इसमें योगदर्शन का प्रमाण भी है—

(क) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २ । २८ ॥
प्राणायाम भी योग का एक प्रमुख अंग है।

"जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।" (स० प्र० तृ० समु०)

"इसी प्रकार बारबार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और

प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है।"
(ऋ० भू० उपासना विषय)

(ख) **ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्** ॥ २ । ५२ ॥

प्राणायाम सिद्धि और प्राणायाम पूर्वक उपासना के पश्चात् आत्मा के ज्ञान को ढांपने वाला इन्द्रियों का दोष—अज्ञानरूपी जो आवरण है, वह नष्ट हो जाता है। और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। महर्षि दयानन्द ने इस विषय में लिखा है—

"प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियां भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा।"
(स० प्र० तृ० समु०)

प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार से दोषों का क्षय—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥ (४८)

इसलिए संन्यासी लोग (प्राणायामैः दोषान्) प्राणायामों से दोषों को (धारणाभिः किल्बिषम्) धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को (प्रत्याहारेण संसर्गान्) प्रत्याहार से संग से हुए दोषों (च) और (ध्यानेन+अनीश्वरान् गुणान्) ध्यान से अविद्या, पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ाके पक्षपातरहित आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर (दहेत्) सब दोषों को भस्म करदेवे ॥ ७२ ॥ (सं० वि० २००)

"इसलिए संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से अनीश्वरता के गुणों अर्थात् हर्ष, शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें। (स० प्र० १३०)

अनुशीलन **: धारणा और प्रत्याहार-विवेचन में योग के प्रमाण**—श्लोक में उक्त बातों का सप्रमाण विवेचन योगदर्शन के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है—

१. प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषों का दहन किस प्रकार होता है, यह ६ । ७१ की समीक्षा में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है।

२. धारणाओं से अन्तःकरण के किल्बिष अर्थात् बुराई को दूर करे। "**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**" (योग ३ । १) = "धारणा उसको कहते हैं कि मन को चंचलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और ... ... ।" (ऋ० भू०

*उपासनाविषय) अथवा बुराइयों को, दोषों को समझकर उनको छोड़ने के लिए व्रतों को धारण करना भी धारणा है।

"किञ्च धारणासु च योग्यता मनसः।" (योग० २।५३)=धारणाओं से मन में ज्ञान की योग्यता और विवेक बढ़ता है। जिससे बुराइयों का त्याग होता है। ['किल्विषम्' के अर्थ पर विशेष अनुशीलन ८। ३१६ पर भी द्रष्टव्य है]।

३. प्रत्याहार के द्वारा संसर्गजन्य दोष को छोड़ें। "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" । योग० २।५४॥

"प्रत्याहार उसका नाम कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है।" (ऋ० भू० उपासनाविषय) परिणामस्वरूप इन्द्रियां अपने-अपने विषयों के संगों, अभिमान आदि दोषों से निवृत्त हो जाती हैं। प्रत्याहार से मन स्ववश में हो जाता है और इन्द्रियों पर दृढ़ वशीभूतता हो जाती है—

"ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्।", योग २।५५॥

"तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं।" (ऋ० भू० उपासना-विषय)

योगदर्शन के व्यासभाष्य मे भी अपरिग्रह को स्पष्ट करते हुए लिखा है—]

"विषयाणामर्जन-रक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसादोषदर्शनात् अस्वीकरणम् अपरिग्रहः।" (योग २।२०)=विषयों में अर्जनदोष, रक्षणदोष, क्षयदोष, संगदोष तथा हिंसादोष देखने से उनका जो अस्वीकार अर्थात् त्याग है, वह अपरिग्रह कहा जाता है।

४. ध्यान से अनीश्वर गुणों अर्थात् अविद्या, अज्ञान आदि का त्याग करके ईश्वरीय गुणों को धारण करना। "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (योग० ३।२)= "धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम-भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना। इसी का नाम ध्यान है।"

(ऋ० भू० उपासना विषय)

५. 'किल्विषनाश' के लिए द्रष्टव्य ११। २२७ पर अनुशीलन और शब्दार्थ के लिए ८। ३१६ का अनुशीलन।

ध्यान से पदार्थ-ज्ञान—

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः॥ ७३॥ (४९)

(उच्च+अवचेषु भूतेषु) बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में (अकृतात्मभिः दुर्ज्ञेयाम् अस्य+अन्तरात्मनः गतिम्) जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को (ध्यानयोगेन संपश्येत्) ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे ॥ ७३ ॥
(सं० वि० २००)

अनुशीलन : 'ध्यानयोग' के लिए ६ । ७२ पर अनुशीलन संख्या ४ द्रष्टव्य है ।

यथार्थ ज्ञान से कर्मबन्धन का विनाश—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥ (५०)

(सम्यक् दर्शनसंपन्नः) जो संन्यासी यथार्थज्ञान वा षड्दर्शनों से युक्त है (कर्मभिः न निबद्ध्यते) वह दुष्टकर्मों से बद्ध नहीं होता (तु) और (दर्शनेन विहीनः) जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्संग, धर्मानुष्ठान वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञानहीन होकर संन्यास लेता है वह संन्यास-पदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर (संसारं प्रतिपद्यते) जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥ (सं० वि० २००)

अनुशीलन : **दर्शन एवं ध्यानयोग विवेचन**—(१) उपर्युक्त ७२-७३ श्लोकों में उक्त यथार्थ ज्ञान से ध्यानयोग की सिद्धि होने पर परमात्मा के दर्शन होते हैं और वह—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ योग० ४ । ६ ॥

जो ध्यानयोग से सिद्ध चित्त है वह यथार्थ ज्ञान से अनाशयम्=कर्मवासना और क्लेशवासना से रहित होता है । कर्मों से बद्ध नहीं होता । उसके कर्म दग्धबीज के समान होने से फिर फलोन्मुख नहीं होते । वही फिर मोक्ष की स्थिति में पहुंचता है ।

(२) दर्शनों से यहां पुस्तकविशेष दर्शन-ग्रन्थों से अभिप्राय नहीं है, अपितु 'दर्शन विद्याओं' से अभिप्राय है । ईश्वर आदि तत्त्वों का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाली विद्या को 'दर्शनविद्या' कहा जाता है ।

अहिंसा आदि वैदिक कर्मों से परमात्मा पद की प्राप्ति—

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥ (५१)

(अहिंसया) सब भूतों से निर्वैर (इन्द्रिय+असंगैः) इन्द्रियों के विषयों

का त्याग (वैदिकैः कर्मभिः) वेदोक्त कर्म (च) और (उग्रैः तपश्चरणैः) अत्युग्र तपश्चरण से (इह) इस संसार में (तत्पदं साधयन्ति) मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य नहीं ॥ ७५ ॥
(स० प्र० १३०)

"और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बंधन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम, सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म इसी वर्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं, उनका संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है"। (स० प्र० २००)

निःस्पृहता से सुख एवं मोक्षप्राप्ति—

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥ (५२)

(यदा) जब संन्यासी (सर्वभावेषु भावेन निःस्पृहः भवति) सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है (तदा) तभी (इह च प्रेत्य शाश्वतं सुखम्+अवाप्नोति) इस लोक=इस जन्म और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर* सुख को प्राप्त होता है ॥ ८० ॥
(सं० वि० २००)

"जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निस्पृह, कांक्षारहित और सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है।" (स० प्र० १३०)

परमात्मा में अधिष्ठान—

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥ (५३)

(अनेन विधिना) इस विधि से (शनैः शनैः) धीरे-धीरे (सर्वान् संगान् त्यक्त्वा) सब संग से हुए दोषों को छोड़के (सर्व-द्वन्द्व-विनिर्मुक्तः) सब हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त होके (ब्रह्मणि+एव+अवतिष्ठते) विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ॥ ८१ ॥ (सं० वि० २००)

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥ (५४)

---

* "निरन्तर सुख का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता।" (सं० वि० २०२, टिप्पणी)

(यत्+एतत्+अभिशब्दितम्) यह जो कुछ पहले कहा गया है (एतत् सर्वम्+एव ध्यानिकम्) यह सब ही ध्यानयोग के द्वारा सिद्ध होने वाला है (अन्+अध्यात्मवित् कश्चित्) अध्यात्मज्ञान से रहित कोई भी व्यक्ति (क्रियाफलं न हि उपाश्नुते) उपयुक्त कर्मों के फल को नहीं पा सकता ॥८३॥

परमात्मा ही सुख का स्थान है—

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥ (५५)

(इदम् अज्ञानां शरणम्) यही अज्ञानियों का शरण अर्थात् गौण-संन्यासियों और (इदम्+एव विजानताम्) यही विद्वान् संन्यासियों का (इदं स्वर्गम् इच्छताम्) यही सुख की खोज करने हारे, और (इदम्+आनन्त्यम्-+इच्छताम्) यही अनन्त[1] सुख की इच्छा करने हारे मनुष्यों का आश्रय है" ॥ ८४ ॥ (सं० वि० २००)*

"जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे, वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास और ओंकार का जप और उसके अर्थ परमेश्वर का विचार भी किया करे।" (सं० वि० २००)

अनुशीलन : मोक्षसुख का आश्रय परमात्मा—(१) परमेश्वर मोक्ष सुख और अन्य सुख का आश्रय है, इसका विधायक एक वेदमन्त्र तुलनार्थ द्रष्टव्य है—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ ऋ० १।४।३ ॥

अर्थ—"(वयम्) हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख के लिए (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासना योग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों।" (ऋ० भू० उपा० विषय)

(२) इसकी संगति वेद से नहीं अपितु परमात्मा से है। परमात्मा ही मोक्षसुख आदि के लिए शरण हो सकता है। टीकाकारों ने इसका जो वेदपरक अर्थ किया है वह

---

१. "अनन्त इतना ही है कि मुक्ति-सुख के समय में अन्त अर्थात् जिसका नाश न होवे।" (सं० वि० २०२, टिप्पणी)

* [प्रचलित अर्थ—वेदार्थ को नहीं जानने वालों के लिए यही वेद शरण (गति) है, (क्योंकि अर्थज्ञान के बिना भी वेदपाठ करने से पापक्षय होता है) और वेदार्थ जानने वालों के लिए स्वर्ग (तथा मोक्ष) चाहने वालों के लिए भी यही वेद शरण (गति) है ॥ ८४ ॥]

गानुकूल नहीं है। यहां प्रसंग परमात्मा की प्राप्ति का है।

संहार—

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥ (५६)

(अनेन क्रमयोगेन) इस क्रमानुसार संन्यास-योग से (यः द्विजः परि-ति) जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, संन्यास ग्रहण करता है (सः) वह इस संसार और शरीर में (पाप्मानं विधूय) सब पापों को छोड़-ड़ाके (परं ब्रह्म+अधिगच्छति) परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥
(सं० वि० २००)

श्रम-धर्मों की समाप्ति पर उपसंहार—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥ (५७)

(ब्रह्मचारी गृहस्थः वानप्रस्थः तथा यतिः) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ ा संन्यास (एते चत्वारः पृथक् आश्रमाः) ये चारों अलग-अलग आश्रम हस्थप्रभवाः) गृहस्थाश्रम से ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ८७ ॥

श्रमधर्मों के पालन से मोक्ष की ओर प्रगति—

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥ (५८)

(एते सर्वे+अपि क्रमशः यथाशास्त्रं निषेविताः) ये सब क्रमानुसार स्त्रोक्त विधानों के अनुसार पालन करने पर (यथा+उक्तकारिणं विप्रम्) ्यों का यथोक्त विधि से पालन करने वाले द्विज को (परमां गतिं न्ति) उत्तम गति को प्राप्त कराते हैं ॥ ८८ ॥

स्थ की श्रेष्ठता—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ ८९ ॥ (५९)

(वेद-स्मृतिविधानतः) वेदों और स्मृतियों में कहे अनुसार (एषां षाम्+अपि) इन सब आश्रमों में (गृहस्थः श्रेष्ठः उच्यते) गृहस्थ सबसे त्त्वपूर्ण होने से श्रेष्ठ है (हि) क्योंकि (सः) वह (एतान् त्रीन् बिभर्ति) तीनों का ही भरण-पोषण करता है अर्थात् उत्पत्ति और जीवनयापन दृष्टि से ये तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं ॥ ८९ ॥

करता है, इसका कारणपूर्वक वर्णन ३। ७८, ८९ में वर्णित है। ३। ७७ में इ
आधार बताया है।

गृहस्थ समुद्रवत् है—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ ९०॥ (

(यथा सर्वे नदी-नदाः सागरे संस्थितिं यान्ति) जैसे सब बड़े-बड़े और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं (तथैव) वैसे ही (सर्वे आश्रमिण सब आश्रमी (गृहस्थे संस्थितिं यान्ति) गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थि होते हैं॥ ९०॥ (सं० वि० १५०)

"जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब त समुद्र को प्राप्त नहीं होते। वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थि रहते हैं। बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध न होता।" (स० प्र० १२२)

अनुशीलन : तुलना के लिए देखिए ३। ७७ वां श्लोक।

चतुर्भिरपि चैवतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥ ९१॥ (९१)

(एतैः चतुर्भिः आश्रमिभिः द्विजैः) इसलिए ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वा प्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि (प्रयत्नतः) प्रयत्न से (दशलक्षण धर्मः सेवितव्यः) दश लक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन नि करें॥ ९१॥ (स० प्र० १३०)

धर्म के दश लक्षण—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ९२॥ (९

पहिला लक्षण–(धृति) सदा धैर्य रखना, दूसरा–(क्षमा) जो कि निन्दा-स्तुति मान-अपमान, हानि-लाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना तीसरा–(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना अर्था अधर्म करने की इच्छा भी न उठे, चौथा–(अस्तेय) चोरी त्याग अर्था बिना आज्ञा वा छल-कपट, विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरु उपदेश से पर-पदार्थ का ग्रहण करना चोरी, और इसको छोड़ देना साहू कारी कहाती है, पांचवां—(शौच) राग-द्वेष पक्षपात छोड़के भीतर औ जल, मृत्तिका, मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी, छठा—(इन्द्रिय निग्रह) अधर्माचरणों से रोकके इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना

सातवां—(धीः) मादक द्रव्य बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य, प्रमाद आदि को छोड़के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास से बुद्धि बढ़ाना; आठवां—(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त यथार्थ ज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना; सत्य जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्तना इससे विपरीत अविद्या है, नववां—(सत्य) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना, वैसा ही करना भी; तथा दशवां—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़के शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करना (धर्मलक्षणम्) धर्म का लक्षण है ॥ ९२ ॥ (स॰ प्र॰ १३१)

अनुशीलन : धर्म के लक्षणों की विशेष व्याख्या—संस्कार विधि में भी महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक को उद्धृत करके इसका भाष्य किया है। वहां उन्होंने 'अहिंसा' को भी धर्म का लक्षण मानकर धर्म के ग्यारह लक्षण माने हैं। यहां वे उद्धृत किये जाते हैं—

"धर्म न्याय नाम, पक्षपात छोड़कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना, इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं—(अहिंसा) किसी से वैर बुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्तना, (धृतिः) सुख-दुःख, हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म में ही स्थिर रहना, (क्षमा) निन्दा स्तुति मानापमान का सहन करके धर्म ही करना (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म में ही प्रवृत्त रखना, (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना (शौचम्) रागद्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना, (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटाके धर्म ही में चलाना, (धीः) वेदादि सत्यविद्या, ब्रह्मचर्य, सत्संग करने और कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना (विद्या) जिससे भूमि से लेके परमेश्वर पर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना, (सत्यम्) सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना, (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है. इसका ग्रहण और अन्याय पक्षपात सहित आचरण अधर्म जो कि हिंसा, वैरबुद्धि, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीतकर अधर्म में चलाना, कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है उसमें फंसना, असत्य मानना, असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंसकर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सदा दूर रहना चाहिए ॥" (सं॰ वि॰ गृहाश्रम प्र॰)

दश लक्षणात्मक धर्मपालन से उत्तम गति—

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥ (९३)

(धर्मस्य दशलक्षणानि) धर्म के दश लक्षणों का (ये विप्राः) जो द्विज (सम्+अधीयते) अध्ययन-मनन करते हैं (च) और (अधीत्य) पढ़कर-मनन करके (अनुवर्तन्ते) इनका पालन करते हैं (ते) वे (परमां गतिं यान्ति) उत्तम गति को प्राप्त करते हैं ॥ ९३ ॥

आश्रमधर्मों एवं ब्राह्मण धर्मों का उपसंहार—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥ (९४)

मनु जी महाराज कहते हैं कि हे ऋषियो ! (एषः चतुर्विधः ब्राह्मणस्य धर्मः) यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है (पुण्यः प्रेत्य अक्षयफलः) यहां वर्तमान में पुण्य-स्वरूप और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यासधर्म है ❀ (राज्ञां धर्मं निबोधत) इसके आगे राजाओं का धर्म मुझसे सुनो—॥ ९७ ॥ (स० प्र० १३२)

❀ (अभिहितः) वह कह दिया है·······

अनुशीलन : ब्राह्मण शब्द का उपलक्षणात्मक प्रयोग—इस श्लोक में ब्राह्मण शब्द का 'ब्राह्मण' अर्थ के साथ-साथ उपलक्षण रूप में प्रयोग है। १।१४४ [२।२५] श्लोक से वर्णाश्रम धर्मों का प्रारम्भ किया है। तदनुसार यहां तक ब्राह्मण वर्ण के सम्पूर्ण धर्म=धार्मिक तथा लौकिक कर्त्तव्य पूर्ण हो गये हैं और साथ-साथ द्विजों के चारों आश्रमों (द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय से पंचम में गृहस्थ और षष्ठ में वानप्रस्थ और संन्यास) के धर्म भी [६।९१] पूर्ण हो गये हैं। इस प्रकार ब्राह्मण शब्द से क्षत्रिय और वैश्य भी ग्रहण होते हैं।

ब्राह्मण शब्द ग्रहण करने का एक विशेष अभिप्राय यह भी है कि सभी द्विज संन्यासाश्रम में आकर संन्यास के धर्मों को धारण करके ब्रह्मत्व प्राप्त करते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति का एक ही उद्देश्य होने से उनके कर्त्तव्यों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अतः ब्राह्मण शब्द से ही उनका ग्रहण किया है। इन अध्यायों में विभिन्न स्थानों पर द्विज, विप्र शब्दों को ब्राह्मण के पर्यायवाची रूप में भी ग्रहण किया है, यथा २।१५, ६।९१, ९३, ९७ के भाव और शब्दों में प्रयोग है।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दी-भाष्यसमन्वितायाम् अनुशीलन-समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ वानप्रस्थसंन्यास-धर्मविषयकः षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(राजधर्म विषय)

[७ । १ से ९ । ९९ तक]

राजा की उत्पत्ति एवं सिद्धि (७ । १ से ७ । २३ तक)—

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥ (१)

अब मनु जी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि चारों वर्ण और चारों आश्रमों के व्यवहार कथन के पश्चात् (राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि) राजधर्मों को कहेंगे कि (यथावृत्तः नृपः भवेत्) जिस प्रकार का राजा होना चाहिए [७ । ३९ - ९ । ३२५] (च) और (तस्य यथा संभवः) जैसे उसका संभव=बनना (च) तथा (यथा परमा सिद्धिः) जैसे उसको परमसिद्धि प्राप्त होवे [७ । १—३५] उसको सब प्रकार कहते हैं ॥ १ ॥ (स० प्र० १३८)

राजा बनने का अधिकारी कौन ?

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥ (२)

(ब्राह्मं संस्कारं प्राप्तेन क्षत्रियेण) जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है वैसा विद्वान्❀ सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि (अस्य सर्वस्य) इस सब राज्य की (परिरक्षणम्) रक्षा (यथान्यायं कर्तव्यम्) न्याय से यथावत् करे ॥ २ ॥ (स० प्र० १३८)

❀ (यथाविधि) पूर्ण विधि के अनुसार अर्थात् उपनयन में दीक्षित होकर समावर्तनकाल तक ब्रह्मचर्य पालन करते हुए............

राजा बनने की आवश्यकता—

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥ (३)

(हि) क्योंकि (अराजके अस्मिन् लोके) राजा के बिना इस जगत् में (सर्वतः भयात् विद्रुते) सब ओर भय के कारण व्याकुलता फैल जाने पर (अस्य सर्वस्य रक्षार्थम्) इस सब समाज और राज्य की सुरक्षा के लिए (प्रभुः राजानम्+असृजत्) प्रभु ने 'राजा' पद को बनाया है अर्थात् राजा बनाने की प्रेरणा मानवों के मस्तिष्क में दी है ॥ ३ ॥

राजा के आठ विशिष्ट गुण—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥ (४)

यह सभेश राजा (इन्द्र) इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता (अनिल) वायु के समान सबको प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने हारा (यम) यम-पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्त्तने वाला (अर्काणाम्) सूर्य के समान न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक, अंधकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक (अग्नेः) अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने हारा (वरुणस्य) वरुण अर्थात् बांधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला (चन्द्र-वित्तेशयोः) चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करने वाला सभापति होवे ❀ ॥ ४ ॥ (स० प्र० १४०)

❀ (शाश्वतीः मात्रा निर्हृत्य च) इनकी स्वाभाविक मात्राओं=गुणों के अंशों का सार लेकर ईश्वर ने 'राजा' के व्यक्तित्व का निर्माण किया है। ('च' से पूर्वश्लोक के 'राजानम् असृजत्' क्रिया को अनुवृत्ति है)।

अनुशीलन : राजा के आठ विशिष्ट गुणों की व्याख्या—

(क) महर्षि मनु ने इस श्लोक में कहा है कि राजा को आठ विशिष्ट गुणों से युक्त होना चाहिए। जैसे निम्न आठ ईश्वरीय दिव्यशक्तियों का कार्य या स्वभाव है, वैसा ही राजा का स्वभाव और आचरण होना चाहिए। मनु ने ९। ३०३ से ३११ श्लोकों में स्वयं इन गुणों की व्याख्या की है, जो निम्न प्रकार है—

(१) **इन्द्र** [=वृष्टिकारक शक्ति] जैसे भरपूर जल बरसाकर जगत् को तृप्त करता है, वैसे राजा अपनी प्रजाओं को सुख-सुविधाएं, ऐश्वर्य प्रदान करे। उनकी कामनाओं को पूर्ण कर संतुष्ट रखे [९। ३०४]। 'इदि-परमैश्वर्ये' भ्वादि धातु से '**ऋजेन्द्राग्नवज्र**' (उणादि २।२८) सूत्र से 'रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। '**इन्दते वा ऐश्वर्यकर्मणः**" (निरुक्त १०।८]=ऐश्वर्यप्रदाता होने से इन्द्र कहलाता है।... में इसके ... 'महेन्द्र' का प्रयोग है।

(२) **वायु**—जैसे सब प्राणियों, स्थानों में प्रविष्ट होकर विचरण करता है, उसी प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रविष्ट होकर सब स्थानों की, अपनी तथा शत्रु की प्रजाओं की बातों की जानकारी रखनी चाहिए [९।३०६]। [वायुः=वा गतिगन्धनयोः अदादि धातु '**कृवापाजि०**' (उणादि १।१) सूत्र से 'उः' 'प्रत्यय। '**वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः**' [निरु० १०।१]]। ९।३०६ में 'मारुत' का प्रयोग है।

(३) **यम** [= ईश्वर की मारक या नियन्त्रक शक्ति] जैसे कर्मफल का समय आने पर प्रिय और शत्रु सबको धर्मपूर्वक अर्थात् न्यायानुसार दण्डित करता है या मारता है, उसी प्रकार राजा को भी अपराध करने पर प्रिय, शत्रु सभी प्रजाओं को न्यायपूर्वक दण्ड देना चाहिए और उनको अपने नियन्त्रण में रखना चाहिए [९।३०७]। ७।७ में मनु ने यम का 'धर्मराट्' पर्यायवाची ग्रहण किया है। धर्म अर्थात् न्यायपूर्वक शासन करने वाला 'धर्मराट्' होता है। ['यमु उपरमे' भ्वादि धातु से कर्त्तरि पचाद्यच्। "**यमः यच्छतीति सतः**" (निरु० १०।१९)]।

(४) **अर्क**=सूर्य जैसे अपनी किरणों द्वारा बिना संतप्त किये जलग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजा को कष्ट और हानि पहुंचाये बिना [७।१२८-१२९] कर ग्रहण करे [९।३०५]। ['अर्च-पूजायाम्' भ्वादि धातु से '**कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः**' (उणादि ३।४०) सूत्र से 'कः' प्रत्यय]। ९।३०५ में पर्यायवाची रूप में 'आदित्य' का प्रयोग है।

(५) **अग्नि**—जैसे अग्नि अशुद्धि का नाश करके शुद्धि करने वाली होती है और तेजयुक्त होती है, उसी प्रकार राजा अपराध, हानि एवं दुष्टता करने तथा प्रजा को पीड़ित करने वालों को प्रभावशाली ढंग से संतापित करने वाला एवं दण्ड से सुधारने वाला होवे [९।३१०]। [अगि-गतौ' धातु से "**अङ्गेर्नलोपश्च**' (उणादि ४।५०) सूत्र से 'निः' प्रत्यय, नि लोप।]

(६) **वरुण**=जल जैसे अपने तरंग या भंवररूपी पाश में प्राणियों को फंसा लेता है, उसी प्रकार राजा अपराधियों और शत्रुओं को बन्धन या कारागार में डाले [९।३०८]। ['वृञ्-वरणे' स्वादि धातु से **कृवृदारिभ्य उनन्**' (उणादि ३।५३) सूत्र से 'उनन्' प्रत्यय]।

(७) **चन्द्र**—जैसे चन्द्र शीतलता प्रदान करता और पूर्णिमा के चांद को देखकर जैसे हृदय में प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार राजा प्रजाओं को शान्ति तथा प्रसन्नता प्रदान करने वाला होवे। उसे राजा के रूप में पाकर प्रजा को हर्ष का अनुभव हो [९।३०९]। [चदि-आह्लादने दीप्तौ च' भ्वादिधातु से '**स्फायितञ्चिवञ्चि०**' (उणादि २।१३) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय।] ७।७ में 'सोम' पर्यायवाची है।

(८) वित्तेश अर्थात् धनाढ्य। ७।७ में कुबेर और ९।३११ में [illegible]

वाची के रूप में 'धरा' 'पृथ्वी' शब्दों का ग्रहण है। जैसे धरती या धनस्वामी परमेश्वर समान भाव से सब प्राणियों का पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार राजा पक्षपातरहित होकर समानभाव से प्रजाओं का पुत्रवत् पालन करे [९। ३११]

(ख) वेद में राजा के आठ गुणों का वर्णन—

मनु के इस विधान का आधार वेद है। राजा के ये गुण भी वेदमन्त्रों के आधार पर ही वर्णित किये हैं। द्रष्टव्य है एक मंत्र—

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि ।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशां अभक्षयन् ॥
(ऋ० १०। १६७। ३)

अर्थ—(राज्ञः सोमस्य वरुणस्यधर्मणि) राजा=अग्नि, सोम=चन्द्रमा, और वरुणस्य=जल के धर्म में (उ) तथा (बृहस्पतेः अनुमत्या शर्मणि) बृहस्पति=सूर्य, अनुमत्या=लक्ष्मी अर्थात् वित्तेश या धरा के आश्रय में (मघवन्! धात! विधात!) और हे इन्द्र! हे वायु! हे यम! (अहम् अद्य तव उपस्तुतौ) मैंने तुम्हारी उपस्तुति= सान्निध्य में रहकर, तुम्हारे गुणों का धारण करके (सोमकलशान् अभक्ष्यम्) ऐश्वर्य कलशों अर्थात् राज्यैश्वर्यों का सेवन किया है। अभिप्राय यह है कि इन गुणों के अंशों को धारण करके तदनुसार आचरण से राज्यसंचालन में सफलता प्राप्त की है।

राजा दिव्यगुणों के कारण प्रभावशाली—

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥ (५)

(यस्मात्) क्योंकि (एषां सुरेन्द्राणाम्) इन [७।४] शक्तिशाली इन्द्र आदि दिव्यशक्तियों के (मात्राभ्यः) सारभूत गुणरूपी अंश से (नृपः निर्मितः) 'राजा' पद को बनाया है (तस्मात्) इसीलिए (एषः) यह राजा (तेजसा) अपने तेज=शक्ति-प्रभाव से (सर्वभूतानि अभिभवति) सब प्राणियों को वशीभूत एवं पराजित रखता है ॥ ५ ॥

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥ (६)

(एषः) जो (आदित्यवत्) सूर्यवत् प्रतापी (मनांसि) सबके बाहर और भीतर मनों को❀ (तपति) अपने तेज से तपाने हारा है (एनं भुवि) जिसको पृथिवी में (अभिवीक्षितुम्) कड़ी दृष्टि से देखने को (कश्चित्+अपि न शक्नोति) कोई भी समर्थ नहीं होता ॥ ६ ॥ (स० प्र० १४१)

❀(च चक्षूंषि) और देखने वालों की आंखों को.........

अनुशीलन : राजा में तेजस्विता, प्रभावशालिता आदि गुण होने चाहिएं। इन गुणों से युक्त होकर राजा सफल एवं प्रजाओं पर प्रभावी रहता है।

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥ (७)

(सः) वह राजा (प्रभावतः) अपने प्रभाव=सामर्थ्य के कारण (अग्निः) अग्नि के समान दुष्टों=अपराधियों का विनाश करने वाला (च) और (वायुः) वायु के समान गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र गतिशील होकर प्रत्येक स्थिति की जानकारी रखने वाला (अर्कः) सूर्य द्वारा किरणों से जलग्रहण करने के समान कष्टरहित कर=टैक्स ग्रहण करने वाला (सोमः) चन्द्रमा के समान शान्ति—प्रसन्नता देने वाला (धर्मराट्) न्यायानुसार दण्ड देने वाला (कुबेरः) ऐश्वर्यप्रद परमेश्वर के समान समभाव से प्रजा का पालन करने वाला (वरुण.) जलीय तरंगों या भंवरों के समान अपराधियों और शत्रुओं को बन्धनों या कारागार में डालने वाला और (सः) वही (महेन्द्रः) वर्षाकारक शक्ति इन्द्र के समान सुख-सुविधा का वर्षक=प्रदाता (भवति) है ॥ ७ ॥

"और जो अपने से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्म, प्रकाशक, धन-वर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्य वाला हो वही सभाध्यक्ष सभेश होने योग्य होवे।" (स० प्र० १४१)

अनुशीलन : इन शब्दों की व्याख्या मनु ने स्वयं की है। देखिए ७। ४ की समीक्षा तथा ६। ३०३—३११ श्लोक ॥

राजा की अवमानना न करें—

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥ (८)

(तस्मात्) इसलिए (सः नराधिपः) वह राजा (यं धर्मम्) जिस धर्म अर्थात् कानून का (इष्टेषु व्यवस्येत्) पालनीय विषयों में निर्धारण करे (च) और (अनिष्टेषु अपि अनिष्टम्) अपालनीय विषयों में जिसका निषेध करे (तं धर्मं न विचालयेत्) उस धर्म अर्थात् कानून का उल्लंघन न करे ॥ १३ ॥

दण्ड की सृष्टि और उपयोग विधि—

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥ (९)

(तस्य+अर्थे) उस राजा के लिए (पूर्वम्) सृष्टि के प्रारम्भ में ही (ईश्वरः) ईश्वर ने (सर्वभूतानां गोप्तारम्) सब प्राणियों की सुरक्षा करने वाले (ब्रह्मतेजोमयम्) ब्रह्मतेजोमय अर्थात् शिक्षाप्रद और अपराधनाशक गुण वाले (धर्मम्+आत्मजम्) धर्मस्वरूपात्मक (दण्डम्+असृजत्) दण्ड [=सजा] को रचा अर्थात् दण्ड देने की व्यवस्था का विधान किया ॥ १४ ॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥१६॥ (१०)

(देशकालौ शक्तिं च विद्याम्) देश, समय, शक्ति और विद्या अर्थात् अपराध के अनुसार उचित दण्ड का ज्ञान, इन बातों को (तत्त्वतः अवेक्ष्य) ठीक-ठीक विचार कर (अन्यायवर्तिषु) अन्याय का आचरण करने वाले (नरेषु) लोगों में (तम्) उस दण्ड को (यथार्हतः संप्रणयेत्) यथायोग्य रूप में प्रयुक्त करे ॥ १६ ॥

दण्ड का महत्त्व—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥ (११)

(सः दण्डः पुरुषः राजा) जो दण्ड है वही पुरुष, राजा (सः नेता) वही न्याय का प्रचारकर्त्ता (च) और (शासिता) सब का शासनकर्त्ता (सः) वही (चतुर्णाम्+आश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः) चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन् [=जिम्मेदार] है ॥ १७ ॥ (स० प्र० १४१)

***दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।**
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥ (१२)

वास्तव में (दण्डः सर्वाः प्रजाः शास्ति) दण्ड=दण्डविधान ही सब प्रजाओं पर शासन रखता है, (दण्डः+एव) दण्ड ही (अभिरक्षति) प्रजाओं की सब ओर से [दुष्टों आदि से] रक्षा करता है (सुप्तेषु) सोती हुई प्रजाओं में (दण्डः जागर्ति) दण्ड ही जागता रहता है अर्थात् प्रमाद और एकान्त में होने वाले अपराधों के समय दण्ड का ध्यान ही उन्हें भयभीत करके उनसे रोकता है, दण्ड का भय एक ऐसा भय है जो सोते हुए भी बना रहता है, इसी लिए (बुधाः) बुद्धिमान् लोग (दण्डं धर्मं विदुः) दण्ड= दण्डविधान को राजा का प्रमुख धर्म मानते हैं ॥ १८ ॥

*"वही दण्ड प्रजा का शासनकर्त्ता, सब प्रजा का रक्षक है । सोते हुए

प्रजास्थ जनों में जागता है, इसीलिए बुद्धिमान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं।" (स० प्र० १४१)

"और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं, वैसा सब लोग जानें। क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखने वाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक, और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है। चोरादि दुष्ट भी दंड ही के भय से पाप कर्म नहीं कर सकते" ॥

(सं० वि० १५२)

न्यायानुसार दण्ड ही हितकारी—

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥ (१३)

(सम्यक् समीक्ष्य धृतः) जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाये तो (सः) वह (सर्वाः प्रजाः रञ्जयति) सब प्रजा को आनन्दित कर देता (असमीक्ष्य प्रणीतः तु) और जो बिना विचारे चलाया जाये तो (सर्वतः विनाशयति) सब ओर से राजा का विनाश कर देता है ॥ १९ ॥

(स० प्र० १४१)

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥ (१४)

(सर्ववर्णाः दुष्येयुः) बिना दण्ड के सब वर्ण दूषित (च) और (सर्वसेतवः भिद्येरन्) सब मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जायें (दण्डस्य विभ्रमात्) दण्ड के यथावत् न होने से (सर्वलोकप्रकोपः भवेत्) सब लोगों का प्रकोप [=आक्रोश] हो जावे ॥ २४ ॥ (स० प्र० १४१)

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥ (१५)

(यत्र) जहां (श्यामः लोहिताक्षः पापहा) कृष्णवर्ण, रक्तनेत्र भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करने हारा (दण्डः चरति) दण्ड विचरता है (तत्र प्रजाः न मुह्यन्ति) वहां प्रजा मोह को प्राप्त न हो के आनन्दित होती हैं (नेता साधु पश्यति चेत्) परन्तु जो दण्ड का चलाने वाला पक्षपातरहित विद्वान् हो तो ॥ २५ ॥ (स० प्र० १४१)

अनुशीलन : दण्ड का आलंकारिक चित्र—दण्ड का इस श्लोक में आलंकारिक वर्णन के आधार पर रेखाचित्र प्रस्तुत किया गया है। जैसे कोई काले रंग का और क्रोधयुक्त लाल आंखों वाला व्यक्ति भयकारी प्रतीत होता है, उसी प्रकार दण्ड

भी भयकारक है, और अपराधियों-पापियों को क्रोधाग्नि में जला देने वाला होता है। उसके भयंकर रूप का ध्यान करके ही प्रजाएं अपने कर्त्तव्योंमें प्रमाद नहीं करतीं। किन्तु वह तब है जब राजा पक्षपातरहित होकर अपराधियों को न्यायानुसार और अवश्य दण्डित करे।

दण्ड देने का अधिकारी राजा कौन—

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥ (१६)

(तस्य संप्रणेतारं राजानम् आहुः) उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलाने हारे उस राजा को कहते हैं कि (सत्यवादिनं समीक्ष्यकारिणम्) जो सत्य-वादी, विचार ही करके कार्य का कर्त्ता (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् विद्वान् (धर्म-काम-अर्थ-कोविदम्) धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जानने हारा हो ॥२६॥ (सं० वि० १५२)

"जो उस दण्ड का चलाने वाला सत्यवादी, विचार के करने हारा, बुद्धिमान्, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने में पण्डित राजा है, उसी को उस दण्ड का चलाने हारा विद्वान् लोग कहते हैं"। (स० प्र० १४२)

अनुशीलन : धर्म, अर्थ और काम का स्वरूप—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का शास्त्रों में बहुशः वर्णन आता है। यहां इन्हें कुछ विस्तार से स्पष्ट करना लाभप्रद रहेगा। इन्हें 'पुरुषार्थचतुष्टय' के नाम से भी जाना जाता है। धर्म-अर्थ-काम के वर्ग को 'त्रिवर्ग' कहते हैं।

(१) **धर्म का स्वरूप—'धारणात् धर्मः' 'ध्रियते अनेन लोकः इति'** व्युत्पत्तियों के अनुसार प्रत्येक धारण किया जाने वाले सदाचरण, श्रेष्ठ विधान या समाज-व्यवस्था को धर्म कहा जाता है। मनुस्मृतिकार मुख्यरूप से **"यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"** (वैशे० १।१।२) अर्थात् जिसके आचरण करने से उत्तम सुख, आत्मिक-मानसिक-शारीरिक त्रिविध उन्नति और मोक्षसुख की प्राप्ति हो, उसको धर्म मानते हैं। विभिन्न श्लोकों में मनु ने इन मान्यताओं को स्पष्ट किया है [४।२३८, २३९, १५६, २४२, १७५, २२७ ॥६।९२॥ २।९ (१।१२८)] आदि। इस सम्बन्धी विस्तृत विवेचन १।२ की समीक्षा में देखिए।

(२) **काम**—कामनाओं की पूर्ति, कामविकारों की शान्ति।

(३) **अर्थ**—धन और सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति।

(४) **मोक्ष**—जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाकर मुक्ति की स्थिति में रहना।

धर्म प्रत्येक स्थिति में स्वीकार्य और पालनीय होता है और मोक्षप्राप्ति भी सबका

परम उद्देश्य है किन्तु काम और अर्थ के विषय में छूट नहीं है, अपितु मनु ने उन्हें सीमित और विहितरूप में ही ग्राह्य माना है। वे ही अर्थ और काम ग्राह्य हैं जो धर्मानुकूल हैं, अन्य त्याज्य हैं—

(क) "परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ"। ४। १७६॥

=धर्म से रहित अर्थ और काम असेवनीय हैं।

(ख) "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।" [१। १३२ (२। १३)]

=अर्थ और काम में आसक्ति न रखने वाले व्यक्ति को ही धर्म का ज्ञान एवं सिद्धि प्राप्त होती है।

(ग) अर्थसिद्धि के नियम—

नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥ ४। १५॥

(घ) कामसिद्धि की सीमाएं—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत्॥ ४। १६॥

धर्मानुकूल काम और अर्थ कौनसे हैं, इसकी मनु ने विभिन्न स्थानों पर चर्चा भी की है। अन्यत्र भी इस प्रकार की सीमाएं विहित हैं—

(ङ) काम-संतुष्टि के विषय में मनु ने प्रत्येक मनुष्य और राजा को जितेन्द्रिय रहते हुए कामसेवन का विधान किया है [७। ४४]। ऋतुकालाभिगामी होने का निर्देश है। ऐसे नियम का पालन करने वाला ब्रह्मचारी ही होता है [३। ४५, ५०]। अति-कामासक्ति का निषेध है, क्योंकि वह हानिकारक है [७। २७, ४८]। एक सीमा में ही कामसिद्धि होनी चाहिए।

(च) इसी प्रकार धन-ऐश्वर्य की प्राप्ति भी धर्मपूर्वक ही रखनी चाहिए। इस विषय में लालची न होने का निर्देश है [७। ४९], क्योंकि अर्थलालची व्यक्ति के धर्म आदि सब समूल नष्ट हो जाते हैं। अर्थ-शुचिता को मनु ने जीवन में आवश्यक माना है [५। १०६]। इसीलिए अर्थप्राप्ति के लिए साधारण व्यक्तियों की भी सीमा बांधी है, और कहा है कि वह संतोषपूर्वक दूसरे प्राणियों को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचाते हुए अर्थप्राप्ति करें [४। २, ३, ११, १२]। राजाओं के लिए भी अर्थसंग्रह के लिए समुचित निर्देश ७। १२७-१२९, १३९; ८। ३०५ में दिये हैं।

इन धर्मादि की सिद्धि के आवश्यक नियमों-विधानों के ज्ञाता को और तदनुसार आचरण करने वाले को 'धर्मकामार्थकोविद' कहा जाता है। इनकी प्राप्ति करना मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है, और इनकी सिद्धि होना मनुष्य जीवन की सफलता और सुख का प्रतीक माना जाता है।

अन्यायपूर्वक दण्डप्रयोग राजा का विनाशक—

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥ (१७)

(तं सम्यक् राजा प्रणयन्) जो दण्ड को अच्छे प्रकार राजा चलाता है (त्रिवर्गेण+अभिवर्द्धते) वह धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को बढ़ाता है और जो (कामात्मा) विषय में लंपट (विषमः) टेढ़ा, ईर्ष्या करने हारा (क्षुद्रः) क्षुद्र नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है (दण्डेन+एव निहन्यते) वह दण्ड से ही मारा जाता है ॥ २७ ॥ स० प्र० १४२)

अनुशीलन : 'विषमः' का अभिप्राय—'विषमः' से इस श्लोक में 'न्याय में ईर्ष्या आदि के कारण असमान बर्ताव अर्थात् पक्षपात' करने से अभिप्राय है। पक्षपातयुक्त दण्डव्यवस्था होने से राजा का विनाश हो जाता है।

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥ (१८)

(दण्डः हि सुमहत् तेजः) दण्ड बड़ा तेजोमय है (अकृतात्मभिः दुर्धरः) उसको अविद्वान् अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता (धर्मात् विचलितं नृपम्+एव) तब वह दण्ड धर्म से रहित राजा ही का ❀ (हन्ति) नाश कर देता है ॥ २८ ॥ (स० प्र० १४२)

❀ (सबान्धवम्) कुलसहित.....................

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥ (१९)

(असहायेन मूढेन) जो राजा उत्तम सहायरहित, मूढ़ (लुब्धेन) लोभी (अकृतबुद्धिना) जिसने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की (विषयेषु सक्तेन) जो विषयों में फंसा हुआ है (सः) उससे वह दण्ड (न्यायतः नेतुं न शक्यः) कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥३०॥ (सं० वि० १५३)

"क्योंकि जो आप्तपुरुषों के सहाय, विद्या, सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता।" (स० प्र० १४२)

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥ (२०)

और (शुचिना) जो पवित्र (सत्यसन्धेन) सत्याचार और सत्पुरुषों का संगी (यथाशास्त्र+अनुसारिणा) यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलने हारा (सुसहायेन) श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त (धीमता) बुद्धिमान् है (दण्डः प्रणेतुं शक्यते) वही न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है ॥ ३१ ॥ (स० प्र० १३२)

"इसलिए जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलने हारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान् राजा हो वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है।" (सं० वि० १५३)

न्यायानुसार दण्डादि देने से राजा की यशवृद्धि—

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥ (२१)

(एवं वृत्तस्य नृपतेः) इस प्रकार न्यायपूर्वक [१३ - ३१] दण्ड का व्यवहार करने वाले राजा का (शिलोञ्छेन अपि+जीवतः) शिल-उञ्छ से निर्वाह करने वाले अर्थात् धनहीन राजा का भी (यशः) यश (अम्भसि तैलबिन्दुः इव) जैसे पानी पर डालने से तैल की बूँद चारों ओर फैल जाती है ऐसे (लोके विस्तीर्यते) सम्पूर्ण जगत् में फैल जाता है ॥ ३३ ॥

अनुशीलन : काटने के बाद खेत में पड़ी बालियों को 'शिल' कहते हैं और पड़े रह गये दानों को 'उञ्छ' कहते हैं। 'शिल-उञ्छ से जीना' यह एक मुहावरा है, जिसका अभिप्राय धन या ऐश्वर्यहीन होना है। न्यायानुसार चलने वाला स्वल्प धन-सम्पत्ति वाला राजा भी यश पाता है। ७। १४८ में भी इसी भाव को एक मुहावरे के द्वारा व्यक्त किया है।

न्यायविरुद्ध आचरण से यशनाश—

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥ (२२)

(अतः तु विपरीतस्य) इस व्यवहार से विपरीत चलने वाले अर्थात् न्याय और सावधानीपूर्वक दण्ड का व्यवहार न करने वाले (अजितात्मनः नृपतेः) अजितेन्द्रिय राजा का (यशः) यश (अम्भसि घृतबिन्दुः+इव) जल में पड़े घी के समान (लोके संक्षिप्यते) लोक में कम होता जाता है ॥ ३४ ॥

राजा की उत्पत्ति नामक विषय का उपसंहार—

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥ (२३)

(स्वे स्वे धर्मे निविष्टानाम्) अपने-अपने धर्मों में संलग्न (अनुपूर्वशः सर्वेषां वर्णानां च आश्रमाणाम्) क्रमशः सब वर्णों और आश्रमों का (राजा अभिरक्षिता सृष्टः) राजा को 'सुरक्षा करने वाले के रूप में' बनाया है अर्थात् राजा के पद पर आसीन व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह सब वर्णस्थ और आश्रमस्थ व्यक्तियों को उनके धर्मों में प्रवृत्त रखे। समाज को धर्म अर्थात् नियम-व्यवस्था में चलाने के लिए ही राजा और राज्य की सृष्टि होती है ॥ ३५ ॥

अनुशीलन : **राजा वर्णाश्रम धर्मों का रक्षक होना चाहिये**—मनु के श्लोक में वर्णित मान्यता को यथावत् ग्रहण करते हुए कौटिल्य ने भी 'वर्ण-आश्रम-धर्मों और मर्यादाओं की रक्षा करना' राजा का प्रमुख कर्त्तव्य बतलाया है—

चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात् ।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजधर्मप्रवर्त्तकः ॥ [अ० ५६-५७। अ० १]

राजा की जीवनचर्या और भृत्यों आदि की नियुक्ति सम्बन्धी विधान—

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्त्तव्यं रक्षता प्रजाः ।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥ (२४)

(तेन) उस राजा को (सभृत्येन) अपने अमात्य, मन्त्री आदि सहायकों सहित (प्रजाः रक्षता) प्रजाओं की रक्षा करते हुए (यत्-यत् कर्त्तव्यम्) जो-जो जैसा करना चाहिए (तत्-तत्) उस उसको (अनुपूर्वशः) क्रमशः (यथावत् प्रवक्ष्यामि) ठीक-ठीक कहूंगा— ॥ ३६ ॥

अनुशीलन : **भृत्य से अभिप्राय**—राजा की ओर से भरण-पोषण की अपेक्षा रखने वाले सभी व्यक्ति भृत्य होते हैं। **'भृत्यः=बिभर्तेः भृ-धातोः क्यप् तक् च'**। इस प्रकार अमात्यों, मन्त्रियों से लेकर साधारण सेवक तक सभी कर्मचारी भृत्यवर्ग में आते हैं, द्रष्टव्य ७। २२६ श्लोक। अग्रिम सम्पूर्ण प्रसंग, जिसमें अमात्यों-मन्त्रियों से लेकर साधारण सेवकादि की नियुक्ति का विधान है, भी इसी अर्थ का द्योतक है। इस विषय में ७। २२६ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

राजा वेदवेत्ता आचार्यों की मर्यादा में रहे—

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥ (२५)

(पार्थिवः) राजा (प्रातः+उत्थाय) सबेरे उठकर [७। १४५ में वर्णित दिनचर्या को सम्पन्न करने के बाद] (त्रैविद्यवृद्धान् विदुषः ब्राह्मणान्) ऋक्, साम, यजु रूप त्रयीविद्या [१। २३॥ ११। २६४॥] में बढ़े-चढ़े

अर्थात् पारंगत आचार्य, ऋत्विज् आदि [७। ४३ ॥ ७। ७८] विद्वान् ब्राह्मणों की (परि+उपासीत) अभिवादन आदि से सत्कार एवं शिक्षा के लिए संगति करे (च) और (तेषाम्) उन शिक्षक विद्वानों के (शासने तिष्ठेत्) निर्देशन और मर्यादा में अपना जीवन रखे ॥ ३७ ॥

अनुशीलन : **राजा की जीवनचर्या और दिनचर्या**—(१) राजा के सम्पूर्ण जीवन के लिए जो विधान हैं वे जीवनचर्या के अन्तर्गत आते हैं। ये विधान दैनन्दिन न होकर जीवन में आवश्यकतानुसार पालन किये जाते हैं। इस ७। ३७ श्लोक से लेकर ६। ३२५ तक इनका वर्णन है। ७। १४५-२२६ तक राजा की दैनिकचर्या का वर्णन है, जो विषय की दृष्टि से जीवनचर्या के अन्तर्गत आ जाती है [द्रष्टव्य ७। १४५ की समीक्षा]। वहां प्रतिदिन पालनीय कर्त्तव्य विहित हैं।

(२) **श्लोकार्थ पर विचार**—यहां यह विधान जीवनचर्या की दृष्टि से किया गया है। अतः उसी दृष्टि से प्रातः विद्वानों से शिक्षा ग्रहण करने का कथन है। किन्तु इसकी व्याख्या ७। १४५ की सहायता से पूर्ण होगी। वहां प्रथम पहर में उठकर पहले राजा को सन्ध्या, अग्निहोत्रादि आवश्यक दिनचर्या करने का विधान है, पुनः विद्वानों की सङ्गति का कथन है। इस प्रकार यहां उस श्लोक के अनुसार अर्थ लगाया गया है, जो मनुसम्मत है।

(३) **राजा की जीवनचर्या और कौटिलीय अर्थशास्त्र**—यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र में अन्य शास्त्रों के सार ग्रहण के साथ-साथ स्वतन्त्र चिन्तन भी है, किन्तु उसमें वर्णित राजा की जीवनचर्या और वर्णनक्रम का प्रमुख आधार मनु का शास्त्र रहा है। उसमें प्रथम प्रकरण के प्रथम तीन अध्यायों में वर्णाश्रम धर्मों का वर्णन और दण्ड की महिमा का कथन है। पुनः राजा की जीवनचर्या आदि का मनुस्मृति क्रम से उल्लेख है। वहां राजा की जीवनचर्या का कथन करते हुए कौटिल्य ने इन बातों पर निम्न प्रकार प्रकाश डाला है—**"वृद्धसंयोगेन प्रज्ञाम्"** [प्र० ३। अ० ६]।

"मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान् वा। य एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः।
[प्र० ३। अ० ६]

"पुरोहितम्......कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्यः, पितरं पुत्रो, भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत" [प्र० ४। अ० ८]।

अर्थात् विद्वान् पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करे। आचार्य आदि गुरुजन और अमात्यवर्ग राजा की मर्यादा को निर्धारित करें। वे ही राजा को गलत कामों से रोकते रहें। जैसे आचार्य के निर्देशन में शिष्य, पिता के निर्देशन में पुत्र, स्वामी के निर्देशन में भृत्य चलता है, उसी प्रकार अपने ऋत्विक् के निर्देशन में राजा चले।

राजा शिक्षक वेदवेत्ताओं का आदर-सत्कार करे—

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन्।

वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥ (२६)

(च) और उन (शुचीन्) शुद्ध हृदयवाले (वेदविदः) वेद के ज्ञाता (वृद्धान् विप्रान्) ज्ञानतपस्या में बढ़े-चढ़े ब्राह्मणों की (नित्यं सेवेत) प्रतिदिन सेवा अर्थात् आदर-सत्कार करे (हि) क्योंकि (सततं वृद्धसेवी) सदैव ज्ञान आदि से बढ़े-चढ़े विद्वानों की सेवा करने वाला राजा (रक्षोभिः+अपि पूज्यते) राक्षसों द्वारा भी पूजा जाता है। अर्थात् मर्यादाओं-व्यवस्थाओं को भंग करने वाले पापकर्मकारी राक्षस भी उस राजा से भयभीत होकर वश में रहते हैं, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है! वे तो स्वतः वशीभूत रहेंगे । ३८ ॥

राजा वेदवेत्ताओं से अनुशासन की शिक्षा ले—

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥ (२७)

(विनीत+आत्मा+अपि) विनयी अर्थात् अनुशासन-मर्यादाओं में रहने के स्वभाव वाला होते हुए भी राजा (तेभ्यः) उन [७ । ३७-३८] वेदवेत्ता गुरुजनों से (नित्यशः) प्रतिदिन (विनयम् अधिगच्छेत्) अनुशासन और मर्यादा की शिक्षा ग्रहण करे (हि) क्योंकि (विनीत+आत्मा नृपतिः) अनुशासन में रहने के स्वभाव वाला राजा (कर्हिचित् न विनश्यति) [स्वच्छन्द या उद्धत होकर अनर्थकारी कार्य न करने के कारण] कभी विनाश को प्राप्त नहीं करता ॥ ३९ ॥

अनुशीलन : राजा के अनुशासन-विषय में कौटिल्य का मत—
आचार्य कौटिल्य ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

(क) **"विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः ।**
अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः ॥" [अ० २ । अ० ४]

अर्थात्-विद्यावान् और अनुशासन-मर्यादा में रहने वाला तथा प्रजाओं के हित में तत्पर राजा ही सम्पूर्ण पृथिवी का उपभोग करता है।

(ख) **"इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः । विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा ।**
वृद्धोपसेवाया विज्ञानम् ।" [चाण० सू० ५-७]

=इन्द्रियजय का मूल विनय अर्थात् अनुशासनबद्ध रहना है। अनुशासन का मूल वृद्धों की संगति और सेवा है और वृद्ध=पारंगत विद्वानों की संगति एवं सेवा से विशिष्ट ज्ञानार्जन करना है।

(ग) "अविनीतस्वामिलाभात् अस्वामिलाभः श्रेयान् ।" [चा० सू० १४]

=विनयहीन=अनुशासन या मर्यादा में न रहने के स्वभाव वाले राजा की प्राप्ति की अपेक्षा राजा का न होना ही श्रेयस्कर है।

राजा विद्वानों से विद्याएं ग्रहण करे—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥४३॥(२८)

राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे (त्रैविद्येभ्यः) चारों वेदों की कर्म, उपासना, ज्ञान विद्याओं के जानने वालों से (त्रयीविद्याम्) तीनों विद्या (शाश्वतीं दण्डनीतिम्) सनातन दण्डनीति (आन्वीक्षिकीम्) न्यायविद्या (आत्मविद्याम्) आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभावरूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्मविद्या (च) और (लोकतः वार्त्तारम्भान्) लोक से वार्त्ताओं का आरम्भ (कहना और सुनना) सीखकर—सभासद् या सभापति हो सकें ॥ ४३ ॥ (स० प्र० १४४)

अनुशीलन : (१) विद्याग्रहण के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार— कौटिल्य ने इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

(क) "वृत्तोपनयनस्त्रयीमान्वीक्षिकीं च शिष्टेभ्यः, वार्त्तामध्यक्षेभ्यः, दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्यः श्रुताद्धि प्रज्ञोपजायते, प्रज्ञाया योगो, योगादात्मवत्तेति विद्यासामर्थ्यम् ।" [कौ० अर्थ० प्र० २ । अ० ४]

=उपनयन के पश्चात् राजा शिष्ट [मनु० १२ । १०६] अर्थात् सदाचारी वेदवेत्ताओं से त्रयीविद्या और न्यायविद्या को सीखे। विविध विभागीय अध्यक्षों से व्यापार और वक्ता-प्रयोक्ता विशेषज्ञों से दण्डनीति सीखे। क्योंकि शास्त्रादि श्रवण से बुद्धि का विकास होता है। उससे योग में रुचि और योग से आत्मबल प्राप्त होता है। यही विद्या का सुपरिणाम है।

(ख) "वृद्धसेवाया विज्ञानम् । विज्ञानेन आत्मानं सम्पादयेत् । सम्पादितात्मा जितात्मा भवति ।" [चाण० सू० ८-९]

=वेदवेत्ता विद्वानों से विशेष विद्याज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करे। आत्मोन्नति से सम्पन्न ही जितेन्द्रिय हो सकता है।

(२) त्रयीविद्या सम्बन्धी विशेष विस्तृत ज्ञान के लिए द्रष्टव्य हैं १ । २३ ॥ ११ । २६४ श्लोक और उनकी समीक्षा।

जितेन्द्रिय राजा ही प्रजाओं को वश में रख सकता है—

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥४४॥ (२९)

जब सभासद् और सभापति (इन्द्रियाणां जये समातिष्ठेत्) इन्द्रियों को जीतने अर्थात् अपने वश में रखके सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से हटे-हटाए रहें, इसलिए (दिवानिशं योगम्) रात-दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें (हि) क्योंकि (जितेन्द्रियः) जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों—जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इसको जीते बिना (प्रजाः वशे स्थापयितुं शक्नोति) बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥ ४४ ॥ (स० प्र० १४४)

अनुशीलन : कौटिल्य द्वारा इन्द्रियजय पर प्रकाश=मनु ने इन्द्रियजय अर्थात् जितेन्द्रियता को ही प्रधान रूप से राज्यवशीकरण का गुण माना है। राजा की शिक्षा-दीक्षा, अनुशासनाभ्यास आदि सभी बातों का उद्देश्य इन्द्रियजय होता ही है। इन सबका परस्पर सम्बन्ध है, जैसा कि श्लोक ३७, ३९, ४३ में और उनकी समीक्षा में दिखाया जा चुका है। कौटिल्य ने भी मनु के अनुसार इन्द्रियजय को सर्वप्रमुख महत्त्व दिया है और अपने अर्थशास्त्र तथा सूत्र ग्रन्थ में प्रकाश डाला है—

(क) "**विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः, कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः। कर्णत्वगक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्वविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः। शास्त्रानुष्ठानं वा कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः। तद्विरुद्धवृत्तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति।**" [कौ० अर्थ० प्र० ३। अ० ५]

"**जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्यते।**" [चा० सू० १०]

अर्थात्—विद्या और विनय का हेतु=उद्देश्य इन्द्रियजय है। अतः काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका को उनके विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में प्रवृत्त न होने देना ही इन्द्रियजय कहलाता है। अथवा संक्षेप में शास्त्रों में प्रतिपादित कर्त्तव्यों के सम्यक् अनुष्ठान को ही इन्द्रियजय कहते हैं। सारे शास्त्रों का मूल कारण इन्द्रियजय है। शास्त्रविहित कर्त्तव्यों के विपरीत आचरण करने वाला इन्द्रियलोलुप राजा सारी पृथिवी का अधिपति होता हुआ भी शीघ्र विनष्ट हो जाता है। जितेन्द्रिय राजा ही समस्त समृद्धियों को प्राप्त करता है।

(२) इन्द्रियजय का मनुप्रोक्त लक्षण २। ७३ [२। ९८] में देखिए।

वेद में भी स्पष्ट कहा है कि राजा जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी (47 of 332) होकर ही

तपस्या से राष्ट्र की रक्षा कर सकता है—प्रजाओं को वश में कर सकता है। मनु ने उसी भाव को इस श्लोक में ग्रहण किया है—

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ॥" अथर्व० ११। ५। ४॥

व्यसनों की गणना—

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥ (३०)

दृढ़ोत्साही होकर (दश कामसमुत्थानि च अष्टौ क्रोधजानि) जो काम से दश [७। ४७] और क्रोध से आठ [७। ४८] (व्यसनानि) दुष्ट व्यसन (दुरन्तानि) कि जिनमें फंसा हुआ मनुष्य कठिनता से निकल सके उनको (यत्नेन विवर्जयेत्) प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे ॥ ४५ ॥

(स० प्र० १४४)

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥ (३१)

(हि) क्योंकि (महीपतिः) जो राजा (कामजेषु प्रसक्तः) काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फंसता है (अर्थ-धर्माभ्यां वियुज्यते) वह अर्थ अर्थात् राज्य-धन-आदि और धर्म से रहित हो जाता है। (तु) और (क्रोधजेषु) जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फंसता है (आत्मना एव) वह शरीर से भी रहित हो जाता है ॥ ४६ ॥ (स० प्र० १४४)

दश कामज व्यसन—

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥ (३२)

काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं………(मृगया) मृगया [=शिकार] खेलना (अक्षः) अक्ष अर्थात् चोपड़ खेलना, जूआ खेलना आदि (दिवास्वप्नः) दिन में सोना (परिवादः) काम कथा वा दूसरों की निंदा किया करना (स्त्रियः) स्त्रियों का अतिसंग (मदः) मादक द्रव्य अर्थात् मद्य, अफीम, भांग, गांजा, चरस आदि का सेवन (तौर्य-त्रिकम्) गाना, बजाना, नाचना व नाच कराना सुनना और देखना [ये तीन बातें] (वृथाट्या) वृथा इधर-उधर घूमते रहना (दशकः कामजः गणः) ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं ॥ ४७ ॥ (स० प्र० १४४)

अनुशीलन : 'तौर्यत्रिकम्', 'मृगया', 'स्त्रियः' शब्दों पर विशेष

विचार—(१) तूर्य=तुरही या वाद्य को कहते हैं, त्रिकम्—नाचना, गाना, बजाना इन तीन क्रियाओं के समूह को कहा जाता है। इस प्रकार तौर्यत्रिकम् का अर्थ 'वाद्यों के साथ नाचना, गाना, बजाना' होता है। (२) 'स्त्रियाः' बहुवचन [७। ५० में भी] के प्रयोग से मनु अपनी उस मान्यता की ओर संकेत तथा उसकी पुष्टि कररहे हैं कि राजा को भी एक से अधिक स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिए। एक ही स्त्री से विवाह करना चाहिए। (३) (**"मृगं याति अनया सा मृगया, घञर्थे कः"**) पशुओं का पीछा करना अर्थात् शिकार करने की क्रिया।

क्रोधज आठ व्यसन—

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥ (३३)

क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं—(पैशुन्यम्) पैशुन्य अर्थात् चुगली करना (साहसम्) बिना विचारे बलात्कार से किसी स्त्री से बुरा काम करना (द्रोहः) द्रोह रखना (ईर्ष्या) ईर्ष्या अर्थात् दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देखकर जला करना (असूया) असूया—दोषों में गुण गुणों में दोषारोपण करना (अर्थदूषणम्) अर्थदूषण अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामों में धन आदि का व्यय करना (वाग् दण्डजम्) कठोर वचन बोलना और बिना अपराध का कड़ा वचन (च) वा (पारुष्यम्) विशेष दण्ड देना (अष्टकः-क्रोधजः+अपि गणः) ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं ॥ ४८ ॥

(स० प्र० १४४)

सभी व्यसनों का मूल लोभ—

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥४९॥ (३४)

और (एतयोः द्वयोः+अपि मूलं यं लोभम्) जो इन कामज और क्रोधज अठारह दोषों के मूल जिस लोभ को (सर्वे कवयः विदुः) सब विद्वान् लोग जानते हैं (तं यत्नेन जयेत्) उसको प्रयत्न से राजा जीते, क्योंकि (तत्+जौ+एतौ+उभौ गणौ) लोभ ही से पूर्वोक्त अठारह और अन्य दोष भी बहुत से होते हैं ॥४९॥ (सं॰वि॰१५३)

"जो सब विद्वान् लोग कामज और क्रोधजों का मूल जानते हैं कि जिससे ये सब दुर्गुण मनुष्य को प्राप्त होते हैं, उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े"। (स० प्र० १४५)

कामज और क्रोधज व्यसनों में अधिक कष्टदायक व्यसन—

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥ (३५)

(कामजे गणे) काम के व्यसनों में बड़े दुर्गुण, एक (पानम्) मद्य आदि अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन, दूसरा—(अक्षाः) पासों आदि से जूआ खेलना, तीसरा—(स्त्रियः एव) स्त्रियों का विशेष सङ्ग, चौथा—(मृगया) मृगया [=शिकार] खेलना (एतत्) ये ❋(चतुष्कं कष्टतमं विद्यात्) चार महादुष्ट व्यसन हैं ॥ ५० ॥ (स० प्र० १४५)

❋ (यथाक्रमम्) क्रम से पूर्व-पूर्व के अधिकाधिक………

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥ (३६)

(च) और (क्रोधजे+अपि गणे) क्रोधजों में (दण्डस्य पातनम्) बिना अपराध दण्ड देना (वाक् पारुष्य+अर्थदूषणे) कठोर वचन बोलना और धन आदि का अन्याय में खर्च करना (एतत्-त्रिकं सदा कष्टं) ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए बड़े दुःखदायक दोष हैं+॥ ५१ ॥ (स० प्र० १४५)

+ (विद्यात्) ऐसा जाने ।

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषंगिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥ (३७)

(अस्य सप्तकस्य वर्गस्य) इस [५०-५१ में वर्णित] सात प्रकार के दुर्गुणों के वर्ग में (सर्वत्र+एव+अनुषङ्गिणः) जो सब स्थानों पर सब मनुष्यों में पाये जाते हैं (आत्मवान्) आत्मा की उन्नति चाहने वाला राजा (पूर्वं पूर्वं व्यसनं गुरुतरं विद्यात्) पहले-पहले व्यसन को अधिक कष्टप्रद समझे ॥ ५२ ॥

"जो ये सात दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में गिने हैं, इनमें से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से अन्याय से दंड देना, इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त सङ्ग, इससे जूआ अर्थात् द्यूत करना और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा दुष्ट व्यसन है" ॥ (स० प्र० १४५)

व्यसन मृत्यु से भी अधिक कष्टदायी—

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ ५३ ॥ (३८)

(व्यसनस्य च मृत्यो: च) व्यसन और मृत्यु में (व्यसनं कष्टम्+उच्यते) व्यसन को ही अधिक कष्टदायक कहा गया है, क्योंकि (व्यसनी) व्यसन में फंसा रहने वाला व्यक्ति (अधः अधः याति) दिन-प्रतिदिन दुर्गुणों और कष्टों में गिरता ही जाता है या अवनति को ही प्राप्त होता जाता है, किन्तु (अव्यसनी) व्यसन से रहित व्यक्ति (मृतः) मरकर भी (स्वर्याति) स्वर्ग=सुख को प्राप्त करता है अर्थात् उसे परजन्म में सुख मिलता है ॥५३॥

"इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फंसने से मर जाना अच्छा है क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है वह अधिक जियेगा तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दुःख को प्राप्त होता जायेगा और जो किसी व्यसन में नहीं फंसा वह मर भी जायेगा तो भी सुख को प्राप्त होता जायेगा। इसलिए विशेष राजा को और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपान आदि दुष्टकामों में न फंसे और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त, गुण-कर्म-स्वभावों में सदा वर्तके अच्छे-अच्छे काम किया करें" (स० प्र० १४६)

मन्त्रियों की नियुक्ति—

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥५४॥(३९)

(मौलान्) स्वराज्य-स्वदेश में उत्पन्न हुए (शास्त्रविदः) वेदादि शास्त्रों के जानने वाले (शूरान्) शूरवीर (लब्धलक्षान्) जिनके लक्ष्य और विचार निष्फल न हों, और (कुलोद्गतान्) कुलीन (परीक्षितान्) अच्छे प्रकार सुपरीक्षित (सप्त वा अष्टौ) सात वा आठ (सचिवान्) उत्तम, धार्मिक, चतुर मन्त्री (प्रकुर्वीत) करे ॥ ५४ ॥ (स० प्र० १४६)

"और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जानने हारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन, धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों, उन सात या आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे; और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो। ये सब मिलके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें"। (सं० वि० १५४)

"अपने राज्य और देश में उत्पन्न हुए, वेद वा शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, कवि, गृहस्थ, अनुभवकर्त्ता, सात अथवा आठ धार्मिक बुद्धिमान् मन्त्री राजा को रखने चाहिएं"। (पू० प्र० १११)

अनुशीलन : नियुक्ति से पूर्व अमात्यों की परीक्षा विधि—नियुक्ति से पूर्व अमात्यों की दृढ़ परीक्षा करनी चाहिए। अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने परीक्षा की प्रकट और गुप्त विधियां बतायी हैं—

(क) **प्रकटविधि**—नियुक्ति से पूर्व राजा प्रामाणिक, सत्यवादी एवं आप्तपुरुषों के द्वारा उनके निवासस्थान और उनकी आर्थिक स्थिति की जानकारी करे। सहपाठियों के माध्यम से उनकी योग्यता तथा शास्त्रीय प्रतिभा की; नये-नये कार्य सौंपकर उनकी बुद्धि, स्मृति और चतुरता की, व्याख्यानों एवं सभाओं द्वारा उनकी वाक्पटुता, प्रगल्भता और प्रतिभा की; आपत्ति प्रस्तुत करके उनके उत्साह, प्रभाव और सहनशक्ति की; व्यवहार से उनकी पवित्रता, मित्रता एवं दृढ़ स्वामिभक्ति की; सहवासियों एवं पड़ौसियों के माध्यम से उनके शील, बल, स्वास्थ्य, गौरव, अप्रमाद तथा स्थिरवृत्ति की जानकारी करे। उनके मधुरभाषी स्वभाव तथा द्वेषरहित स्वभाव की परीक्षा राजा स्वयं करे।

[कौ० अर्थ० प्र० ४। अ०८]❀

(ख) **गुप्तविधि**—(१) धर्मोपधा—गुप्त धार्मिक उपायों से अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा करना। (२) अर्थोपधा—गुप्त आर्थिक लोभ की बातों से, (३) कामोपधा—गुप्त कामसम्बन्धी आकर्षणों से, (४) भयोपधा—गुप्त भय आदि प्रदर्शित करके अमात्यों के हृदय की पवित्रता की परीक्षा करे।

गुप्तचरों द्वारा इतनी परीक्षाएं करने के पश्चात् ही उस व्यक्ति को यथायोग्य अमात्य कार्य पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

कौटिल्य का मत है कि धर्मपरीक्षा में पवित्र सिद्ध अमात्यों को न्यायालय में, अर्थपरीक्षामें पवित्र को करसंग्रह और कोषसंरक्षण में, कामपरीक्षा में पवित्र को अन्तःपुर और विलासस्थानों में, तथा भयपरीक्षा में पवित्र को अङ्गरक्षक के रूप में नियुक्त करना चाहिए [कौ० अर्थ० प्र० ५। अ० ६]। ❀

❀ "तेषां जनपदमवग्रहं चाप्यतः परीक्षेत। समानविद्येभ्यः शिल्पं, शास्त्रचक्षुष्मत्तां च, कर्मारम्भेषु प्रज्ञां धारयिष्णुतां दाक्ष्यं च, कथायोगेषु वाग्मित्वं प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्त्वं च, आपद्युत्साहप्रभावौ क्लेशसहत्वं च, संव्यवहाराच्छौचं मैत्रतां दृढभक्तित्वं च, संवासिभ्यः शीलबलारोग्यसत्त्वयोगम्—अस्तम्भम्—अचापल्यं च, प्रत्यक्षतः संप्रियत्वम्-अवैरित्वं च।" [प्र० ४। अ० ८]

❀ "मन्त्रिपुरोहितसखः सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वा अमात्यानुपधाभिः शोधयेत्। ·········तत्र धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्, अर्थोपधाशुद्धान् समाहर्त-सन्निधातृ-निचयकर्मसु, कामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरविहाररक्षासु, भयोपधाशुद्धान् आसन्नकार्येषु राज्ञः। सर्वोपधाशुद्धान् मन्त्रिणः कुर्यात्। सर्वत्राशुचीन् खनिद्रव्यहस्तिवनकर्मान्तेषूपयोजयेत्।

राजा को सहायकों की आवश्यकता में कारण—

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥ (४०)

(अपि) क्योंकि (विशेषतः+असहायेन) विशेष सहाय के बिना (यत् सुकरं कर्म) जो सुगम कर्म है (तत्+अपि) वह भी (एकेन दुष्करम्) एक के करने में कठिन हो जाता है (किन्तु) जब ऐसा है तो (महोदयं राज्यम्) महान् राज्य-कर्म एक से कैसे हो सकता है ? इसलिए एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य्य को निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है ॥ ५५ ॥ (स० प्र० १४६)

"क्योंकि सहायता बिना लिए साधारण काम भी एक को करना कठिन हो जाता है। फिर बड़े भारी राज्य का काम एक से कैसे हो सकता है ? इसलिए एक को राजा बनाना और उसी की बुद्धि पर सारे काम का बोझ रखना बुद्धिमत्ता नहीं है"। (पू० प्र० १११)

मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे—

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥ (४१)

इससे सभापति को उचित है कि (नित्यम्) नित्यप्रति (तैः सार्धम्) उन [७ । ५४] राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ (सामान्यम्) सामान्य करके किसी से (सन्धि-विग्रहम्) सन्धि=मित्रता, किसी से विग्रह=विरोध, (स्थानम्) स्थित समय को देखकर के चुपचाप रहना, अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना (समुदयम्) जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना (गुप्तिम्) मूल राज, सेना, कोश आदि की रक्षा (लब्धप्रशमनानि) जो-जो देश प्राप्त हों उस-उस में शान्ति-स्थापना, उपद्रव-रहित करना (चिन्तयेत्) इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे ॥ ५६ ॥ (स० प्र० १४६)

"महाराजा को उचित है कि मन्त्रियों समेत छः बातों पर विचार करे—१. मित्र, २. शत्रु में चतुरता, ३. अपनी उन्नति, ४. अपना स्थान, ५. शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा, ६. विजय किये हुए देशों की रक्षा, स्वास्थ्य आदि प्रत्येक विषय पर विचार करके यथार्थ निर्णय से जो कुछ अपनी और दूसरों की भलाई की बात विदित हो उसे करना"। (पू० प्र० १११)

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ५७ ॥ (४२)

(तेषाम्) उन सभासदों का (पृथक्-पृथक् स्वं स्वम्+अभिप्रायम् उपलभ्य) पृथक्-पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय को सुनकर (समस्तानां कार्येषु) सभी के द्वारा कथित कार्यों में (आत्मनः हितम्) जो कार्य अपना और अन्य का हितकारक हो (विदध्यात्) वह करने लगना* ॥ ५७ ॥ (स० प्र० १४७) (पूना० प्र १११ पर भी)

* अर्थात्—वही कार्य करे।

आवश्यकतानुसार अन्य अमात्यों की नियुक्ति—

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥ (४३)

[आवश्यकता पड़ने पर] (अन्यान् अपि) अन्य भी (शुचीन्) पवित्रात्मा (प्राज्ञान्) बुद्धिमान् (अवस्थितान्) निश्चित बुद्धि (सम्यक्-अर्थ-समाहर्तॄन्) पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर (सुपरीक्षितान्) सुपरीक्षित (अमात्यान् प्रकुर्वीत) मन्त्री करे ॥ ६० ॥ (स० प्र० १४७)

"इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी जितने पुरुषों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके उतने ही पवित्र, धार्मिक विद्वान् चतुर, स्थिर बुद्धि पुरुषों को राज्यसामग्री के वर्धक नियत करे।" (सं० वि० १५४)

निवर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥ (४४)

* (यावद्भिः नृभिः इतिकर्त्तव्यता निवर्तेत) जितने मनुष्यों से कार्य्य सिद्ध हो सके (तावतः) उतने (अतन्द्रितान्) आलस्यरहित (दक्षान्) बलवान् और (विचक्षणान्) बड़े-बड़े चतुर प्रधान पुरुषों को (प्रकुर्वीत) अधिकारी अर्थात् नौकर करे ॥ ६१ ॥ (स० प्र० १४७)

* (अस्य) इस राजा का............

अनुशीलन : **'इतिकर्त्तव्यता' का अभिप्राय**—यहां 'इति' शब्द 'अथ' का विपरीतार्थक है। इसका अर्थ है 'पूर्णता' या 'समाप्ति'। इस प्रकार 'इतिकर्त्तव्यता' का अर्थ हुआ—'सभी राज्यकार्यों की पूर्णता'। जितने भी अमात्यों या अधिकारियों से राज्यसंचालन के कार्य पूर्णरूप से सम्पन्न हो सकें, उतनों की राजा नियुक्ति करले। पुनः उनके अधीन अन्य सहयोगी अधिकारियों, भृत्यों की नियुक्ति करे। यह अगले श्लोक में 'तेषाम्' ... [illegible]

अमात्यों के सहयोगी अधिकारियों की नियुक्ति—

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥ (४५)

[५४-६१ में वर्णित] (तेषाम्+अर्थे) इनके अधीन (शूरान्) शूरवीर (दक्षान्) बलवान् (कुलोद्गतान्) कुलोत्पन्न (शुचीन्) पवित्र भृत्यों को (आकरकर्मान्ते) बड़े-बड़े कर्मों में, और (भीरून्+अन्तर्निवेशने) भीरू= डरने वालों को भीतर के कर्मों में (नियुञ्जीत) नियुक्त करे ॥ ६२ ॥
(स० प्र० १४७)

प्रधान दूत की नियुक्ति—

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥ (४६)

(कुलोद्गतम्) जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न (दक्षम्) चतुर (शुचिम्) पवित्र (इङ्गित+आकार+चेष्टज्ञम्) हावभाव और चेष्टा से भीतर हृदय और भविष्यत् में होने वाली बात को जानने हारा (सर्वशास्त्रविशारदम्) सब शास्त्रों में विशारद चतुर है (दूतम् एव प्रकुर्वीत) उस दूत को रक्खे ॥ ६३ ॥
(स० प्र० १४७)

"तथा जो सब शास्त्र में निपुण नेत्रादि के संकेत, स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जानने हारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देश, काल जाननेहारा, सुन्दर, जिसका स्वरूप बड़ा, वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो, उस और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देने हारे अन्य दूतों को भी नियत करे।" (सं० वि० १५४)

श्रेष्ठ दूत के लक्षण—

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥ (४७)

वह ऐसा हो कि (अनुरक्तः) राज-काम में अत्यन्त उत्साह प्रीतियुक्त (शुचिः) निष्कपटी, पवित्रात्मा (दक्षः) चतुर (स्मृतिमान्) बहुत समय की बात को भी न भूलने वाला (देशकालवित्) देश और कालानुकूल वर्तमान का कर्त्ता (वपुष्मान्) सुन्दररूपयुक्त (वीतभीः) निर्भय, और (वाग्मी) बड़ा वक्ता (राज्ञः दूतः प्रशस्यते) वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है ॥ ६४ ॥
(स० प्र० १४७)

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥ (४८)

(अमात्ये दण्डः) अमात्य को दण्डाधिकार (दण्डे वैनयिकी क्रिया) दण्ड में विनय=अनुशासित क्रिया अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न होने पावे (नृपतौ कोशराष्ट्रे) राजा के अधीन कोश और राष्ट्र (च) तथा सभा के अधीन सब कार्य, और (दूते संधिविपर्ययौ) दूत के अधीन किसी से मेल वा विरोध करना (आयत्तः) अधिकार देवे ॥ ६५ ॥ (स० प्र० १४८)

अनुशीलन : राजा और अमात्यों के कार्यों का विभाजन—राजा को राष्ट्र और राष्ट्रीय स्तर के कार्यविभाग सेना तथा कोश=खजाना आदि अपने सीधे नियन्त्रण में रखने चाहिएं। अमात्यों को दण्ड-न्याय आदि का अधिकार सौंप देवे और दण्डाधिकारियों को अनुशासन बनाये रखने या शिक्षा व्यवस्था आदि का अधिकार सौंपे। दूत के अधीन संधि और विरोध आदि की नीतियों का निर्धारण होना चाहिए। ये प्रधान अमात्य अपने-अपने विभागों का संचालन करें और राजा से सम्पर्क रखें। इस प्रकार कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होता है।

दूत के कार्य—

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥ (४९)

(हि) क्योंकि (दूतः एव) दूत ही ऐसा व्यक्ति होता है जो (संधत्ते) शत्रु और अपने राजा का मेल करा देता है (च) और (संहतान् भिनत्ति+एव) मिले हुए शत्रुओं में फूट भी डाल देता है (दूतः तत् कर्म कुरुते) दूत वह काम कर देता है (येन मानवाः भिद्यन्ते) जिससे शत्रुओं के लोगों में भी फूट पड़ जाती है ॥ ६६ ॥

"दूत उसको कहते हैं जो फूट में मेल और मिले हुए दुष्टों को फोड़-तोड़ देवे, दूत वह कर्म करे जिससे शत्रुओं में फूट पड़े।" (स० प्र० १४८)

अनुशीलन : कौटिल्य के अनुसार दूत के कार्य—आचार्य कौटिल्य ने विस्तार से दूत के कार्यों का वर्णन किया है—

प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः।
उपजापः सुहृद्भेदो दण्डगूढातिसारणम् ॥

बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षः दूतस्य कर्मयोगस्य चाश्रयः ॥ [प्र० ११ । अ० १५]

अर्थात्—अपने राजा का संदेश दूसरे राजा के पास ले जाना और उसको

लाना, सन्धिभाव को बनाये रखना, अपने राजा के प्रताप को बनाना, अधिक से अधिक मित्र बनाना, शत्रु के पक्ष के पुरुषों को फोड़ना, शत्रु के मित्रों को उससे विमुख करना, कार्यरत अपने गुप्तचरों अथवा सैनिकों को आपत्ति से पूर्व निकाल लाना, शत्रु के बांधवों और रत्न आदि का अपहरण, शत्रुदेश में कार्यरत अपने गुप्तचरों के कार्य का निरीक्षण, समय पड़ने पर पराक्रम दिखाना, बन्धक रखे शत्रुबान्धवों को शर्त के आधार पर छोड़ना, दोनों राजाओं की भेंट आदि कराना, दूत के कार्य हैं ॥

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥६७॥ (५०)

(सः) वह दूत (अस्य) शत्रु-राजा के (कृत्येषु) असंतुष्ट या विरोधी लोगों में (च) और (भृत्येषु) राजकर्मचारियों में (निगूढ+इङ्गित+चेष्टितैः) गुप्त संकेतों एवं चेष्टाओं से (आकारम्) शत्रु राजा के आकार=भाव (इङ्गितम्) संकेत=हाव (चेष्टाम्) चेष्टा=प्रयत्न को तथा (चिकीर्षितम्) उसके अभिलषित कार्य, उसकी इच्छाओं को (विद्यात्) जाने ॥ ६७ ॥

अनुशीलन : (१) **कृत्य शब्द का राजनीतिपरक अर्थ**—यहां 'कृत्य' शब्द राजनैतिक योगरूढ़ि है। 'कृत्य' उन लोगों को कहते हैं जो, धन, स्त्री, सम्पत्ति आदि के लोभ से अपने पक्ष में किये जा सकते हैं। कौटिल्य अर्थ शास्त्र में इनके चार भेद बतलाये हैं—

क्रुद्धलुब्धभीतावमानिनस्तु परेषां कृत्याः । [कौ० अर्थ० प्र० ८।अ० १२]

शत्रु-राज्य के जो व्यक्ति अपने राजा पर क्रोध रखते हैं वे 'क्रुद्धकृत्य', जो लालची स्वभाव के हैं वे 'लुब्धकृत्य', जो डर के कारण दबे रहते हैं वे 'भीतकृत्य', और जो राजा से अपमानित किये गये हैं वे 'अपमानितकृत्य' कहलाते हैं। दूत का यह कर्म है कि उपर्युक्त लुब्ध और क्षुब्ध व्यक्तियों और कर्मचारियों से शत्रु राजा के गुप्त रहस्यों को जाने।

(२) **इङ्गित और आकार का अर्थ**—'**इंगितमन्यथावृत्तिः । आकृतिग्रहणमाकारः ।**'' [कौ० अर्थ० प्र० १०। अ० १६]=स्वाभाविक क्रियाओं के विपरीत भिन्न चेष्टाएं 'इगित' कहलाती हैं। चेष्टाओं को प्रकट करने वाले अंगों की आकृति 'आकार' कहलाती है।

बुद्ध्वा सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथाऽऽत्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥ (५१)

वह सभापति और सब सभासद् वा दूत आदि (तत्त्वेन) यथार्थ से (परराजचिकीर्षितम्) दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय (बुद्ध्वा)

जानकर (तथा प्रयत्नम्+आतिष्ठेत्) वैसा यत्न करे (यथा) कि जिससे (आत्मानं न पीडयेत) अपने को पीड़ा न हो ॥ ६८ ॥ (स० प्र० १४८)

राजा के निवास-योग्य देश—

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥ (५२)

राजा (जाङ्गलम्) जांगल प्रदेश=जहां उपयुक्त पानी बरसता हो, बाढ़ न आती हो, खुली हवा और सूर्य का पर्याप्त प्रकाश हो, धान्य आदि बहुत उत्पन्न होता हो (सस्यसंपन्नम्) हरा-भरा (आर्यप्रायम्) श्रेष्ठ लोगों का बाहुल्य (अनाविलम) रोगरहित (रम्यम) रमणीय (आनतसामन्तम) विनम्रता का व्यवहार करने वाले निवासी (सु+आजीव्यम्) अच्छी आजीविकाओं से जो सम्पन्न हो (देशम्+आवसेत्) ऐसे देश में निवासस्थान करे ॥ ६९ ॥

छः प्रकार के दुर्ग—

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥ (५३)

(धन्वदुर्गम्) धन्वदुर्ग—मरुस्थल में बना किला जहां मरुभूमि के कारण जाना दुर्गम हो (महीदुर्गम्) महीदुर्ग—पृथिवी के अन्दर तहखाने या गुफा के रूप में बना किला या मिट्टी की बड़ी-बड़ी मेढों से घिरा हुआ (अप्+दुर्गम्) जलदुर्ग—जिसके चारों ओर पानी हो (वा) अथवा (वार्क्षम) वृक्षदुर्ग—जो घने वृक्षों के वन से घिरा हो (नृदुर्गम) नृदुर्ग—जो सेना से घिरा रहे, जिसके चारों ओर सेना का निवास हो (वा) अथवा (गिरिदुर्गम्) गिरिदुर्ग—पहाड़ के ऊपर बनाया पहाड़ों से घिरा किला (समाश्रित्य) बनाकर और उसका आश्रय करके (पुरं वसेत्) अपने निवास में रहे ॥७०॥

महर्षि दयानन्द ने 'धन्वदुर्गम्' के स्थान पर 'धनुर्दुर्गम्' पाठ लेकर इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—

"इस लिए सुन्दर जंगल धन-धान्य युक्त देश में (धनुर्दुर्गम्) धनुर्धारी पुरुषों से गहन (महीदुर्गम) मट्टी से किया हुआ (अब्दुर्गम्) जल से घेरा हुआ (वार्क्षम्) अर्थात् चारों ओर वन (नृदुर्गम) चारों ओर सेना रहे (गिरिदुर्गम) अर्थात् चारों ओर पहाड़ों के बीच में कोट बनाके इस के मध्य में नगर बनावे।" (स० प्र० १४८)

अनुशीलन कौटिलीय अर्थशास्त्र में चार प्रकार के दुर्ग—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में केवल चार दुर्गों का ही उल्लेख किया है—

(१) औदक=जलदुर्ग, (२) पार्वत=गिरिदुर्ग, (३) धान्वन=धन्वदुर्ग, (४) वनदुर्ग=वृक्षदुर्ग।

पर्वतदुर्ग की श्रेष्ठता—

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥ (५४)

राजा (सर्वेण तु प्रयत्नेन) सब प्रकार से प्रयत्न करके (गिरिदुर्गं समाश्रयेत्) 'पर्वतदुर्ग' का ही आश्रय करे—बनाकर रहे (हि) क्योंकि (बाहुगुण्येन) सब दुर्गों में अधिक विशेषताओं के कारण (गिरिदुर्गं विशिष्यते) पर्वतदुर्ग ही सर्वश्रेष्ठ है, अतः यह यत्न रखना चाहिए कि 'पर्वतदुर्ग' ही बन सके ॥ ७१ ॥

दुर्ग का महत्त्व—

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥ (५५)

(प्राकारास्थः) नगर के चारों ओर प्राकार=प्रकोटा बनावे क्योंकि उस में स्थित हुआ (एकः धनुर्धरः) एक वीर धनुर्धारी शस्त्रयुक्त पुरुष (शतम्) सौ के साथ, और (शतं दशसहस्राणि) सौ दश हजार के साथ (योधयति) युद्ध कर सकते हैं (तस्मात् दुर्गं विधीयते) इसलिए अवश्य दुर्ग का बनाना उचित है ॥ ७४ ॥ (स० प्र० १४८)

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥ (५६)

(तत्) वह दुर्ग (आयुधः) शस्त्रास्त्र (धन-धान्येन वाहनैः) धन, धान्य, वाहन (ब्राह्मणैः) ब्राह्मण, जो पढ़ाने उपदेश करने हारे हों (शिल्पिभिः) कारीगर (यन्त्रैः) यन्त्र—नाना प्रकार की कला (यवसेन) चारा-घास (च) और (उदकेन) जल आदि से (सम्पन्नं स्यात्) सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो ॥ ७५ ॥ (स० प्र० १४८)

राजा का निवास-गृह—

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥ (५७)

(तस्य मध्ये) उसके मध्य में (जल-वृक्ष-समन्वितम्) जल, वृक्ष,-पुष्पादिक युक्त (गुप्तम्) सब प्रकार से रक्षित (सर्व+ऋतुकम्) सब ऋतुओं में सुखकारक (शुभ्रम्) श्वेतवर्ण (आत्मनः गृहम्) अपने लिए घर (सुपर्याप्तम्) जिसमें सब राजकार्य का निर्वाह हो वैसा (कारयेत्) बनवावे ॥ ७६ ॥ (स० प्र० १४८)

राजा के विवाहयोग्य भार्या—

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥ (५८)

इतना अर्थात् ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के यहां तक राज-काम करके पश्चात्* (रूपगुण+अन्विताम्) सौन्दर्यरूप गुणयुक्त (हृद्याम्) हृदय को अति-प्रिय (महति कुले संभूताम्) बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न (लक्षण+अन्विताम्) सुन्दर लक्षणयुक्त (सवर्णां भार्याम् उद्वहेत्) अपने क्षत्रिय कुल की कन्या जो कि अपने सदृश विद्यादि गुण-कर्म-स्वभाव में हो उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझकर दृष्टि से भी न देखे ॥ ७७ ॥ (स० प्र० १४६)

*(तत्+अध्यास्य) पूर्वोक्त राजभवन में निवास करके ....

पुरोहित का वरण एवं उसके कर्तव्य—

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥ (५६)

(पुरोहितं च ऋत्विजं वृणुयात् एव प्रकुर्वीत) पुरोहित और ऋत्विक् का स्वीकार इसलिए करे कि (ते) वे (गृह्याणि च वैतानिकानि अस्य कर्माणि कुर्युः) अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघर के कर्मों को करें और आप सर्वदा राजकार्य में तत्पर रहे ॥ ७८ ॥ (स० प्र० १४६)

अनुशीलन : **वैतानिक और गृह्य कर्म**—यहां 'वैतानिक' शब्द का अर्थ विस्तृत अर्थात् लम्बे समय तक चलने वाले 'यज्ञों' से और 'गृह्य कर्मों' से घर के धार्मिक अनुष्ठानों और दैनिक पञ्चमहायज्ञों से अभिप्राय है। ७६ में श्लोक में वैतानिक यज्ञों को स्पष्ट कर दिया है। राजा को समयानुसार पञ्चमहायज्ञों के अतिरिक्त बृहद् यज्ञों का आयोजन भी करते रहना चाहिए। इन कार्यों के लिए पुरोहित या ऋत्विक् का वरण किया जाता है। २। ११८ [२। १४३] में ऋत्विक् का लक्षण करते हुए भी इन सभी यज्ञों की गणना की है, वही भाव इस श्लोक में है।

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७६ ॥ (६०)

(राजा) राजा (आप्तदक्षिणैः विविधैः क्रतुभिः) बहुत दक्षिणा वाले अनेक यज्ञों को (यजेत) किया करे (च) तथा (धर्मार्थम्) धर्म के लिए (विप्रेभ्यः) विद्वान् ब्राह्मणों को (भोगान् च धनानि दद्यात्) भोग्य वस्तुओं एवं धनों का दान करे ॥ ७६ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥ (६१)

+ (सांवत्सरिकं बलिम्) वार्षिक कर (आप्तैः आहारयेत्) आप्त पुरुषों के द्वारा ग्रहण करे (च) और जो सभापतिरूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं वे सब (आम्नायपरः) सभा-वेदानुकूल होकर ❀ (नृषु पितृवत् वर्तेत) प्रजा के साथ पिता के समान वर्त्तें ॥ ८० ॥ (स० प्र० १५०)

+ (राष्ट्रात्) राष्ट्र अर्थात् राज्यवासियों से...............
❀ (लोके) राज्य में...............

अनुशीलन : **आप्त और बलि का विशेष अर्थ**—'आप्त' और 'बलि' परम्परागत शास्त्रीय शब्द हैं। शास्त्रों में बहुप्रयोग के आधार पर इनके अपने विशेष अर्थ रूढ़ हो गये हैं—

(१) 'आप्तः' शब्द 'आप्लृ व्याप्तौ' (स्वादि) धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से बना है। अपने विषय में पूर्णतः व्याप्त अर्थात् व्यापक और प्रत्यक्ष ज्ञान रखने वाले धार्मिक व्यक्ति को 'आप्त' कहते हैं। राजा को प्रत्येक विभाग में मुख्य अधिकारी ऐसे आप्तपुरुष रखने चाहिएँ।

(२) बलि का अर्थ होता है—अन्न या भोजन आदि से यज्ञार्थ निकाला गया शेष भाग=अंश। जैसे बलिवैश्वदेव यज्ञ में भोजन का कुछ अंश प्राणियों के लिए निकाल कर रखा जाता है। यहां, राजा जो अन्न के छठे भाग के रूप में प्रजाओं से कर लेता है उसे 'बलि' कहा गया है। कर के विभिन्न रूपों और उनके अन्तर को समझने के लिए देखिए ८। ३०७ पर अनुशीलन।

विविध विभागाध्यक्षों की नियुक्ति—

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥ (६२)

राजा (विविधान्) अनेक (विपश्चितः अध्यक्षान्) मेधावी, प्रतिभाशाली, योग्य विद्वान् अध्यक्षों को (तत्र तत्र) आवश्यकतानुसार विभिन्न विभागों में (कुर्यात्) नियुक्त करे (ते) वे विभागाध्यक्ष (अस्य) इस राजा के द्वारा नियुक्त (सर्वाणि) अन्य सब (कार्याणि कुर्वताम्) अपने अधीन कार्य करने वाले (नृणाम्) कर्मचारी लोगों का (अवेक्षेरन्) निरीक्षण किया करें ॥ ८१ ॥

"उस राज्यकार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों को सभा नियत करे। इनका यही काम है—जितने-जितने, जिस-जिस काम के राजपुरुष होवें,

नियमानुसार वर्त्तकर यथावत् काम करते हैं वा नहीं। जो यथावत् करें तो उनका सत्कार और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड दिया करे।"
(स० प्र० १५०)

अनुशीलन : (१) **कौटिल्य के अनुसार विभागाध्यक्ष**—आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र प्र० २२। अ० ६ से ५२। ३४ तक अध्यक्षप्रचार नामक अधिकरण में योग्यता, शक्ति, और परीक्षानुसार अनेक विभागाध्यक्षों और उपविभागाध्यक्षों का विधान किया है। अध्यक्षों के पदों का विभाजन; विभाग और कार्यानुसार होना चाहिए। कौटिल्य द्वारा परिगणित कुछ अध्यक्ष निम्न हैं—

१. सेनाध्यक्ष = सम्पूर्ण सेनाओं का निरीक्षक, २. कोषाध्यक्ष = खजाने का अध्यक्ष, ३. आकराध्यक्ष = खानों का अध्यक्ष, ४. अक्षपटलाध्यक्ष = आय-व्यय का महा-निरीक्षक, ५. कोष्ठगाराध्यक्ष = कोठारी, ६. आयुधगाराध्यक्ष = युद्ध-सामग्री का अधिकारी, ७. पण्याध्यक्ष = बाजार का नियन्त्रक अधिकारी, ८. कुप्याध्यक्ष = वन की वस्तुओं का अध्यक्ष, ९. स्वर्णाध्यक्ष = सोने-चांदी का अध्यक्ष, १०. लोहाध्यक्ष = लोहा आदि धातुओं का अध्यक्ष, ११. सीताध्यक्ष = कृषि विभाग या कर के रूप में एकत्रित धान्य का अध्यक्ष, १२. शुल्काध्यक्ष = चुंगी का अधिकारी, १३. पौतवाध्यक्ष = तोल-माप का नियन्त्रक अधिकारी, १४. मानाध्यक्ष = देश-काल के मानों का नियन्त्रक, १५. सूत्राध्यक्ष = वस्त्र या सूत व्यवसाय का अध्यक्ष, १६. सूनाध्यक्ष = वधस्थान का अधिकारी, १७. नगराध्यक्ष = नगर का प्रमुख अधिकारी, १८. नावध्यक्ष = नौका परिवहन का अधिकारी, १९. गो-अध्यक्ष = गौ आदि दुधारू पशुओं का व्यवस्थापक अधिकारी, २०. अश्वाध्यक्ष = अश्वशाला का अधिकारी, २१. हस्ति-अध्यक्ष = हस्तिशाला का अधिकारी, २२. रथाध्यक्ष = रथसेना का अधिकारी, २३. पत्त्यध्यक्ष = पैदल सेना का अधिकारी २४. मुद्राध्यक्ष = मुद्रा-व्यवस्था का अधिकारी, २५. विविताध्यक्ष = चरागाह का अध्यक्ष २६. लवणाध्यक्ष = टकसाल का अधिकारी, २७. धर्माध्यक्ष = धर्म-निर्णायक अधिकारी।

(२) **विपश्चित का अर्थ**—'विपश्चित्' 'प्रतिभाशाली मेधावी विद्वान्' को कहते हैं। निरुक्त ३। १५ में कहा है—"**विपश्चित् मेधावी-नाम।**" राजा योग्य प्रतिभाशाली, मेधावी, विद्वानों को ही विविध विभागों में अध्यक्ष नियुक्त करे।

राजा स्नातक विद्वानों का सत्कार करे—

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥८२॥ (६३)

(नृपाणां ब्राह्मः एषः अक्षयः निधिः विधीयते) सदा जो राजाओं को वेदप्रचाररूप अक्षय कोश है (गुरुकुलात् आवृत्तानां पूजकः भवेत्) इसके प्रचार के लिए कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल

से आवे, उसका सत्कार, राजा और सभा यथावत् करें (विप्राणाम्) तथा उनका भी जिनके पढ़ाये हुए विद्वान् होवें। इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है ॥ ८२ ॥ (स० प्र० १५०)

युद्ध के लिए गमन तथा युद्धसम्बन्धी व्यवस्थाएँ—

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥ (६४)

(प्रजाः पालयन् राजा) जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राजा को (सम-उत्तम-अधमैः आहूतः तु) अपने से तुल्य, उत्तम और छोटा संग्राम में आह्वान करे तो (क्षात्रं धर्मम्+अनुस्मरन्) क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके (संग्रामात न निवर्तेत) संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपनी ही विजय हो ॥ ८७ ॥ (स० प्र० १५०)

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८९ ॥ (६५)

(आहवेषु) जो संग्रामों में+(अन्यः+अन्यं जिघांसन्तः) एक-दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए (महीक्षितः) राजा लोग (परं शक्त्या अपराङ्मुखाः) जितना सामर्थ्य हो बिना डरे, पीठ न दिखा (युध्यमानाः) युद्ध करते हैं, वे (स्वर्गं यान्ति) सुख को प्राप्त होते हैं ॥

इससे विमुख कभी न हो किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने छिप जाना उचित है। क्योंकि, जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके वैसे काम करें। जैसे सिंह क्रोधाग्नि में सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें ॥ ८९ ॥ (स० प्र० १५०)

+(मिथः) परस्पर........................

युद्ध में किन को न मारे—

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥ (६६)

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥ (६७)

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥ (६८)

(न स्थल+आरूढम्) युद्ध समय में, न इधर-उधर खड़े, (न क्लीबम्) न नपुंसक, (न कृत+अञ्जलिम्) न हाथ जोड़े हुए, (न मुक्तकेशम्) न जिसके शिर के बाल खुल गये हों, (न आसीनम्) न बैठे हुए, (न "तव अस्मि" इति वादिनम्) न "मैं तेरे शरण हूं" ऐसे+को, (न सुप्तम्) न सोते हुए, (न विसन्नाहम्) न मूर्छा को प्राप्त हुए, (न नग्नम्) न नग्न हुए (न निरायुधम्) न आयुध से रहित, (न+अयुध्यमानम्) न युद्ध न करते हुए देखने वाले को, (न परेण समागतम्) न शत्रु के साथी, (न+आयुध-व्यसन-प्राप्तम्) न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, (न आर्त्तम्) न दुःखी (न+अतिपरिक्षतम्) न अत्यन्त घायल, (न भीतम्) न डरे हुए और (न परावृत्तम्) न पलायन करते हुए पुरुष को (सतां धर्मम्+अनुस्मरन्) सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए (हन्यात्) योद्धा लोग कभी मारें ॥

+(वादिनम्) कहते हुए—

"किन्तु उनको पकड़के, जो अच्छे हों उन्हें बन्दीगृह में रखदे और भोजन आच्छादन यथावत् देवे। और जो घायल हुए हों उनको औषध आदि विधिपूर्वक करे। न उनको चिढ़ावे, न दुःख देवे, जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इस पर ध्यान रखे कि स्त्री, बालक, वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनमें लड़कों को अपने सन्तानवत् पाले और स्त्रियों को भी पाले, उनको अपनी बहन और कन्या के समान समझे कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाये और जिनसे पुनः-पुनः युद्ध करने की शंका न हो उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेज देवे। और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना संभव हो उनको सदा कारागार में रखे ॥ ९१, ९२, ९३ ॥" (स० प्र० १५०)

युद्ध से पलायन करने वाला अपराधी होता है—

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥ (९६)

(यः तु) और जो (संग्रामे) युद्धक्षेत्र में (परावृत्तः) पीठ दिखाकर भाग जाये, अथवा (भीतः परैः हन्यते) डरकर भागता हुआ शत्रुओं के द्वारा मारा जाये, उसे (भर्तुः) राजा की ओर से प्राप्त होने वाला (यत् किंचित् दुष्कृतम्) जो भी कुछ दण्ड, अपराधीभाव व बुराई है (तत् सर्वं प्रतिपद्यते) उस सब का पात्र बनकर वह दण्डनीय होता है अर्थात् राजा के मन में उसकी श्रेष्ठता का प्रभाव समाप्त हो जाता है [९५] और राजा उसकी

सुख-सुविधा को छीनकर दण्ड देता है ॥ ९४ ॥*

"और जो पलायन अर्थात् भागे और डरा हुआ भृत्य शत्रुओं द्वारा मारा जाये वह उस स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर दण्डनीय होवे।"
(स० प्र० १५०)

अनुशीलन : 'दुष्कृत' आदि पाप के पर्यायवाची शब्दों का अर्थ समझने के लिए द्रष्टव्य ८।३१६ पर अनुशीलन।

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥ (७०)

(च) और (यत् किंचित् अस्य सुकृतम्) जो उसकी प्रतिष्ठा है (अमुत्रार्थम्+उपार्जितम्) जिससे इस लोक और परलोक में सुख होने वाला था [९६, ९७ आदि] (तत् सर्वं भर्ता आदत्ते) उसको उसका स्वामी ले लेता है (परावृत्तहतस्य तु) जो भागा हुआ मारा जाये उसको कुछ भी सुख नहीं होता, उसका पुण्यफल नष्ट हो जाता और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त होता है जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो ॥ ९५ ॥
(स० प्र० १५०)

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥ (७१)

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि (यः यत्) लड़ाई में जिस-जिस अमात्य वा अध्यक्ष ने (रथ+अश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः) रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियां (च) तथा (सर्वद्रव्याणि) अन्य प्रकार के सब द्रव्य (कुप्यम्) और घी, तेल आदि के कुप्पे (जयति) जीते हों (तत् तस्य) वही उस-उस का ग्रहण करे ॥ ९६ ॥
(स० प्र० १५०)

जीते हुए धन से राजा को 'उद्धार' देना—

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥ (७२)

(च) परन्तु सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से (उद्धारं राज्ञः दद्युः) सोलहवां भाग राजा को देवें (च) और (राज्ञा) राजा भी

---

* [प्रचलित अर्थ]—युद्ध में डरकर विमुख जो योद्धा शत्रुओं से मारा जाता है; वह स्वामी का जो कुछ पाप है, उसे प्राप्त करता है ॥ ९४ ॥

(सर्वयोधेभ्यः) सेनास्थ योद्धाओं को (अपृथक्जितम्) उस धन में जो सब ने मिलकर जीता हो (दातव्यम्) सोलहवां भाग देवे ॥

"और जो कोई युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसको स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जावें तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्दवृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभी न करे" ॥ ९७ ॥

(स० प्र० १५०)

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥ ९८ ॥ (७३)

(एषः) यह [८७-९७] (अनुपस्कृतः) अनिन्दित (सनातनः) सर्वदा मान्य (योधधर्मः प्रोक्तः) योद्धाओं का धर्म कहा, (क्षत्रियः) क्षत्रिय व्यक्ति (रणे रिपून् घ्नन्) युद्ध में शत्रुओं को मारते हुए (अस्मात् धर्मात् न च्यवेत) इस धर्म से विचलित न होवे ॥ ९८ ॥

राजा द्वारा चिन्तनीय बातें—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ९९ ॥ (७४)

राजा और राजसभा (अलब्धं च+एव लिप्सेत) अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा (लब्धं प्रयत्नतः रक्षेत्) प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे (रक्षितं वर्धयेत्) रक्षित को बढ़ावें (च) और (वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्) बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावे ॥ ९९ ॥ (स० प्र० १५२)

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥ (७५)

(एतत् चतुर्विधम्) यह चार प्रकार का (पुरुषार्थप्रयोजनम्) राज्य के लिए पुरुषार्थ करने का उद्देश्य (विद्यात्) समझना चाहिए, राजा (अतन्द्रितः) आलस्य रहित होकर (अस्य नित्यं सम्यक् अनुष्ठानं कुर्यात्) इस उद्देश्य का सदैव पालन करता रहे ॥ १०० ॥

"इस चार प्रकार के पुरुषार्थ के प्रयोजन को जाने, आलस्य छोड़कर इसका भलीभांति नित्य अनुष्ठान करे।" (स० प्र० १५४)

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्धया वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत ॥ १०१ ॥ (७६)

(दण्डेन अलब्धम्+इच्छेत्) दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा (अवेक्षया) नित्य देखने से (लब्धं रक्षेत्) प्राप्त की रक्षा (रक्षितं वृद्धया वर्धयेत्) रक्षित की वृद्धि अर्थात् ब्याजादि से बढ़ावे (वृद्धम्) और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त [९९] मार्ग में नित्य व्यय करे॥ ॥ १०१ ॥

(स० प्र० १५२)

॥ अर्थात् (पात्रेषु निःक्षिपेत्) सुपात्रों एवं योग्य कर्मों में व्यय करे।

"राजाधिराज पुरुष अलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा दण्ड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा देखभाल करके, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सबकी उन्नति सदा किया करें ॥ (सं० वि० १५५)

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥ (७७)

राजा (नित्यम्+उद्यतदण्डः स्यात्) सदैव न्यायानुसार दण्ड का प्रयोग करने में तत्पर रहे, (नित्यं विवृतपौरुषः) सदैव पराक्रम दिखलाने के लिए तैयार रहे, (नित्यं संवृतसंवार्यः) सदैव राज्य के गोपनीय कार्यों को गुप्त रखे, (नित्यम् अरेः छिद्रानुसारी) सदैव शत्रु के छिद्रों=कमियों को खोजता रहे और उन त्रुटियों को पाकर अवसर मिलते ही अपने हित को चतुराई से पूर्ण कर ले ॥ १०२ ॥

अनुशीलन : 'छिद्र' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ ७ । १०५ के अनुशीलन में द्रष्टव्य है ।

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥ (७८)

(नित्यम्+उद्यतदण्डस्य) जिस राजा के राज्य में सर्वदा दण्ड के प्रयोग का निश्चय रहता है तो उससे (कृत्स्नं जगत् उद्विजते) सारा जगत् भयभीत रहता है (तस्मात्) इसीलिए (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (दण्डेनैव प्रसाधयेत्) दण्ड से साधे अर्थात् दण्ड के भय से अनुशासन में रखे ॥ १०३ ॥

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ।
बुद्धयेतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥ (७९)

(कथंचन) कदापि (मायया न वर्तेत) किसी के साथ छल से न वर्ते (अमायया+एव) किन्तु निष्कपट होकर सबसे बर्ताव रखे (च) और (नित्यं स्वसंवृत:) नित्यप्रति अपनी रक्षा करके (अरिप्रयुक्तां मायां बुध्येत) शत्रु के किये हुए छल को जान के निवृत्त करे ॥ १०४ ॥ (स० प्र० १५२)

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥ (८०)

(पर: अस्य छिद्रं न विद्यात्) कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान सके (तु) और (परस्य छिद्रं विद्यात्) स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहे (कूर्म+इव+अङ्गानि) जैसे कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है वैसे (आत्मन: विवरं गूहेत् रक्षेत्) शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रखे ॥ १०५ ॥ (स० प्र० १५२)

अनुशीलन : (१) **छिद्र का अर्थ**—त्रुटि, कमजोरी, निर्बलता आदि ऐसी कमी जिससे शत्रु लाभ उठाकर स्वयं को हानि पहुँचा सके। **'छिनत्ति यत् तत् छिद्रम्=न्यूनत्वम्'**। **'छिदिर् द्वैधीकरणे'** धातु से **'स्फायितञ्चि…'**(उणादि २.१३) सूत्र से रक् प्रत्यय के योग से छिद्र शब्द सिद्ध होता है।

(२) **कौटिल्य द्वारा उद्धृत श्लोक**—मनु का यह श्लोक कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र प्रक० १०। अ० १४ में सामान्य पाठभेद के साथ उद्धृत किया है।

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥ (८१)

(बकवत् अर्थान् चिन्तयेत्) जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छी के पकड़ने को ताकता है वैसे अर्थसंग्रह का विचार किया करे, द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए (सिंहवत् पराक्रमेत्) सिंह के समान पराक्रम करे (वृकवत् अवलुम्पेत) चीते के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े (च) और समीप में आये बलवान् शत्रुओं से (शशवत् विनिष्पतेत्) सुस्से [=खरगोश] के समान दूर भाग जाये और पश्चात् उनको छल से पकड़े ॥ १०६ ॥ (स० प्र० १५२)

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ ॥ १०७ ॥ (८२)

(एवं विजयमानस्य) इस प्रकार विजय करने वाले सभापति के राज्य में (ये परिपन्थिन: स्यु:) जो परिपंथी अर्थात् डाकू-लुटेरे हों (तान्) उनको (साम+आदिभि:) साम=मिला देना, दाम=कुछ देकर, भेद=तोड़-फोड़ करके ॐ (वशम् आनयेत्) वश में करे ॥ १०७ ॥ (स० प्र० १५२)

* (उपक्रमैः) इन उपायों से................

अनुशीलन : परिपन्थिन् का व्याकरण—'परिपन्थिन्,' शब्द '**छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि**' (अ० ५।२।८९) सूत्र के अनुसार वेद में निपातन रूप है। पाणिनि के अनुसार वेद में ही निपातन है किन्तु साथ-साथ संस्कृत-साहित्य में भी यह प्रयोग इसी रूप में प्रचलित है। इसके 'शत्रु', 'चोर', 'डाकू', 'लुटेरा', 'कार्यों में रुकावट डालने वाला' आदि अर्थ हैं।

१०७, ११० श्लोकों में उक्त 'परिपंथी' शब्द का व्यापक अर्थ है। इससे उन डाकू, चोर, लुटेरों का भी ग्रहण है जो प्रजाओं के अतिरिक्त, राज्य के विकास में रोड़ा अटका कर बाधा डालने वाले, विरोध करके अराजकता फैलाने वाले और राज्यापहरण के लिए षड्यन्त्र करके शत्रु की सहायता करने वाले व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्ति को राजा कठोरता से वश में करे।

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥ (८३)

(यदि) यदि (ते) वे शत्रु डाकू, चोर आदि (प्रथमैः त्रिभिः उपायैः न तिष्ठेयुः तु) पूर्वोक्त साम, दाम, भेद इन तीन उपायों से शान्त न हों या वश में न आयें तो राजा (एतान्) इन्हें (दण्डेन+एव) दण्ड के द्वारा ही (प्रसह्य) बलपूर्वक (शनकैः वशम्+आनयेत्) सावधानीपूर्वक वश में लाये ॥ १०८ ॥

"और जो इनसे वश में न हों तो अतिकठिन दण्ड से वश में करे।"
(स० प्र० १५३)

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥ (८४)

(यथा) जैसे (निर्दाता) धान्य का निकालने वाला (कक्षम् उद्धरति धान्यं च रक्षति) छिलकों को अलग कर धान्य की रक्षा करता अर्थात् टूटने नहीं देता है (तथा) वैसे (नृपः) राजा (परिपन्थिनः हन्यात्) डाकू-चोरों को मारे (च) और (राष्ट्रं रक्षेत्) राज्य की रक्षा करे ॥ ११० ॥
(स० प्र० १५३)

राजा प्रजा का शोषण न होने दे—

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥१११॥(८५)

(यः राजा) जो राजा (मोहात् अनवेक्षया) मोह में, अविचार से

(स्वराष्ट्रं कर्षयति) अपने राज्य को दुर्बल करता है (सः) वह (राज्यात्) राज्य से (च) और (सबान्धवः जीवितात्) बन्धुसहित जीने से पूर्व ही (अचिरात्) शीघ्र (भ्रश्यते) नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥ १११ ॥

(स० प्र० १५३)

प्रजा के शोषण से हानि—

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥ (८६)

(यथा) जैसे (प्राणिनां प्राणाः) प्राणियों के प्राण (शरीरकर्षणात् क्षीयन्ते) शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं (तथा) वैसे ही (राष्ट्रकर्षणात्) प्रजाओं को दुर्बल करने से (राज्ञाम्+अपि प्राणाः) राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धुसहित (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं ॥ ११२ ॥

(स० प्र० १५३)

अनुशीलन : **राष्ट्रकर्षण से अभिप्राय**—श्लोक १११-११२ में राष्ट्र-कर्षण से अभिप्राय यह है कि डाकू-लुटेरों द्वारा या स्वयं राजा द्वारा, अन्य प्रजाजनों अथवा राजपुरुषों द्वारा किसी भी प्रकार से प्रजा का शोषण-उत्पीड़न होना। जिस प्रजा में शोषण-उत्पीड़न बढ़ जाता है, उस राजा का राज्य रूपी शरीर भी नष्ट हो जाता है।

राष्ट्र के नियन्त्रण के उपाय—

राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥ (८७)

इसलिए राजा (राष्ट्रस्य संग्रहे) राष्ट्र की सुव्यवस्था, नियन्त्रण एवं अभिवृद्धि के लिए (नित्यम्) सदैव (इदं विधानम् आचरेत्) इस निम्न वर्णित व्यवस्था [११४-१४४] को लागू करे (हि) क्योंकि (सुसंगृहीत-राष्ट्रः पार्थिवः) सुरक्षित, नियन्त्रित तथा सुव्यवस्थित राष्ट्र वाला राजा ही (सुखम्+एधते) सुखपूर्वक रहते हुए बढ़ता है—उन्नति करता है ॥ ११३ ॥

"इसलिए राजा और राजसभा राजकार्य की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य यथावत् सिद्ध हो। जो राजा राज्य पालन में सब प्रकार तत्पर रहता है उसको सदा सुख बढ़ता है।"

(स० प्र० १५३)

नियन्त्रण केन्द्रों और राजकार्यालयों का निर्माण—

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।

तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥ (८८)

इसलिए (द्वयोः त्रयाणां पञ्चानां मध्ये) दो, तीन और पांच गांवों के बीच में (गुल्मम्+अधिष्ठितम्) एक-एक नियन्त्रण केन्द्र या उन्नत राजकार्यालय बनाये (तथा ग्रामशतानाम्) इसी प्रकार सौ गांव तक कार्यालयों का निर्माण करे [जैसा कि ७।११५–११७ में वर्णन है, उसके अनुसार] (च) और इस व्यवस्था के अनुसार (राष्ट्रस्य संग्रहं कुर्यात्) राष्ट्र को सुव्यवस्थित, सुरक्षित एवं वशीभूत रखे ॥ ११४ ॥

"इसलिए दो, तीन, पांच और सौ गांव के बीच में एक राज-स्थान रखके जिसमें यथायोग्य भृत्य और कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर सब राज्यों के कार्यों को पूर्ण करे।" (स० प्र० १५३)

अवर अधिकारियों आदि की नियुक्ति—

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥ (८९)

(ग्रामस्य+अधिपतिं कुर्यात्) एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को रखे (तथा दशग्रामपतिम्) उन्हीं दश के ऊपर दूसरा (विंशति+ईशम्) उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा (शत+ईशम्) उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा (च) और (सहस्रपतिम्+एव) उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवां पुरुष रखे।

अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दशग्रामों में एक थाना और दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पांच थानों पर एक तहसील और दस तहसीलों पर एक जिला नियत किया है" ॥ ११५ ॥
(स० प्र० १५३)

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥ ११६ ॥ (९०)

इसी प्रकार प्रबंध करे और आज्ञा देवे कि (ग्रामिकः) वह एक-एक ग्रामों के पति (ग्रामदोषान् समुत्पन्नान्) ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों उन-उनको (शनकैः स्वयम्) गुप्तता से (ग्रामदशेशाय) दशग्राम के पति को (शंसेत्) विदित कर दे, और (दशेशः) वह दश ग्रामाधिपति उसी प्रकार (विंशति+ईशिने) बीस ग्राम के स्वामी को दशग्रामों का वर्तमान [की स्थिति] नित्यप्रति जनावे ॥ ११६ ॥ (स० प्र० १५३)

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥ (६१)

(तु) और (विंशतीशः) बीस ग्रामों का अधिपति (तत् सर्वम्) बीस ग्रामों के वर्तमान को [=बीस ग्रामों की स्थिति को] (शतेशाय निवेदयेत्) शतग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे (शतेशः तु) वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति (स्वयम्) आप (सहस्राधिपति) अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को (शंसेत्) सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जनाया करें ॥ ११७ ॥

(स० प्र० १५३)

अनुशीलन :

राज्यसंरक्षण के लिए मनुप्रोक्त नियन्त्रणकेन्द्र-कार्यालय-व्यवस्था-तालिका

१—केन्द्रीय कार्यालय राजधानी अर्थात् राजा का किला	(७।६९-७६)
२—प्रत्येक नगर में एक सचिवालय	(७।१२१)
३—सौ गांवों पर मुख्य कार्यालय	(७।११४-११७)
४—बीस गांवों पर कार्यालय	(,, ,,)
५—दश गांवों पर कार्यालय	(,, ,,)
६—पांच गांवों पर कार्यालय	(,, ,,)
७—दो गांवों पर फिर एक कार्यालय	(,, ,,)

[अपने से ऊपर-ऊपर के कार्यालयों को प्रतिदिन की गतिविधियों से सूचित करें, (७ । ११५–११७)]

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२० ॥(६२)

(तेषाम्) उन पूर्वोक्त अध्यक्षों [११६–११७] के (ग्राम्याणि कार्याणि) गांवों से सम्बद्ध राजकार्यों को (च) और (पृथक् कार्याणि एव हि) अन्य भिन्न-भिन्न कार्यों को भी (राज्ञः+अन्यः स्निग्धः सचिवः) राजा का एक विश्वासपात्र प्रमुख मन्त्री [७ । ५४] (अनन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (पश्येत्) देखे ॥ १२० ॥

"और एक-एक, दश दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें जिनमें एक राजसभा में और दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीश राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें ।" (स० प्र० १५३)

अनुशीलन : मनु ने विभिन्न श्लोकों में समुचित राज्य-संचालन के लिए तीन सभाओं की संरचना का तथा उनमें काम करने वाले अधिकारियों का कथन किया है। सुगमता के लिए उन्हें एकत्र स्थान पर अग्रिम तालिका के रूप में दिखाया जा रहा है। आजकल भी भारत में इसी प्रणाली का अनुसरण किया जा रहा है। अन्तर केवल इतना ही है कि उन्हें सभा न कहकर 'पालिका' कहा जाता है। आजकल तीन पालिकाएं राज्यसम्बन्धी व्यवस्थाओं को निपटाती हैं,

(१) विधानपालिका (विधान बनाने वाली परिषद्),

(२) कार्यपालिका (विधानों एवं नियमों को क्रियात्मक रूप देने वाले अधिकारी/कर्मचारियों का वर्ग),

(३) न्यायपालिका (न्याय करने वाले अधिकारी गण)। तालिका इस प्रकार है— (पृष्ठ ३३० पर देखिये)

नगरों में सचिवालय का निर्माण—

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥ (९३)

राजा (नगरे नगरे) बड़े-बड़े प्रत्येक नगर में (एकम्) एक-एक (नक्षत्राणां ग्रहम् इव) जैसे नक्षत्रों के बीच में चन्द्रमा है इस प्रकार विशाल और देखने में प्रभावकारी (घोररूपम्) भयकारी अर्थात् जिसे देखकर या जिसका ध्यान करके प्रजाओं में नियमों के विरुद्ध चलने में भय का अनुभव हो (सर्व+अर्थचिन्तकम्) जिसमें सब राजकार्यों के चिन्तन और प्रजाओं की व्यवस्था और कार्यों के संचालन का प्रबन्ध हो ऐसा (उच्चैः स्थानम्) ऊंचा भवन अर्थात् सचिवालय (कुर्यात्) बनावे ॥ १२१ ॥

"बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करने वाली सभा का सुन्दर, उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है, वैसा एक-एक घर बनावें। उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें"। (स० प्र० १५५)

राजकर्मचारियों के आचरण का निरीक्षण—

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥ (९४)

(सः) वह [७ । १२० में वर्णित] सचिव=प्रमुख मन्त्री (तान् सर्वान् सदा स्वयम् अनुपरिक्रामेत्) उन निर्मित [७ । १२१] सब सचिवालयों का स्वयं घूम-फिरकर निरीक्षण करता रहे (च) और (राष्ट्रे) देश में

मनुप्रोक्त, राज्यसंचालन के लिए सभा/मन्त्री/अधिकारी/कर्मचारी-प्रणाली (तालिका)

राजा [मुख्य राजसभाध्यक्ष, कोई भी विद्वान्, जितेन्द्रिय क्षत्रिय ७ । २—७]

(१) राजसभा

[राज्य संचालन का कार्य, नीति निर्धारण]

१. ७-८ प्रमुख मन्त्री, आवश्यकतानुसार अधिक भी। (७ । ५४-५७, ६०-६१)
२. प्रवर सचिव (७ । ६०, ६१)
३. सहयोगी अधिकारी एवं दूताधिकारी (७ । ६२, ६३, ६८)
४. विभागों के अध्यक्ष (७ । ८१)
५. सहस्रग्रामप्रधान (७ । ११५-११७)
६. शतग्रामप्रधान (,, ,,)
७. बीसग्रामप्रधान (,, ,,)
८. दशग्रामप्रधान (,, ,,)
९. एकग्रामप्रधान (,, ,,)
१०. कर्मचारी गण (७।८१, १२०, १२३-१२५)

[ये सब एक प्रमुख मन्त्री के अधीन होंगे और प्रत्येक प्रमुख मन्त्री अपने-अपने विभागों तथा कर्मचारियों का निरीक्षण करे, (७।१२०)]

(२) ब्रह्मसभा या न्यायसभा

[न्याय करने का कार्य ८ । १, ११-२६]

१. राजा या राजा का अधिकृत विद्वान् मुख्य न्यायाधीश (८ । १, ११)
२. वेदविद्याओं के ज्ञाता तीन विद्वान्
३. मुकद्दमों के अनुसार उस-उस विषय के सलाहकार (८ । १)

(३) धर्मनिर्णय सभा या विधानपरिषद्

[धर्म का निश्चय, धर्मसंशय में निर्णय देना १२ । १०८, ११०, ११२, जिसमें दश और कम से कम तीन विद्वान् होते हैं]

क—दश सदस्यों की परिषद् व उसके सदस्य

१. ऋक्विद्या का ज्ञाता (१२ । १११)
२. यजुर्विद्या का ज्ञाता (,,)
३. सामविद्या का ज्ञाता (,,)
४. कारण-अकारण का ज्ञाता विद्वान् = हेतुक (,,)
५. निरुक्त शास्त्र का ज्ञाता (,,)
६. धर्मशास्त्र का ज्ञाता (,,)
७. ब्रह्मचर्याश्रम का एक प्रतिनिधि विद्वान् (,,)
८. गृहस्थाश्रम का एक प्रतिनिधि विद्वान्
९. वानप्रस्थ आश्रम का एक प्रतिनिधि विद्वान् (,,)
१०. न्यायशास्त्र का ज्ञाता, तर्क करने वाला विद्वान् (,,)

ख—तीन सदस्यों की परिषद्

१. ऋक्विद्या का ज्ञाता (१२ । ११२)
२. यजुर्विद्या का ज्ञाता (,,)
३. सामविद्या का ज्ञाता (,,)

(तत्+चरैः) अपने दूतों के द्वारा (तेषां वृत्तं परिणयेत्) वहां नियुक्त राजपुरुषों के आचरण की गुप्तरीति से जानकारी प्राप्त करता रहे ॥ १२२ ॥

"जो नित्य घूमने वाला सभापति हो उसके अधीन सब गुप्तचर और दूतों को रखे, जो राजपुरुष और भिन्न-भिन्न जाति के रहें, उन से सब राज और प्रजा पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्तरीति से जाना करे। जिनका अपराध हो उनको दंड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे"। (स० प्र० १५५—१५६)

रिश्वतखोर कर्मचारियों पर दृष्टि रखे—

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३॥ (९५)

(हि) क्योंकि (प्रायेण) प्रायः (राज्ञः रक्षाधिकृताः भृत्याः) राजा के द्वारा प्रजा की सुरक्षा के लिए नियुक्त राजसेवक (परस्वादायिनः) दूसरों के धन के लालची अर्थात् रिश्वतखोर और (शठाः) ठग या धोखा करने वाले (भवन्ति) हो जाते हैं (तेभ्यः) ऐसे राजपुरुषों से (इमाः प्रजाः रक्षेत्) अपनी प्रजाओं की रक्षा करे अर्थात् ऐसे प्रयत्न करे कि वे प्रजाओं के साथ या राज्य के साथ ऐसा वर्ताव न करपायें ॥ १२३ ॥

"राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे वे धार्मिक, सुपरीक्षित विद्वान्, कुलीन हों। उनके आधीन प्रायः शठ और परपदार्थ हरने वाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रखके, उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिए राजा के नौकर करके, उन्हीं रक्षा करने वाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करे"। (स० प्र० १५६)

रिश्वतखोर कर्मचारियों को दण्ड—

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥ (९६)

(पापचेतसः) पापी मन वाले (ये) जो रिश्वतखोर और ठग राजपुरुष (कार्यिकेभ्यः) यदि काम कराने वालों और मुकद्दमे वालों से (अर्थं गृह्णीयुः एव) फिर भी धन अर्थात् रिश्वत ले ही लें तो (तेषां सर्वस्वम्+आदाय) उनका सब कुछ अपहरण करके (राजा) राजा (प्रवासनम् कुर्यात्) उन्हें देश निकाला दे दे ॥ १२४ ॥

"जो राजपुरुष अन्याय से वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे उसका सर्वस्व हरण करके, यथायोग्य दण्ड देकर, ऐसे देश में रखे कि जहां से पुनः लौटकर न आ सके। क्योंकि यदि उसको दण्ड न

दिया जाये तो उसको देखके अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करेंगे और दण्ड दिया जाये तो बचे रहेंगे ।" (स० प्र० १५६)

कर्मचारियों के वेतन का निर्धारण—

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥ (६७)

(राजा) राजा (कर्मसु युक्तानाम्) राजकार्यों में नियुक्त राजपुरुषों (स्त्रीणाम्) स्त्रियों (च) और (प्रेष्यजनस्य) सेवकवर्ग की (कर्म+अनुरूपतः) पद और काम के अनुसार (प्रत्यहम्) प्रतिदिन की (स्थानं वृत्तिं कल्पयेत्) कर्मस्थान और जीविका निश्चित कर दे ॥ १२५ ॥

"जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भलीभांति हो और वे भलीभांति धनाढ्य भी हों, उतना धन वा भूमि राज्य की ओर से मासिक वा वार्षिक अथवा एक बार मिला करे। और जो वृद्ध हों उनको भी आधा मिला करे, परन्तु यह ध्यान में रखे कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहे पश्चात् नहीं। परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे। और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उनकी स्त्री जीती हो तो उन सब के निर्वाहार्थ राज की ओर से यथा-योग्य धन मिला करे। परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जायें तो कुछ भी न मिले ऐसी नीति राजा बराबर रखे"। (स० प्र० १५६)

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥१२६॥(६८)

(अवकृष्टस्य पणः) निम्नस्तर के भृत्य को कम से कम एक पण और (उत्कृष्टस्य षट्) ऊंचे स्तर के भृत्य को छः पण (वेतनं देयः) वेतन प्रतिदिन देना चाहिए (तथा) तथा उन्हें (षाण्मासिकः आच्छादः) प्रति छः महीने पर ओढ़ने पहरने के वस्त्र [=वेशभूषा] (तु) और (मासिकः धान्यद्रोणः) एक महीने में एक द्रोण [६४ सेर] धान्य=अन्न, देना चाहिए ॥ १२६ ॥

अनुशीलन : कौटिल्य के अनुसार मन्त्रियों से सेवकों तक का भरण-पोषण व्यय—आचार्य कौटिल्य ने अपने समय के मूल्यस्तर के अनुसार राजा के परिजनों से लेकर, मन्त्रियों, अमात्यों, अध्यक्षों, निम्नस्तरीय कर्मचारियों तक की भृति=भरण-पोषण व्यय या वेतन का निर्धारण किया है। कौटिल्य के अनुसार धन और भूमि दोनों ही भृति के रूप में प्रदान करनी चाहिएं। भूमि के सम्बन्ध में यह शर्त रखी है कि उसे कोई बेच नहीं सकता, न गिरवी रख सकता है [[illegible]]। उन्होंने भृति या वेतन का निर्धारण प्रमुखरूप से निम्न प्रकार किया है—

१. ऋत्विक्, आचार्य, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता, और रानी, इनको प्रतिवर्ष अड़तालीस हजार पण दिये जायें।

२. द्वारपाल, अन्तःपुर का अधिकारी, आयुधाध्यक्ष, समाहर्त्ता=कर संग्रह का अधिकारी, कोष्ठागाराध्यक्ष, इनको चौबीस हजार पण प्रतिवर्ष।

३. राजकुमार के भाई, उपसेनापति, व्यापाराध्यक्ष, नगराध्यक्ष, कृषि-अध्यक्ष आदि को एक हजार पण प्रतिवर्ष।

४. प्रथम श्रेणी के वास्तुकर्मविशेषज्ञ, हस्ति-अश्व-रथ-अध्यक्ष, दण्डाधिकारी आठ सौ पण वेतन प्रतिवर्ष।

इसी प्रकार सेना के विविध विभागीय अध्यक्षों को, सैन्य-शिक्षकों को दो-दो हजार पण से आठ सौ पण प्रतिवर्ष। शिल्पी, आय-विभाग के कर्मचारी, क्लर्क, गुप्त-चर, वैद्य, गायक, वादक, आदि को एक हजार पण से एक सौ बीस पण तक प्रतिवर्ष वेतन का विधान किया है [प्र० ९१। अ० ३]।

कर-ग्रहण सम्बंधी व्यवस्थाएं—

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥ (९९)

(क्रय-विक्रयम्) खरीद और बिक्री (भक्तम्) भोजन (च) तथा (अध्वानम्) मार्ग की दूरी आदि, (सपरिव्ययम्) भरण-पोषण का व्यय (च) और (योगक्षेमम्) लाभ, वस्तु की प्राप्ति एवं सुरक्षा और जनकल्याण (संप्रेक्ष्य) इन सब बातों पर विचार करके (वणिजः करान् दापयेत्) राजा को व्यापारी से कर लेने चाहिएं ॥ १२७ ॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥१२८॥ (१००)

(यथा) जैसे (राजा) राजा (च) और (कर्मणां कर्त्ता) कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष व प्रजाजन (फलेन युज्येत) सुखरूप फल से युक्त होवे (तथा) वैसे (अवेक्ष्य) विचार करके (नृपः) राजा तथा राज्यसभा (राष्ट्रे करान् सततं कल्पयेत्) राज्य में कर-स्थापन करे ॥ १२८ ॥ (स० प्र० १५६)

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥१२९॥ (१०१)

(यथा) जैसे (वार्योकः-वत्स-षट्पदाः) जोंक, बछड़ा और भंवरा (अल्प+अल्पम् आद्यम् अदन्ति) थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं (तथा) वैसे (राज्ञा राष्ट्रात्) राजा प्रजा से (अल्पः+अल्पः) थोड़ा-थोड़ा (आब्दिकः करः गृहीतव्यः) वार्षिक कर लेवे ॥ १२९ ॥

(स० प्र० १५६)

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥ १३० ॥ (१०२)

(राजा) राजा को (पशु-हिरण्ययोः) पशुओं और सोने के लाभ में से (पञ्चाशत् भागः) पचासवां भाग, और (धान्यानां षष्ठः, अष्टमः वा द्वादशः एव आदेयः) अन्नों का छठा, आठवां या अधिक से अधिक बारहवां भाग ही लेना चाहिए ॥ १३० ॥

"जो व्यापार करने वाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चांदी का जितना लाभ हो उसमें से पचासवां भाग, चावल आदि अन्नों में छठा आठवां वा बारहवां भाग लिया करे और जो धन लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।" (स० प्र० १६५)

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥ (१०३)

(अथ) और (द्रुमांस-सर्पिषाम्) गोंद, मधु, घी (च) और (गन्ध-औषधि-रसानाम्) गंध, औषधि, रस (च) तथा (पुष्प-मूल-फलस्य) फूल, मूल और फल, इनका (षड्भागम् आददीत) छठा भाग कर में लेवे ॥१३१॥

पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२ ॥ (१०४)

(च) और (पत्र-शाक-तृणानाम्) वृक्षपत्र, शाक, तृण (चर्मणां वैदलस्य) चमड़ा, बांसनिर्मित वस्तुएं (मृण्मयानां भाण्डानाम्) मिट्टी के बने बर्तन (च) और (सर्वस्य अश्ममयस्य) सब प्रकार के पत्थर से निर्मित पदार्थ, इनका भी छठा भाग कर ले ॥ १३२ ॥

अनुशीलन : मनुप्रोक्त कर-व्यवस्थाएं सर्वप्राचीन एवं सर्वाधिक मान्य—मनु सर्वप्रथम समाजव्यवस्थाओं के प्रवर्तक थे। एक राजा के रूप में उन्होंने इन व्यवस्थाओं को लागू कर समाज को व्यवस्थित एवं संगठित किया। अन्य व्यवस्थाओं की तरह जिस कर व्यवस्था का उन्होंने निर्धारण किया था, लगभग वैसी ही आज तक चलती आ रही है। इससे ज्ञात होता है कि मनु की व्यवस्थाओं और मनुस्मृति की समाज में सर्वोच्च मान्यता थी। इसकी पुष्टि कौटिल्य अर्थशास्त्र के निम्न वचनों से होती है—

"मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्य-षड्भागं पण्य-दशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृताः राजानः प्रजानां योग-क्षेमवहाः। तेषां किल्विषं दण्डकरा हरन्ति, योगक्षेमवहाश्च प्रजानाम्।"
[अर्थ० १। अ० १२]

अर्थात्—'जैसे बड़ी मछली छोटी निर्बल मछली को खा जाती है, इसी प्रकार बलवान् लोगों ने निर्बलों का जीना मुश्किल कर दिया। इस अन्याय से पीड़ित हुई प्रजाओं ने अपनी सुरक्षा और कल्याण के लिए विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा नियुक्त किया। और तभी से प्रजाओं ने अपनी खेती की उपज का छठा भाग, व्यापार की आमदनी का दसवां भाग तथा कुछ सुवर्ण राजा को 'कर' के रूप में देना निश्चित कर दिया। इस कर को पाकर राजाओं ने प्रजाओं की सुरक्षा और कल्याण की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर स्वीकार की। इस प्रकार ये निर्धारित 'कर' और 'दण्ड'-व्यवस्थाएं प्रजाओं के कष्टों को निवारण करने और उनका कल्याण करने में सहायक सिद्ध होती हैं।

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥ (१०५)

(राष्ट्रे) राज्य में (व्यवहारेण जीवन्तं पृथक्जनम्) व्यापार से जीविका करने वाले प्रत्येक व्यक्ति से (राजा) राजा (यत् किंचित्+अपि) जो कुछ भी (वर्षस्य करसंज्ञितम्) वार्षिक करके रूप में निर्धारित होता हो वह भाग (दापयेत्) राज्य के लिए दिलवाये अर्थात् ग्रहण करे ॥ १३७ ॥

करग्रहण में अतितृष्णा हानिकारक—

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥१३९॥(१०६)

(अतितृष्णया) अतिलोभ से (आत्मनः) अपने ❀ (परेषां मूलम्) दूसरों के सुख के मूल को (न उच्छिन्द्यात्) उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे (हि) क्योंकि जो+(मूलम् उच्छिन्दन्) व्यवहार और सुख के मूल का छेदन करता है वह (आत्मानं च तान् पीडयेत्) अपने और उन को पीड़ा ही देता है ॥ १३९ ॥ (स० प्र० १५६)

❀ (च) और·········

+ (आत्मनः) अपने······

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥ १४० ॥ (१०७)

(महीपतिः) जो महीपति (कार्यं वीक्ष्य) कार्य को देखकर (तीक्ष्णः च मृदुः एव स्यात्) तीक्ष्ण और कोमल भी होवे (तीक्ष्णः च एव) वह दुष्टों पर तीक्ष्ण (च) और (मृदुः एव) श्रेष्ठों पर कोमल रहने से (राजा संमतः भवति) अतिमाननीय होता है ॥ १४० ॥ (स० प्र० १५६)

रुग्णावस्था में प्रधान अमात्य को राजसभा का कार्य सौंपना—

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥ (१०८)

(नृणां कार्यक्षणे खिन्नः) प्रजा के कार्यों की देखभाल करने में रुग्णता आदि के कारण अशक्त होने पर (तस्मिन् आसने) उस अपने आसन पर (धर्मज्ञम्) न्यायकारी धर्मज्ञाता (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् (दान्तम्) जितेन्द्रिय (कुलोद्गतम्) कुलीन (अमात्यमुख्यम्) सबसे प्रधान अमात्य = मन्त्री को (स्थापयेत्) बिठा देवे अर्थात् रुग्णावस्था में प्रधान अमात्य को अपने स्थान पर राजकार्य संपादन के लिए नियुक्त करे ॥ १४१ ॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥ (१०९)

(एवम्) इस प्रकार (सर्वम् इतिकर्त्तव्यं विधाय) सब राज्य का प्रबन्ध करके (युक्तः) सदा इसमें युक्त (च) और (अप्रमत्तः) प्रमाद रहित होकर (आत्मनः इमाः प्रजाः परिरक्षेत्) अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे ॥ १४२ ॥ (स० प्र० १५७)

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥१४३॥(११०)

(यस्य सभृत्यस्य संपश्यतः) जिस भृत्यसहित देखते हुए राजा के (राष्ट्रात्) राज्य में से (दस्युभिः विक्रोशन्त्यः प्रजाः ह्रियन्ते) डाकू लोग रोती, विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं (सः मृतः) वह जानो भृत्य-अमात्यसहित मृतक है (न तु जीवति) जीता नहीं है और महादुःख पाने वाला है ॥ १४३ ॥ (स० प्र० १५७)

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥१४४॥ (१११)

इसलिए (क्षत्रियस्य) राजाओं का (प्रजानाम्+एव पालनम्) प्रजा-पालन ही करना (परः धर्मः) परम धर्म है (निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा) और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में कर लेना लिखा है [७ । १२७-१३२] और जैसा सभा नियत करे उसका भोक्ता राजा (धर्मेण युज्यते) धर्म से युक्त होकर सुख पाता है, इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है। [७ । ३०६-३०८] ॥ १४४ ॥ (स० प्र० १५७)

राजा के दैनिक कर्त्तव्य—

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥१४५॥(११२)

(पश्चिमे यामे उत्थाय) जब पिछली प्रहर रात्रि रहे तब उठ (कृत-शौचः) शौच और (समाहितः) सावधान होकर परमेश्वर का ध्यान (हुताग्निः) अग्निहोत्र (ब्राह्मणान् अर्च्य) विद्वानों का सत्कार (च) और

भोजन करके (शुभां सभां प्रविशेत्) भीतर सभा में प्रवेश करे ॥ १४५ ॥
(स० प्र० १५७)*

अनुशीलन : (१) **'ब्राह्मणान् अर्च्य' का सही अभिप्राय**—प्रस्तुत श्लोक में राजा की नैत्यिकचर्या का वर्णन करते हुए 'ब्राह्मणान् च अर्च्य' शब्दों का प्रयोग है। यहां कुछ टीका एवं भाष्यकार—'राजा प्रातःकाल ब्राह्मणों की पूजा करे'—यह अर्थ करते हैं, जो मनुसम्मत नहीं है। ब्राह्मण, वेदविद्याओं के विद्वानों को कहते हैं। इसके लिए सप्रमाण विवेचन १। ८८ पर द्रष्टव्य है। 'अर्च्-पूजायाम्' से 'अर्च्य' प्रयोग सिद्ध हुआ है। यहां अर्चा या पूजा का अर्थ 'सत्कार-सम्मान या अभिवादन' ही मनु को अभिप्रेत है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ—'राजा प्रातःकाल उठकर विद्वानों का अभिवादन करे। इस प्रकार उनसे सम्मान-सत्कार का भाव रखे।' इस अर्थ की पुष्टि में इस धातु का मनु द्वारा अन्यत्र किया गया प्रयोग प्रमाण रूप में उल्लेखनीय है—

(क) गुरु के अभिवादन के लिए विधान करते हुए कहा है—
"दूरस्थो न अर्चयेत् एनम्"२। १७७ (२। २०२)

(ख) इसके पर्यायवाची रूप में अभिवादयेत् का प्रयोग है—
"स्वान् गुरून् अभिवादयेत्" २। १८० (२। २०५)

(ग) अभिवादन, सत्कार और सम्मान के अर्थ में निम्न प्रयोग भी द्रष्टव्य है—
"आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजकः भवेत्।" ७। ८२

(घ) अन्यत्र भी राजा द्वारा विद्वानों को अभिवादन आदि से सम्मान दिये जाने का निर्देश है—

"राजास्नातकयोः चैव स्नातको नृपमानभाक्।" २। ११४ (२। १३९)

अब प्रश्न उठता है कि प्रातःकाल राजा के समीप अभिवादनीय विद्वान् कौन हो सकते हैं? उत्तर है—ऋत्विज्, वेदविद्या आदि के प्रदाता विद्वान् जिनसे राजा को मनु ने दैनिक अग्निहोत्र आदि कराने का तथा विद्या ग्रहण करने का विधान किया है [७। ४३, ७८ आदि]। इस प्रकार इस भाष्य में किया गया श्लोकार्थ मनुसंगत है। [द्रष्टव्य ७। ४३, ७८ की समीक्षा भी।]

(२) **राजा की सामान्य दिनचर्या**—इस श्लोक से लेकर ७। २२५ तक मनु ने राजा की सामान्य दिनचर्या का दिग्दर्शन कराया है। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ ऐसी ही दिनचर्या कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्रदर्शित की है। इसमें राजा सुविधा व देश-काल आदि के अनुसार परिवर्तन भी कर सकता है। तुलनात्मक रूप में दिनचर्या की तालिका इस प्रकार है—

* [**प्रचलित अर्थ**—राजा रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठकर शौच (शौच, दन्तधावन एवं स्नानादि नित्यकर्म) करके अग्नि में हवन और ब्राह्मणों की पूजा कर शुभ सभा (मन्त्रणागृह) में प्रवेश करे ॥ १४५ ॥]

मनु-प्रोक्त राजा की दिनचर्या

	कालविशेष	कालावधि	दिन के कार्य	श्लोक
१	रात्रि का अन्तिम याम (तीन घण्टे का समय) अष्टम याम	प्रात ४-७ तक	जागरण, नैत्यिक कार्य, संध्या-अग्निहोत्र, भोजन, आचार्य ऋत्विज् आदि विद्वानों की संगति, उनसे अध्ययन एवं स्वाध्याय।	७।३७, १४५॥
२	दिन का प्रथम याम	७—१०	प्रजासभा (दरबार) का आयोजन, उसमें प्रजा के कष्टों का श्रवण एवं समाधान। धर्मार्थकार्यों, राज्यमण्डल की प्रकृतियों, पञ्चवर्ग, षड्गुणों, दूतों और गुप्तचरों के करणीय कार्यों, युद्ध-सम्बन्धी योजनाओं पर मन्त्रियों—अमात्यों से गुप्त मन्त्रणा।	७।१४७—२१५॥
३	द्वितीय याम (मध्याह्न)	१०—१	शस्त्रास्त्रों का अभ्यास, तत्पश्चात् स्नान, भोजन विश्राम।	७।२१६—२२१॥
४	तृतीय याम	१—४	मुकद्दमों एवं राज्यसम्बन्धी कार्यों का चिन्तन।	७।२२१
५	चतुर्थ याम	४—७	सेनाओं, शस्त्रास्त्रों, युद्धवाहनों और तैयारियों का निरीक्षण।	७।२२२
६	पंचम याम (रात्रि संध्या काल)	७—१०	सायंकालीन नैत्यिक कार्य, संध्योपासना। गुप्तचरों, दूतों आदि के समाचार सुनना। और उन्हें अग्रिम कर्त्तव्य समझाना। भोजन।	७।२२३ ७।२२४
७	षष्ठ याम (रात्रि)	१०—१	शयन	७।२२५
८	सप्तमयाम (रात्रि)	१—४		

कौटिल्य-प्रोक्त राजा की दिनचर्या

याम (पहर)	दिन के कार्य और उनकी निश्चित कालावधि
(रात्रि) अष्टम याम	जागरण, नैत्यिक, एवं शास्त्रीय कर्त्तव्य, गुप्तमन्त्रणापूर्वक गुप्तचरों को प्रेषित करना।
प्रथम याम	ऋत्विक्, आचार्य आदि की संगति, वैद्य से भेंट, रक्षाव्यवस्था और आय-व्यय-व्यवस्था की जानकारी।
द्वितीय याम (दिन)	पुरवासियों एवं जनपदवासियों के कार्यों पर विचार (राजदरबार), स्नान, भोजन, स्वाध्याय।
तृतीय याम	आय-व्यय की संभाल, विविध अधिकारियों की नियुक्ति आदि, मन्त्रिपरिषद् से परामर्श, गुप्तचरों के कार्यों का निश्चय।
चतुर्थ याम	स्वतन्त्रतापूर्वक विहार या मन्त्रणा, सेना तथा सैन्यसामग्री-निरीक्षण।
पंचम याम (संध्या)	सेनापति के साथ युद्धसम्बन्धी मन्त्रणा। संध्योपासना, गुप्तचरों के समाचार जानना, स्नान, भोजन।
षष्ठ, सप्तम याम (रात्रि)	शयन

[अर्थशास्त्र, प्रकरण १४। अ० २८]

सभा में जाकर प्रजा के कष्टों को सुने—

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।

विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥ १४६ ॥ (११३)

(तत्र) उस [१४५ में वर्णित] सभा में जाकर (स्थितः) बैठकर या खड़े होकर (सर्वाः प्रजाः प्रतिनन्द्य) वहां आई हुई सब प्रजाओं को

समस्याओं, कष्टों का सन्तुष्टिकारक समाधान करें उन्हें प्रसन्न करके (विसर्जयेत्) भेज दे (च) और फिर (सर्वाः प्रजाः विसृज्य) सब प्रजाओं को विसर्जित करने के बाद (मन्त्रिभिः सह मन्त्रयेत्) मन्त्रियों (७।४५) के साथ राज्यव्यवस्था पर विचार-विमर्श करे ॥ १४६ ॥

"वहां खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों उनको मान्य दे और उनको छोड़कर मुख्यमन्त्री के साथ राज्यव्यवस्था का विचार करे।"

(स० प्र० १५७)

राज्यसम्बन्धी मन्त्रणाओं के स्थान—

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥ (११४)

(गतः) पश्चात् उसके साथ घूमने को चला जाये (गिरिपृष्ठं वा रहः प्रासादम्) पर्वत की शिखर अथवा एकान्त घर (वा) वा (अरण्ये निःशलाके) जंगल जिसमें एक शलाका भी न हो वैसे एकान्त स्थान में (समारुह्य) बैठकर (अविभावितः) विरुद्ध भावना को छोड़ (मन्त्रयेत्) मन्त्री के साथ विचार करे ॥ १४७ ॥ (स० प्र० १५७)

अनुशीलन : (१) **'निःशलाके अरण्ये' का अभिप्राय**—यहां 'निःशलाके अरण्ये' का प्रयोग लाक्षणिक या मुहावरे के रूप में किया गया है जिसका अभिप्राय है—'ऐसा स्थान जहां तिनके के सदृश छोटे से छोटे प्राणी की या गुप्तमन्त्रणा-भेदक वस्तु की उपस्थिति की संभावना न हो।

(२) **मन्त्रणास्थल के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार**—आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में निःशलाकापन के भाव को प्रकारान्तर से सकारण व्यक्त करते हुए मन्त्रणास्थल के विषय में लिखा है—

"तदुद्देशः संवृतः कथानामनिःस्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात्। श्रूयते हि शुकसारिकाभिर्मन्त्रो भिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः।" [प्र० २०। १४]

=मन्त्रणास्थल अत्यन्त सुरक्षित और गोपनीय होना चाहिए। ऐसा जहां पक्षी तक भी न झांक सके (फिर मनुष्यों का तो प्रश्न ही नहीं)। क्योंकि, सुना जाता है कि पुराकाल में किसी राजा की गुप्त मन्त्रणा को तोता और मैना ने बाहर प्रकट कर दिया था। इसी प्रकार कुत्तों तथा अन्य पशु-पक्षियों के विषय में भी सुना जाता है।

मन्त्रणा की गोपनीयता का महत्त्व—

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥१४८॥(११५)

(यस्य) जिस राजा के (मन्त्रम्) गूढ़ विचार (पृथक् जनाः समागम्य न जानन्ति) अन्य जन मिलकर नहीं जान सकते अर्थात् जिसका विचार गम्भीर, शुद्ध, परोपकारार्थ सदा गुप्त रहे (सः कोशहीनः+अपि पार्थिवः) वह धनहीन भी राजा (कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते) सब पृथिवी का राज्य करने में समर्थ होता है ॥ १४८ ॥ (स० प्र० १५८)

अनुशीलन : (१) **मन्त्र शब्द का राजनीतिपरक अर्थ**—'मन्त्र' शब्द के अर्थ पर यहां विशेष विचार अपेक्षित है। राजनीति के प्रसंग में 'मन्त्र' गोपनीय विचार-विमर्श को कहा जाता है। जिसमें गुप्त बातों पर रहस्यमय विचार किया जाये वह मन्त्रणा कहलाती है। मन्त्र शब्द 'मत्रि-गुप्तभाषणे'=गुप्त विचार करना अर्थ में, इस धातु से घञ् प्रत्यय के योग से सिद्ध हुआ है। निरुक्त में '**मन्त्राः—मननात्**' कहकर निरुक्ति दी है। मनन करने के कारण राजनीति के रहस्यों को और वेद-मन्त्रों को मन्त्र कहते हैं।

(२) "**कोशहीनोऽपि पार्थिवः**" का प्रयोग मुहावरे के रूप में हुआ है। इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति ७। ३३ में द्रष्टव्य है।

धर्म, काम, **अर्थ-सम्बन्धी** बातों पर चिन्तन करे—

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः ।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा ॥ १५१ ॥ (११६)

(मध्यंदिने) दोपहर के समय (वा) अथवा (विश्रान्तः विगतक्लमः) विश्राम करके थकान-आलस्यरहित होकर स्वस्थ व प्रसन्न शरीर और मन से (अर्धरात्रे) रात के किसी समय (धर्म-काम-अर्थान्) धर्म, काम और अर्थसम्बन्धी बातों को (तैः सार्धम्) उन मन्त्रियों के साथ मिलकर (वा) अथवा परिस्थिति विशेष में (एक एव) अकेले ही (चिन्तयेत्) विचारे ॥ [चिन्तयेत् क्रिया का अन्वय १५८ तक चलता है] ॥ १५१ ॥

अनुशीलन : (१) **राजा द्वारा धर्म-काम-अर्थ पर चिन्तन**—राजा को प्रसन्न मन से धर्म-काम-अर्थ सम्बन्धी बातों पर देश-काल-कार्य को देखकर अकेले अथवा अन्य मन्त्रियों के साथ प्रतिदिन विचार करना चाहिए। कौटिल्य ने भी कहा—

"**देश-काल-कार्यवशेन त्वेकेन सह, द्वाभ्याम्, एको वा यथासामर्थ्यं मन्त्रयेत।**"
[अ० १० । अ० १४]

(२) धर्म, काम, अर्थ के स्वरूप पर विस्तृत विवेचन ७। २६ पर द्रष्टव्य है।

(३) 'अर्ध' शब्द का यहां 'एक भाग' अर्थ में प्रयोग है। संस्कृत ... में

नहीं। जैसे 'नगरार्ध' का 'नगर का एक भाग' अर्थ है उसी प्रकार यहां 'रात्रि के किसी भाग में' अर्थ है।

धर्म, अर्थ, काम में विरोध को दूर करे--

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥ (११७)

(च) और (तेषां परस्परविरुद्धानां समुपार्जनम्) उस धर्म-अर्थ-काम में परस्पर विरोध आ पड़ने पर उसे दूर करना और उनमें अभिवृद्धि करना (च) और (कन्यानां कुमाराणां सम्प्रदानं च रक्षणम्) कन्याओं और कुमारों का गुरुकुलों में भेजना और उनकी सुरक्षा तथा विवाह व्यवस्था का भी विचार करे ॥ १५२ ॥

"राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें। किन्तु आचार्यकुल में रहते हैं जब तक समावर्त्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावें"। (स० प्र० ७६)

दूतसंप्रेषण और गुप्तचरों के आचरण पर दृष्टि—

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥ (११८)

(च) और (दूतसंप्रेषणम्) दूतों को इधर-उधर भेजना (तथैव कार्यशेषम्) उसी प्रकार अन्य शेष रहे कार्यों को पूर्ण करना (च) तथा (अन्तःपुर-प्रचारम्) अन्तःपुर=महल के आन्तरिक आचरणों-गतिविधियों एवं स्थितियों (च) और (प्रणिधीनां चेष्टितम्) नियुक्त गुप्तचरों के आचरणों एवं गतिविधियों पर भी ध्यान रखे, विचार करे ॥ १५३ ॥

अष्टविध कर्म आदि पर चिन्तन---

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥ (११९)

(च) और (कृत्स्नम् अष्टविधं कर्म) सम्पूर्ण अष्टविध कर्म (च) तथा (पञ्चवर्गम्) पञ्चवर्ग की व्यवस्था (अनुरागौ) अनुराग=लगाव और अपराग=स्नेह का अभाव=द्वेष (च) तथा (मण्डलस्य प्रचारम्)

मण्डल की गतिविधि एवं आचरण [७ । १५५–१५७ में वक्ष्यमाण] (तत्त्वतः) इन बातों पर ठीक ठीक चिन्तन करे ।। १५४ ।।

अनुशीलन : (१) अष्टविध कर्मों के विवाद का समाधान—मनु ने इस श्लोक में राजा के अष्टविध कर्मों की गणना न करके केवल "**कृत्स्नं च अष्टविध कर्म**' कहकर संकेतमात्र दिया है। भाष्यकारों ने इसकी व्याख्या में अपने-अपने मत देकर राजा के अष्टविध कर्म गिनाये हैं। इन कर्मों में मतभेद होने से यह बात विवादास्पद-सी बनगयी है और परवर्ती व्याख्याकार केवल अपने से पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के मत देकर इस श्लोक की व्याख्या करके आगे चल देते हैं।

यहां विचारणीय बात यह है कि श्लोक ७।१४५-२२६ तक मनु ने राजा की दिनचर्या के अन्तर्गत गुप्तमन्त्रणा या मन्त्रिपरिषद् से मन्त्रणा करने योग्य विषयों का उल्लेख किया है [७ । १४७-२१५]। इस प्रसंग में कुछ बातें स्पष्टतः कह दी हैं, इस श्लोक में केवल संख्या का उल्लेख कर दिया है। इसका अर्थ करते समय हम दो बातों पर ध्यान देंगे—(१) मन्त्रणा में परिगणित बातों से भिन्न अष्टविध बातें होनी चाहिएं, क्योंकि एक ही स्थान पर पुनरुक्ति का होना बुद्धिसंगत नहीं। (२) 'कृत्स्नम्' विशेषण अपना विशेष अर्थ देकर यह संकेत करता है कि ये अष्टविध कर्म राजा के समग्र कर्त्तव्य हैं। इनके आधार पर मनन से मनुस्मृति में ही अष्टविध कर्मों का उल्लेख पाया जाता है

७ । ३६ से १४४ तक श्लोकों में मनु ने 'भृत्यों सहित राजा के समग्र कर्त्तव्यों' का वर्णन किया है। दूसरे शब्दों में,निष्कर्ष रूप में वह राजा की जीवनचर्या है; अतः कहा जा सकता है कि वही राजा के सम्पूर्ण अष्टविध कर्म हैं। जीवनचर्या के प्रसंग में पहले परिगणित होने के कारण यहां दिनचर्या के प्रसंग में उनका परिगणन नहीं किया। इस प्रकार राजा के अष्टविध कर्मों को मनुस्मृति से बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं रहती। वे निम्न प्रकार हैं—

(क) मनुप्रोक्त राजा के अष्टविध कर्म—

(१) आचार्य ऋत्विक् आदि वेदों के विद्वानों की संगति और उनसे शिक्षाग्रहण [७ । ३७, ३९, ४३], (२) इन्द्रियजय और उससे व्यसनों से बचाव [७ ४४-५३], (३) मन्त्रियों, अमात्यों, दूतों, अध्यक्षों आदि की नियुक्ति और उनसे कार्यसम्पादन [७।५४-६८], (४) दुर्गनिर्माण [७ । ६९-७७], (५) युद्ध के लिए प्रशिक्षित तथा सन्नद्ध रहना [७ । ८७-१०६], (६) अपराधियों आदि को न्यायपूर्वक दण्डित करना और इस प्रकार प्रजा को शान्ति, समृद्धि, सुरक्षा प्रदान करना [७।१०७-१२४], (७) वेतन आदि देना [७ । १२५-१२६], (८) करसंग्रह [७ । १२७-१४२]।

(ख) '[illegible]स्मृति' में राजा के अष्टविध कर्म ये गिनाये हैं—

"आदाने च विसर्गे च प्रैषनिषेधयोः ।
पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥
दण्डशुद्धयोस्तथा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः ।"

अर्थात्—राजा के अष्टविध कर्म ये हैं—१. आदान=करों का लेना, २. विसर्ग=कर्मचारियों को वेतन देना, ३. प्रैष=मन्त्री, राजदूत आदि को कार्यों पर भेजना, ४. निषेध=विरुद्ध कार्यों को न करना, ५. अर्थवचन=राजाज्ञा का पालन कराना, ६. व्यवहार का देखना—मुकद्दमों को निपटाना, ७. दण्ड=दण्डदेना, ८. शुद्धि—पापियों-अपराधियों को प्रायश्चित्त आदि से सुधारना ।

(ग) मेधातिथि ने अष्टविध कर्म निम्न माने हैं—

१. नहीं किये कार्य का आरम्भ, २. आरम्भ किये कार्यों की समाप्ति, ३. पूर्ण किये कार्य का प्रसार, ४. कर्म के फलों का संग्रह करना, ५. साम, ६. दाम, ७. दण्ड, ८. भेद । अथवा—१. व्यापार का मार्ग, २. जल में सेतु बांधना, ३. दुर्ग बनाना, ४. किये हुए कार्य के संस्कारों का निर्णय, ५. हाथी पकड़ना, ६. खानों की प्राप्ति करना, ७. शून्यस्थान में प्रवेश, ८. काष्ठ के वनों को कटवाना ।

(२) **'पञ्चवर्ग' से अभिप्राय** - (क) अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने मन्त्रणा के प्रसंग में 'पञ्चाङ्गमन्त्र' के नाम से पांच विचारणीय बातों का उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि इस प्रसंग में परम्परा से प्रचलित यही व्याख्यान पञ्चवर्ग से अभीष्ट है। यहां मनु ने भी मन्त्रणा प्रसंग में ही पञ्चवर्ग का उल्लेख किया है। पञ्च-अंग ये हैं—(१) कार्यों को आरम्भ करने का उपाय, (२) पुरुष और द्रव्यसम्पत्ति, (३) देश-काल का विभाग, (४) विघ्नों का प्रतीकार करना, (५) कार्यसिद्धि, [**"कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिः-इति पञ्चाङ्गो मन्त्रः"** प्रक० १० । अ० १४] ।

(ख) कुल्लूकभट्ट ने निम्न पांच प्रकार के गुप्तचरों की व्यवस्था को 'पञ्चवर्ग' कहा है। किन्तु इस मान्यता में एक-दो आपत्तियां आती हैं—(१) १५३ वें श्लोक में समग्र रूप में गुप्तचरों के कार्यों की व्यवस्था का कथन हो चुका है, (२) परम्परागत रूप में शास्त्रों में केवल पांच ही नहीं, अपितु प्रमुख गुप्तचरों के अन्य वर्ग भी हैं। अतः कौटिल्यप्रोक्त 'पंचांग' इस प्रसंग में अधिक संगत लगता है। कुल्लूक द्वारा वर्णित पांच प्रकार के गुप्तचर निम्न हैं—

१. कापटिक (छल, कपट के व्यवहार से भेदों को जानने वाला), २. उदास्थित (संन्यासी या साधु के वेश में महान् व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध करके बैठाना और इस प्रकार गुप्त भेदों की जानकारी देने वाला), ३. कृषक (नकली किसान बनकर गुप्तचरी करने वाला), ४. वाणिजक (नकली व्यापारी के रूप वाला), ५. तापस व्यंजक (नकली तपस्वी के रूप वाला)।

(३) **अनुराग और अपराग**—अपनी और शत्रुराजा की प्रजाओं में तथा अन्य

राजाओं में अनुराग=कौन राजा से स्नेह रखने वाला है, और कौन अपराग=द्वेष रखने वाला है; इन पर विचार करना। इन्हीं दो तत्त्वों को कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में [प्रक० ८–९ में] कृत्य और अकृत्य पक्ष के रूप में वर्णित किया है। कृत्य जिनको किसी लालचवश राजा से फोड़ा-तोड़ा जा सके अर्थात् असंतुष्ट, अपरागी। ये प्रमुखरूप से क्रुद्ध, लुब्ध, भीत और अवमानित चार प्रकार के होते हैं [देखिए ७। ६७ की समीक्षा]। अकृत्य=जिनको फोड़ा न जा सके, संतुष्ट प्रजाजन, अनुरागी। स्वप्रजाजनों और शत्रुप्रजाजनों की भांति अन्य राजाओं के स्नेह और द्वेष पर भी राजा विचार करे।

(४) **मण्डल**—१५५ से १५७ श्लोकों में वर्णित प्रकृतियों को 'मण्डल' कहा जाता है। राजा इन सबकी गतिविधियों, स्थितियों, आचरणों पर गम्भीर रूप से विचार करे। अर्थशास्त्र [प्र० ९७। अ० २] में आचार्य कौटिल्य ने इन बहत्तर प्रकृतियों के मण्डल को चार प्रकृतिमण्डलों में बांटा है। उसका विवरण १५७ पर प्रदर्शित है।

राज्यमण्डल की विचारणीय चार मूल प्रकृतियां—

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः॥ १५५॥ (१२०)

(च) और (मध्यमस्य प्रचारम्) 'मध्यम' राजा के आचरण और गतिविधि तथा (विजिगीषोः चेष्टितम्) 'विजिगीषु' राजा के प्रयत्नों का (च) तथा (उदासीनप्रचारम्) 'उदासीन' राजा की स्थिति-गतिविधि [७। १५८] का (च) (शत्रोः एव) शत्रु [७। १५८] राजा के आचरण एवं स्थिति गतिविधि आदि का भी (प्रयत्नतः) प्रयत्नपूर्वक विचार करे अर्थात् विचार करके तदनुसार प्रयत्न भी करे=आचरण में लाये॥ १५५॥

अनुशीलन : मध्यम आदि चार मूल प्रकृतिरूप राजाओं के लक्षण—आचार्य कौटिल्य ने 'मण्डल' की प्रकृतियों की व्याख्या अपने अर्थशास्त्र [प्र० ९७] में करते हुए इन राजाओं के निम्न लक्षण बतलाये हैं—

(१) **मध्यम**—"**अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तरसंहतासंहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोर्मध्यमः।**"=अरि और विजिगीषु राजाओं से भिन्न वह राजा जो उनकी संधि में संधि का समर्थक रहे और उनके विग्रह में विग्रह का समर्थक रहे, वह 'मध्यम' कहलाता है।

(२) **विजिगीषु**—"**राजा आत्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः।**"=जो राजा आत्मसम्पन्न हो, अमात्य आदि द्रव्यप्रकृतियों से सम्पन्न [७। १५७] हो, नीति का [illegible] हो, ऐसा [illegible] की [illegible] रखने वाला राजा 'विजिगीषु' कहाता है।

(३) उदासीन—"अरिविजिगीषुमध्यानां बहिः प्रकृतिभ्यो बलवत्तरः संहता-संहतानामरिविजिगीषुमध्यमानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानाम्, उदासीनः।"= अरि, विजिगीषु और मध्यम इनसे भिन्न राजा, जो शक्तिशाली मध्यम राजा से भी बलवान् हो, तथा अरि, विजिगीषु और मध्यम की संधि में संधि का समर्थक एवं उन तीनों के विग्रह में निग्रह का समर्थक 'उदासीन' आचरण वाला राजा कहलाता है। मनु के अनुसार विजिगीषु और शत्रु से परला=बाद की सीमा वाला राजा 'उदासीन' है [७।१५८]।

(४) शत्रु—मनु के अनुसार विजिगीषु राजा की सीमा से लगता हुआ [अनन्तर-मरिं विद्यात् ७। १५८] राजा शत्रु होता है। कौटिल्य शत्रुओं के भेदोपभेद प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं—"भूम्यनन्तरः प्रकृत्यमित्रः तुल्याभिजनः सहजः। विरुद्धोविरोध-यिता वा कृत्रिमः।" विजिगीषु राजा की सीमा से लगा हुआ राजा और विजिगीषु के में वंश उत्पन्न समान दायभाग चाहने वाला राजा, ये दोनों 'सहजशत्रु' हैं। किसी कारण से विरोधी हो जाने वाला या किसी दूसरे को विरोधी बना देने वाला 'कृत्रिम शत्रु' कहलाता है।

राज्यमण्डल की विचारणीय आठ और मूलप्रकृतियां—

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥१५६॥ (१२१)

(समासतः) संक्षेप में (एताः मण्डलस्य मूलं प्रकृतयः) ये चार [मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु] राज्यमण्डल की मूल प्रकृतियां=मूल रूप से विचारणीय स्थितियां या विषय हैं (च) और (अष्टौ अन्याः समाख्याताः) आठ मूल प्रकृतियां और कही गई हैं (ताः तु द्वादश एव स्मृताः) इस प्रकार वे कुल मिलाकर [४+८=१२] बारह होती हैं ॥ १५६ ॥

अनुशीलन : शेष आठ मूलप्रकृतिरूप राजाओं के लक्षण—'मण्डल' में मूलप्रकृतियां बारह हैं। इनमें से चार—मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु नामक प्रकृतियों का वर्णन १५५ वें श्लोक में हो चुका है। शेष आठ प्रकृति और हैं जिनकी गणना शायद अतिप्रसिद्धि के कारण मनु ने इस श्लोक में नहीं की है। कौटिल्य ने मनु के क्रम और विधानानुसार इन पर अपने अर्थशास्त्र में प्रकाश डाला है। उनके अनुसार आठ प्रकृति निम्न हैं—

मित्रराजा—मनु के अनुसार शत्रु राजा की सीमा से लगता हुआ उसके बाद वाला राजा विजिगीषु का 'मित्र' होता है ["अरेरनन्तरं मित्रम्" ७। १५८]। कौटिल्य ने भी यही कहा है—"भूम्येकान्तरा मित्रप्रकृतिः।" [प्रक० ६७। अ० २]। (२) शत्रु का मित्र राजा, (३) मित्र का मित्र राजा, (४) शत्रुमित्र का भी मित्र राजा (५) पार्ष्णिग्राह (वह पृष्ठवर्ती राजा जो विजिगीषु द्वारा कहीं आक्रमण के लिए अपने राज्य

से जाने के बाद पीछे से उसके राज्य पर आक्रमण कर देता है), (६) आक्रन्द (जो अपने मित्र राजा को किसी की सहायता करने से रोकता है या जिसकी राजधानी अपने राज्य के निकट लगती हो), (७) पार्ष्णिग्राहासार—'पार्ष्णिग्राह' को घेरकर रखने वाला या उस पर आक्रमण करने वाला राजा, (८) आक्रन्दासार— 'आक्रन्द' राजा को घेर-कर रखने वाला या उसपर आक्रमण करने वाला राजा। इन सभी राजाओं तथा इनकी स्थितियों पर राजा को हर समय ध्यान रखना चाहिए।

आचार्य कौटिल्य ने इनकी गणना निम्न प्रकार की है—

"तस्मात् मित्रम्, अरिमित्रम्, मित्रमित्रम्, अरिमित्रमित्रम्, चानन्तर्येण भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात्। पश्चात् पार्ष्णिग्राहः, आक्रन्दः, पार्णिग्राहासारः, आक्रन्दासारः, इति।" [प्रक० ९७। अ० २]

राज्यमण्डल की प्रकृतियों के बहत्तर भेद—

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥१५७॥(१२२)

(अमात्य-राष्ट्र-दुर्ग-अर्थ-दण्ड-आख्याः) मन्त्री, राष्ट्र, किला, कोष, दण्ड नामक (अपराः पञ्च) और पांच प्रकृतियां हैं (प्रत्येकं कथिता हि एताः) पूर्वोक्त [१५५-१५६] बारह प्रकृतियों के साथ ये मिलकर अर्थात् पूर्वोक्त प्रत्येक बारहों प्रकृतियों के पांच-पांच भेद होकर इस प्रकार (संक्षेपेण द्विसप्ततिः) संक्षेप से कुल ७२ प्रकृतियां [=विचारणीय स्थितियां या विषय] हो जाती हैं। १२ पूर्व की और १२ के ५-५ भेद से ६० इस प्रकार १२×५=६०+१२=७२ हैं ॥ १५७ ॥

अनुशीलन : बहत्तर प्रकृतियां—इन श्लोकों के अनुसार बारह मूल-प्रकृतियां हैं—१. विजिगीषु, २. मध्यम, ३. उदासीन, ४. शत्रु, ५. मित्रराजा, ६. मित्र का मित्रराजा, ७. शत्रु का मित्रराजा, ८. शत्रु के मित्र का मित्रराजा, ९. पार्ष्णिग्राह, १०. आक्रन्द, ११. पार्ष्णिग्राहासार, १२. आक्रन्दासार। पांच द्रव्य प्रकृतियां—१. मंत्री, २. राष्ट्र, ३. किला, ४. कोष, ५. दण्ड हैं। एक-एक मूल प्रकृति के पांच प्रकृतियों के साथ मिलकर पांच भेद हो जाते हैं अर्थात् एक मूलप्रकृति और पांच उसके भेद इस प्रकार एक मूलप्रकृति के छः भेद हुए। यथा, प्रथम मूलप्रकृति 'विजिगीषु' है। उसके छह भेद बनेंगे—१. विजिगीषु राजा, २. विजिगीषु मंत्री, ३. विजिगीषु राष्ट्र, ४. विजिगीषु किला, ५. विजिगीषु कोष, ६. विजिगीषु दण्ड। इसी प्रकार मिलकर अन्य मूल प्रकृतियों के भेद बनेंगे। इस प्रकार बारह प्रकृतियों के १२×६=७२ बहत्तर भेद होते हैं। कौटिल्य ने मूलप्रकृतियों में तीन-तीन का एक वर्ग बनाकर उनके साथ पांच प्रकृतियों को मिलाकर ३×५=१५+३=१८ का एक प्रकृतिमण्डल माना है। इस प्रकार चार प्रकृतिमण्डल का एक 'मण्डल' वर्णित किया है [अर्थशास्त्र प्रक० ९७]।

इस प्रकार राजा प्रत्येक मूलप्रकृति पर और फिर उनकी प्रत्येक द्रव्यप्रकृति (अमात्य आदि पांच) पर पूर्ण ज्ञान सहित विचार करे। विचार करके यथोचित उपाय करे और विघ्न आदि को दूर करे। पुनः विजयार्थ यात्रा करे।

शत्रु, मित्र और उदासीन की परिभाषा—

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥१५८॥ (१२३)

(अनन्तरम्) अपने राज्य के समीपवर्ती राजा को (च) और (अरिसेविनम्) शत्रुराजा की सेवा-सहायता करने वाले राजा को (अरिं विद्यात्) 'शत्रु' ही समझे (अरेः+अनन्तरं मित्रम्) अरि से भिन्न अर्थात् शत्रु से विपरीत आचरण करने वाले अर्थात् सेवा-सहायता करने वाले राजा को और शत्रुराजा की सीमा से लगे अगले राजा को 'मित्र' और (तयोः परम्) इन दोनों से भिन्न परवर्ती राजा को (उदासीनम्) जो न सहायता करे न विरोध करे, उसे 'उदासीन' राजा (विद्यात्) समझना चाहिए ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥ (१२४)

(तान् सर्वान्) उन सब प्रकार के राजाओं को (साम+आदिभिः+उपक्रमैः) 'साम' आदि [साम, दाम, दण्ड, भेद] उपायों से (व्यस्तैः) एक-एक उपाय से (च) अथवा (समस्तैः) सब उपायों का एकसाथ प्रयोग करके (पौरुषेण) वीरता से (च) तथा (नयेन) नीति से (अभिसंदध्यात्) वश में रखे ॥ १५९ ॥

सन्धि, विग्रह आदि षड्गुणों का वर्णन—

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥१६०॥ (१२५)

(सन्धिम्) सन्धि (विग्रहं यानं आसनं द्वैधीभावं च संश्रयं) विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय इन (षड्गुणान् एव) छः गुणों का भी (सदा चिन्तयेत्) राजा सदा विचार-मनन करे ॥ १६० ॥

अनुशीलन : (१) सुखपूर्वक रहने के लिए शत्रुराजा से कुछ ले-देकर मिलाप कर लेना या किसी राजा से मिलकर आक्रमण करने के लिए तैयार कर लेना 'सन्धि' है। (२) युद्ध, विरोध, तोड़फोड़ आदि पैदा करना 'विग्रह' है। (३) युद्ध के लिए चढ़ाई करना 'यान' कहलाता है। (४) शत्रु को घेरकर पड़े रहना या अपनी शक्ति की क्षीणता के कारण शत्रु राजाओं से छेड़छाड़ किये बिना चुपचाप भावी आक्रमण की ताक में पड़े रहना 'आसन' है। (५) अपनी विजय के लिए अपनी सेना को दो

भागों में विभक्त कर देना या शत्रु-सेना में विभाजन कर देना 'द्वैधीभाव' है। (६) किसी बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण कर लेना 'संश्रय' है।

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१६१॥ (१२६)

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है जो (आसनम्) आसन=स्थिरता (यानम्) यान=शत्रु से लड़ने के लिए जाना (सन्धिम्) संधि=उनसे मेल कर लेना (विग्रहम्) दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना (द्वैधम्) द्वैध=दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना (च) और (संश्रयम्) संश्रय=निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म (कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत) यथायोग्य कार्य को विचारकर उसमें युक्त करना चाहिए ॥ १६१ ॥ (स० प्र० १५८)

संधि और उसके भेद—

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६२॥ (१२७)

(राजा) राजा, (सन्धि विग्रहं यान+आसने द्विविधः च संश्रयः) संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधोभाव और संश्रय (द्विविधं तु) दो-दो प्रकार के होते हैं, उनको (विद्यात्) यथावत् जाने ॥ १६२ ॥ (स० प्र० १५८)

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥१६३॥ (१२८)

(तदा तु आयतिसंयुक्तः) तात्कालिक फल देने वाली और भविष्य में भी फल देने वाली (सन्धि) सन्धि [७। १६९] (द्विलक्षणः ज्ञेयः) दो प्रकार की समझनी चाहिए—१. (समानयानकर्मा) शत्रु राजा पर आक्रमण करने के लिए किसी अन्य राजा से मेल करके उसके साथ आक्रमण करना, (तथैव) उसी प्रकार २. (विपरीतः) पहले से विपरीत अर्थात् शत्रुराजा से आक्रमण न करने के लिए मेल करके कोई समझौता कर लेना [यह अपनी बल-स्थिति को देखकर उचित अवसर तक होता है ७। १६९] ॥ १६३ ॥ ☞

☞ [प्रचलित अर्थ—सन्धि के दो भेद हैं—(१) समानयानकर्मा सन्धि और (२) असमानयानकर्मा सन्धि। तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'समानधर्मा' नामक सन्धि है। तथा (२) तात्कालिक या भविष्य मे लाभ की इच्छा से किसी राजा से 'आप इधर जाइये, मैं इधर जाता हूं' ऐसा कहकर पृथक्-पृथक् यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'असमानधर्मा' नामक सन्धि है ॥ १६३ ॥]

"(सन्धिः) शत्रु से मेल अथवा उससे विपरीतता करे, परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाये; यह दो प्रकार का मेल कहाता है।" (स० प्र० १५८)

अनुशीलन : इस श्लोक में किया हुआ 'विपरीत' का अर्थ मनुसम्मत है, जो ७।१६६ से सिद्ध होता है। प्रचलित टीकाओं में किया गया अर्थ 'सन्धि' ही नहीं कहला सकता।

विग्रह और उसके भेद—

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥१६४॥ (१२६)

(विग्रहः द्विविधः स्मृतः) विग्रह [७।१७०] दो प्रकार का होता है—(काले) चाहे युद्ध के लिए निश्चित किये समय में (वा) अथवा (अकाले एव) अनिश्चित किसी भी समय में (१) (कार्यार्थम्) कार्य की सिद्धि के लिए (स्वयंकृतः) स्वयं किया गया विग्रह (च) और [२] (मित्रस्य अपकृते) किसी के द्वारा मित्रराजा पर आक्रमण या हानि पहुंचाने पर मित्रराजा की रक्षा के लिए किया गया विग्रह ॥ १६४ ॥

"(विग्रह) कार्यसिद्धि के लिए उचित समय या अनुचित समय में स्वयं किया वा मित्र के अपराध करने वाले शत्रु के साथ विरोध दो प्रकार से करना चाहिये।" (स० प्र० १५८)

यान और उसके भेद—

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥१६५॥ (१३०)

(आत्ययिके कार्ये प्राप्ते) अकस्मात् कोई कार्य प्राप्त होने में + (एकाकिनः) एकाकी (च) वा (मित्रेण संहतस्य) मित्र राजा के साथ मिलके शत्रु की ओर जाना [=चढ़ाई करना ७।१७१] (द्विविधं यानम्+उच्यते) यह दो प्रकार का गमन [=यान] कहाता है ॥ १६५ ॥ (स० प्र० १५८)

+ (यदृच्छया) स्वतन्त्रतापूर्वक..................

आसन और उसके भेद—

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१६६॥ (१३१)

❀ (क्रमशः) स्वयं किसी प्रकार क्रम से (क्षीणस्य एव) क्षीण हो जाये अर्थात् निर्बल हो जाये (च) अथवा (मित्रस्य अनुरोधेन) मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठे रहना (द्विविधम् आसनं स्मृतम्) यह दो प्रकार का आसन [७ । १७२] कहाता है ॥ १६६ ॥ (स० प्र० १५८)

❀ (दैवात् वा पूर्वकृतेन) संयोग से अथवा पूर्वजन्म के पाप के कारण...............

द्वैधीभाव और उसके भेद—

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥ (१३२)

(षाड्गुण्य-गुणवेदिभिः) षड्गुणों के महत्त्व को जानने वालों ने (द्वैधं द्विविधं कीर्त्यते) द्वैधीभाव [७ । १७३] दो प्रकार का कहा है—(कार्यार्थसिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिए १—(बलस्य स्थितिः) सेना के दो भाग करके एक भाग सेना को सेनापति के आधीन करना (च) और २—(स्वामिनः) सेना का एक भाग राजा द्वारा अपने आधीन रखना ॥ १६७ ॥

"कार्यसिद्धि के लिए सेना के दो विभाग करके विजय करना दो प्रकार का 'द्वैध' कहाता है।" (स० प्र० १५९)

संश्रय और उसके भेद—

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६८॥ (१३३)

(शत्रुभिः पीड्यमानस्य) शत्रुओं द्वारा पीड़ित होकर (अर्थसम्पादनार्थम्) अपने उद्देश्य की सिद्धि अथवा आत्मरक्षा के लिए किसी राजा का आश्रय लेना (च) और (व्यपदेशार्थं साधुषु) भावी हार या दुःख से बचने के लिए किसी श्रेष्ठ राजा का आश्रय लेना ये (द्विविधः संश्रयः स्मृतः) दो प्रकार का 'संश्रय' [७ । १७४] कहलाता है ॥ १६८ ॥

"एक—किसी अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा की शरण लेना, जिससे शत्रु से पीड़ित न हो; दो प्रकार का आश्रय लेना कहाता है।" (स० प्र० १५९)

सन्धि का समय—

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥१६९॥(१३४)

(यदा+अवगच्छेत्) जब यह जान ले कि (तदात्वे) इस समय युद्ध

करने से (अल्पिकां पीडाम्) थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी (च) और (आयत्याम्) पश्चात् [=भविष्य] में करने से (आत्मनः ध्रुवम् आधिक्यम्) अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगी (तदा संधिं समाश्रयेत्) तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज रखे ॥ १६९ ॥ (स० प्र० १५६)

विग्रह का समय—

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथाऽऽत्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥ (१३५)

(यदा सर्वाः प्रकृतीः) जब अपनी सब प्रजा वा सेना (भृशम्) अत्यन्त (प्रहृष्टाः) प्रसन्न (अत्युच्छ्रितम्) उन्नतिशील और श्रेष्ठ (मन्येत) जाने (तथा) वैसे (आत्मानम्) अपने को भी समझे (तदा विग्रहं कुर्वीत) तभी शत्रु से विग्रह=युद्ध कर लेवे ॥ १७० ॥ (स० प्र० १५६)

यान का समय—

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥ (१३६)

(यदा स्वकं बलम्) जब अपने बल अर्थात् सेना को (हृष्टं पुष्टं भावेन मन्येत) हर्ष और पुष्टियुक्त प्रसन्न भाव से जाने (च) और (परस्य) शत्रु का बल (विपरीतम्) अपने से विपरीत निर्बल हो जावे (तदा रिपुं प्रति यायात्) तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिए जावे ॥ १७१ ॥ (स० प्र० १५६)

आसन का समय—

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥ (१३७)

(यदा) जब (बलेन वाहनेन) सेना, बल, वाहन से (परिक्षीणः स्यात्) क्षीण हो जाये (तदा) तब (अरीन् शनकैः प्रयत्नेन सान्त्वयन्) शत्रुओं को धीरे-धीरे प्रयत्न से शान्त करता हुआ (आसीत) अपने स्थान में बैठा रहे ॥ १७२ ॥ (स० प्र० १५६)

द्वैधीभाव का समय—

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३ ॥ (१३८)

(यदा राजा) जब राजा (अरिं सर्वथा बलवत्तरं मन्येत) शत्रु को

अत्यन्त बलवान् जाने (तदा) तब (द्विधा बलं कृत्वा) द्विगुणा वा दो प्रकार की सेना करके (आत्मनः कार्यं साधयेत्) अपना कार्य सिद्ध करे ॥ १७३ ॥ (स० प्र० १५६)

संश्रय का समय—

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥ (१३६)

(यदा) जब आप समझ लेवे कि अब (परबलानां तु गमनीयतमः भवेत्) शीघ्र शत्रुओं की चढ़ाई मुझ पर होगी (तदा तु) तभी (धार्मिकं बलिनं नृपं क्षिप्रं संश्रयेत्) किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले लेवे ॥ १७४ ॥ (स० प्र० १५६)

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥ (१४०)

(यः) जो (प्रकृतीनाम्) प्रजा और अपनी सेना (च) और शत्रु के बल का (निग्रहं कुर्यात्) निग्रह करे अर्थात् रोके (तं सर्वयत्नैः) उसकी सब यत्नों से (गुरुं यथा) गुरु के सदृश (नित्यम् उपसेवेत) नित्य सेवा किया करे ॥ १७५ ॥ (स० प्र० १५६)

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥ (१४१)

(संश्रयकारितं यदि तत्र+अपि दोषं संपश्येत्) जिसका आश्रय लेवे उस पुरुष के कर्मों में दोष देखे तो (तत्र+अपि) वहाँ भी (सुयुद्धम्+एव) अच्छे प्रकार युद्ध ही को (निर्विशङ्कः समाचरेत्) निःशंक होकर करे ॥१७६॥ (स० प्र० १५६)

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥ (१४२)

(नीतिज्ञः पृथिवीपतिः) नीति का जानने वाला पृथिवीपति राजा (यथा) जिस प्रकार (अस्य) इसके (मित्र-उदासीन-शत्रवः) मित्र, उदासीन =तटस्थ और शत्रु (अधिकाः न स्युः) अधिक न हों (तथा सर्व+उपायैः कुर्यात्) ऐसे सब उपायों से वर्ते ॥ १७७ ॥ (स० प्र० १६१)

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥ (१४३)

(सर्वकार्याणां तदात्वम्) सब कार्यों का वर्तमान में कर्त्तव्य (च) और (आयतिम्) भविष्यत् में जो-जो करना चाहिए (च) और (अतीतानां सर्वेषाम्) जो-जो काम कर चुके, उन सबके (तत्त्वतः गुणदोषौ विचारयेत्) यथार्थता से गुण-दोषों को विचार करे। पश्चात् दोषों के निवारण और गुणों की स्थिरता में यत्न करे ॥ १७८ ॥ (स० प्र० १६१)

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥ (१४४)

(आयत्यां गुणदोषज्ञः) जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे करने वाले कर्मों में गुण-दोषों का ज्ञाता (तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः) वर्तमान में तुरन्त निश्चय का कर्ता, और (अतीते कार्यशेषज्ञः) किये हुए कार्यों में शेष कर्त्तव्य को जानता है (शत्रुभिः न+अभिभूयते) वह शत्रुओं से पराजित कभी नहीं होता ॥ १७९ ॥ (स० प्र० १६१)

राजनीति का निष्कर्ष—

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेव सामासिको नयः ॥ १८० ॥ (१४५)

(सर्वं तथा विदध्यात्) सब प्रकार के राजपुरुष, विशेषसभापति राजा ऐसा प्रयत्न करें कि (यथा) जिस प्रकार (मित्र-उदासीन-शत्रवः) राजादि जनों के मित्र, उदासीन और शत्रु को वश में करके (न+अभिसंदध्युः) अन्यथा न करपावें, ऐसे मोह में न फंसे (एषः सामासिकः नयः) यही संक्षेप से नय अर्थात् राजनीति कहाती है ॥ १८० ॥ (स० प्र० १६१)

अनुशीलन : मित्र, उदासीन और शत्रु के लक्षण क्रमशः ७। २०६, २१०, २११ में देखिए।

आक्रमण के लिए जाना और व्यूहरचना आदि की व्यवस्था—

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः ।
तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥ (१४६)

(प्रभुः) राजा (यदा) जब भी (अरिराष्ट्रं प्रति) शत्रु के राज्य पर (यानम्+आतिष्ठेत्) चढ़ाई करे (तदा) तब (अनेन विधानेन) इस निम्नलिखित विधि से (शनैः) सावधानीपूर्वक (अरिपुरं यायात्) शत्रु राष्ट्र पर चढ़ाई करे ॥ १८१ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥१८२॥ (१४७)

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे तब (मूले विधानं तु) अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध (च) और (यात्रिकम्) यात्रा की सब सामग्री (यथाविधि कृत्वा) यथाविधि करके (आस्पदम् एव उपगृह्य) सब सेना, यान, वाहन, शस्त्र, अस्त्र आदि पूर्ण लेकर (चारान् सम्यक् विधाय) सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देने वाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे ॥ १८४ ॥

(स० प्र० १६१)

त्रिविध मार्ग का संशोधन करे—

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥१८५॥ (१४८)

(त्रिविधं मार्गं संशोध्य) तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक--स्थल=भूमि में दूसरा-जल=समुद्र वा नदियों में, तीसरा-आकाश मार्गों को शुद्ध बनाकर भूमिमार्ग में रथ, अश्व, हाथी, जल में नौका और आकाश में विमान आदि यानों से जावे (च) और (षड्विधम्) पैदल, रथ, हाथी, घोड़े शस्त्र और अस्त्र, खान-पान आदि सामग्री को यथावत् साथ ले (बलं स्वकम्) बलयुक्त पूर्ण (सांपरायिककल्पेन) किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके (अरिपुरं शनैः यायात्) शत्रु के नगर के समीप धीरे धीरे जावे ॥ १८५ ॥ ✻

(स० प्र० १६१)

अनुशीलन : **त्रिविध मार्ग का मनुसम्मत अर्थ**—प्रचलित टीकाओं में त्रिविध मार्ग का अर्थ—'जङ्गल, अनूप और आटविक किया है। यह मनुसम्मत सिद्ध नहीं होता, और सही भी नहीं है। इस प्रकार अर्थ करने से तीनों केवल भूमि के ही एक मार्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस भाष्य में दिया गया अर्थ मनुसम्मत है। इस की सिद्धि ६।१६२ से होती है। वहां स्थलयुद्ध और जल में जलयान आदि से युद्ध करने का वर्णन है। इस प्रकार त्रिविध मार्गों का 'स्थल, जल, आकाश मार्ग ही प्रासंगिक सिद्ध होता है। अनूप इसी के अन्तर्गत आ जाता है समुद्रीयानों की चर्चा ८।१५७, ४०६, ४०६ में भी आती है। उस काल में ये यान थे।

आक्रमण के समय शत्रु और शत्रुमित्र पर विशेष दृष्टि रखे—

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेद्

✻. [**प्रचलित अर्थ**—जङ्गल, अनूप तथा आटविक भेद से तीन प्रकार के मार्गों को पेड़, लता, झाड़ी कंटक आदि कटवाने तथा नीची ऊंची भूमि को बराबर कराने से गमन के योग्य बनाकर और हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सेना एवं कार्यकर्ता रूप छः प्रकार के बल (सेना) उचित भोजन-वस्त्र, मान-सत्कार एवं औषध आदि से शुद्ध कर यात्रा के योग्य विधान से धीरे धीरे शत्रु के [illegible]

गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥ (१४६)

(शत्रुसेविनि गूढे मित्रे) जो भीतर से शत्रु से मिला हो और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रखे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे (गत-प्रत्यागते एव) उसके आने जाने में, उससे बात करने में (युक्ततरः भवेत्) अत्यन्त सावधानी रखे (हि) क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र को (कष्टतरः रिपुः) बड़ा❀शत्रु समझना चाहिए ॥ १८६ ॥ (स० प्र० १६१)

❀ कष्टदायक..................

व्यूहरचनाएं—

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥ (१५०)

+(दण्डयूहेन) दण्ड के समान सेना को चलावे (शकटेन) जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान (वराह-मकराभ्याम्) वराह जैसे सूअर एक दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं वैसे; जैसे मगर पानी में चलते हैं वैसे सेना को बनावे (सूच्या वा गरुडेन वा) जैसे सूई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है वैसी शिक्षा से सेना को बनावे; नीलकण्ठ [=गरुड़] ऊपर नीचे झपट्टा मारता है इस प्रकार सेना को बनाकर (यायात्) लड़ावे ॥ १८७ ॥

(स० प्र० १६१)

+(तत् मार्गम्) चढ़ाई करते समय मार्ग में............

अनुशीलन : (१) जिनमें आगे बलाध्यक्ष हो, बीच में राजा, अन्त में सेनापति और उनके अगल-बगल एक-एक पंक्ति हाथी सवारों की, उन पंक्तियों के साथ एक पंक्ति घुड़सवारों की, फिर साथ में पदातियों की पंक्तियां; इस प्रकार दण्डे के समान तथा लम्बी पंक्ति के आकार में सेना की मोर्चाबन्दी को 'दण्डव्यूह' कहते हैं।

(२) गाड़ी के समान आगे से पतली और पीछे-पीछे अधिक फैलाववाली सेना की रचना को 'शकटव्यूह' कहा जाता है।

(३) आगे और पीछे के भागों में पतली, मध्यभाग में अधिक फैलाव वाली सेनारचना को 'वराहव्यूह' कहते हैं। इसमें सैनिक एक दल के पीछे एक दल बढ़ते जाते हैं, जैसे ही शत्रु उन्हें कम समझकर मुकाबला करता है तो पिछली सेना झुण्ड बनाकर हमला कर देती है। उनके पीछे रक्षा के लिए तथा सावधानी के लिए हल्की सेनापंक्ति रहती है।

(४) जिसका अग्रभाग मोटा, मध्य का उससे अधिक लम्बाकार होता हुआ

भी विस्तृत हो और पृष्ठभाग पतला हो, उस सेना-रचना को 'मकरव्यूह' कहा जाता है।

(५) अग्रभाग से नुकीली और पृष्ठभाग से स्थूल एवं विस्तृत आकार वाली सेनारचना को 'सूचीव्यूह' कहते हैं।

(६) आगे का कुछ भाग नुकीला और उसके पीछे दो भागों में विस्तृतरूप में दूर तक फैली हुई सेना की संरचना को 'गरुडव्यूह' कहते हैं। इसमें अग्रपंक्ति जब शत्रु-सेना से लड़ने लगती है और शत्रुसेना भी जब सामने होकर संघर्ष करने लगती है तो अगल-बगल में फैली सेना शत्रुसेना पर अगल-बगल से झपट्टा मारकर दबाने की कोशिश करती है।

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्॥ १८८॥ (१५१)

(यतः भयम्+आशंकेत्) जिधर भय विदित हो (ततः) उसी ओर (बलं विस्तारयेत्) सेना को फैलावे (पद्मेन एव व्यूहेन) सब सेना के पतियों को चारों ओर रखके पद्मव्यूह अर्थात् पद्माकार चारों ओर से सेनाओं को रख के (स्वयं निविशेत) मध्य में आप रहे॥ १८८॥ (स० प्र० १६१)

अनुशीलन : कमल के पुष्प की तरह एक दल के पीछे दूसरे दल के रूप में चारों ओर गोलाकार रूप में सेना को खड़ा करना और मध्य में राजा या सेनापति का होना, इस मोर्चाबन्दी को 'पद्मव्यूह' कहा जाता है।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्॥ १८९॥ (१५२)

(सेनापति-बलाध्यक्षौ) सेनापति और बलाध्यक्ष आज्ञा को देने और सेना के साथ लड़ने-लड़ाने वाले वीरों को (सर्वदिक्षु निवेशयेत्) आठों दिशाओं में रखें (यतः भयम्+आशंकेत्) जिस ओर से लड़ाई होती हो (तां प्राचीं दिशं कल्पयेत्) उसी ओर सब सेना का मुख रखे।

परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबंध रक्खे, नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु की घात होने का सम्भव होता है॥ १८९॥ (स० प्र० १६२)

अनुशीलन : (क) "तां प्राचीं दिशं कल्पयेत्" अर्थात् 'उसे ही पूर्वदिशा मान लें' यह एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है उसी दिशा को मुख्य मानकर उसी की ओर मुख कर लेना अर्थात् शक्ति लगाना।

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समन्ततः।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः॥१९०॥ (१५३)

(गुल्मान्) जो गुल्म अर्थात् दृढ़स्तम्भों के तुल्य (आप्तान्) युद्धविद्या

में सुशिक्षित, धार्मिक (स्थाने च युद्ध कुशलान्) स्थित होने और युद्ध करने में चतुर (अभीरून्) भयरहित (च) और (अविकारिणः) जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो उनको+(समन्ततः स्थापयेत्) सेना के चारों ओर रखे ॥ १९० ॥ (स० प्र० १६२)

+ (कृतसंज्ञान्) निश्चित संकेतों को समझने वालों को........

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥१९१ (१५४)

(अल्पान् संहतान् योधयेत्) जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो मिलकर लड़ावे (कामं विस्तारयेत् बहून्) और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे, जब नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब (सूच्या वज्रेण व्यूह्य) 'सूचीव्यूह' तथा 'वज्र-व्यूह' जैसा दुधारा खड्ग दोनों ओर युद्ध करते जायें और प्रविष्ट भी होते चलें वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर (योधयेत्) लड़ावे ॥ १९१ ॥ (स० प्र० १६२)

"जो सामने (शतघ्नी) तोप वा (भुशुण्डी) बन्दूक छूट रही हो तो 'सर्पव्यूह' अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जायें, जब तोपों के पास पहुँचे तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें, बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें, एकवार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें।" (स० प्र० षष्ठसमु०)

अनुशीलन : जिस प्रकार दुधारी तलवार शरीर में नोक से घुसकर दोनों ओर से काटती जाती है, उसी प्रकार सेना की इस प्रकार मोर्चाबन्दी करना कि वह सामने लड़ती हुई शत्रु-सेना में प्रविष्ट होती जाये और अगल बगल भागों से दूसरी सेनापंक्तियां लड़ें तथा इस प्रकार रक्षा भी करें कि किसी बगल से घूमकर शत्रु घेर न ले, इस मोर्चाबन्दी को 'वज्रव्यूह' कहते हैं।

स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥१९२॥ (१५५)

(समे युध्येत् स्यन्दन+अश्वैः) जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ, घोड़े और पदातियों से (अनूपे नौ-द्विपैः) जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका और थोड़े जल में हाथियों पर (वृक्ष-गुल्म+आवृते) वृक्ष और झाड़ी में (चापैः) बाण (तथा) तथा (स्थले) स्थल बालू में (असि-चर्म-

आयुधैः) तलवार और ढाल से युद्ध करें-करावें ॥ १९२ ॥ (स० प्र० १६२)

अनुशीलन :

मनुप्रोक्त युद्धनीति एवं उसके अंग-प्रत्यंग (तालिका)

१. युद्धनीति के आधार	२. युद्धार्थ सेना	३. सेना के अधिकारी
१. साम (७।१५६,१९८,२००)	१. पैदल-सेना (७।१८५,१९२)	१. राजा (मुख्य नायक)
२. दाम (,, ,,)	२. रथसवार सेना (,, ,,)	२. सेनापति (७।१८९)
३. भेद (,, ,,)	३. घुड़सवार सेना (,, ,,)	३. बलाध्यक्ष (,,)
४. दण्ड(,, ,,)	४. हाथीसवार सेना(,, ,,)	४. दूत(७।६३-६८)
५. सन्धि (७।१६०,१६२,१६३ १६९)	५. जल सेना (,, ,,)	
६. विग्रह(७ १६०,१६४,१७०।)	६. वायु सेना (,, ,-)	
७. यान (७।१६०,१६५,१७१)		
८. आसन(७।१६०,१६६,१७२)		
९. द्वैधीभाव (७।१६०,१६७, १७३)		
१०. संश्रय (७।१६०.१६८, १७४)		

	४. युद्ध में व्यूहरचना	५. शस्त्रास्त्र-संकेत-वर्णन
	१. दण्डव्यूह (७।१८७)	१. धनुष (७।१९२)
	२. शकटव्यूह (,, ,,)	२. बाण (७।९०,१९२)
	३. वराहव्यूह (,, ,,)	३. तलवार (७।१९२)
	४. मकरव्यूह (,, ,,)	४. ढाल (७।१९२)
	५. सूचीव्यूह (,, ७।१९१)	५. कूटायुध (७।९०)
	६. गरुडव्यूह (,, ,,)	६. शक्ति (८।३१५)
	७. पद्मव्यूह (७।१८८)	७. वरुणपाश (९।३०८)
	८. वज्रव्यूह (७।१९१)	८. [illegible] (८।३१५)

सेना का उत्साहवर्धन—

> प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत् ।
> चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ १९४ ॥ (१५६)

(व्यूह्य बलं प्रहर्षयेत्) जिस समय युद्ध होता हो तो उस समय लड़ने वालों को उत्साहित और हर्षित करें, जब युद्ध बंद हो जाये तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो वैसे वक्तृत्वों [=वचनों] से सबके चित्त को खान-पान, अस्त्र-शस्त्र, सहाय और औषधादि से प्रसन्न रखे, व्यूह के बिना लड़ाई न करे, न करावे+(योधयताम्+अपि चेष्टाः विजानीयात्) लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि (सम्यक् परीक्षयेत्) ठीक-ठीक लड़ती है वा कपट रखती है ॥ १९४ ॥ (स० प्र० १६२)

+ (अरीन्) शत्रुओं से......................

शत्रुराजा को पीड़ित करने के उपाय—

> उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
> दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥ (१५७)

किसी समय उचित समझे तो (अरिम् उपरुध्य आसीत) शत्रु को चारों ओर से घेरकर रोक रखे (च) और (अस्य राष्ट्रम् उपपीडयेत्) इसके राज्य को पीड़ित कर (अस्य) शत्रु के (यवस-अन्न-उदक-इन्धनम्) चारा, अन्न, जल और इन्धन को (सततं दूषयेत्) नष्ट-दूषित कर दे ॥ १९५ ॥ (स० प्र० १६२)

> भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
> समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥ (१५८)

शत्रु के (तडागानि) तालाब (प्राकार) नगर के प्रकोट (तथा परिखाः) और खाई को (भिन्द्यात्) तोड़-फोड़ दे (रात्रौ एनं वित्रासयेत्) रात्रि में उनको भय देवे (च) और (सम्+अवस्कन्दयेत्) जीतने का उपाय करे ॥ १९६ ॥ (स० प्र० १६२)

शत्रुराजा के अमात्यों में फूट—

> उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम् ।
> युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥ (१५९)

(उपजप्यान्) शत्रु के वर्ग के जिन अमात्य, सेनापति आदि में फूट डाली जा सके, उनमें (उपजपेत्) फूट डाल दे (च) और इस प्रकार (तत् कृतं बुध्येत) शत्रु राजा की योजनाओं की जानकारी ले (च) और

(जयप्रेप्सुः) विजय का इच्छुक राजा इस प्रकार (अपेतभीः) भय छोड़कर (युक्ते देवे) उचित अवसर पर (युध्येत) युद्ध-आक्रमण शुरू कर देवे ॥१९७॥

साम्ना दामेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥ (१६०)

(साम्ना) 'साम' से (दामेन) 'दाम' से (भेदेन) 'भेद' से (समस्तैः) इन सब उपायों से एकसाथ (अथवा) अथवा (पृथक्) अलग-अलग एक-एक से (अरीन् विजेतुं प्रयतेत) शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करे (कदाचन युद्धेन न) कभी पहले युद्ध से जीतने का यत्न न करे ॥ १९८ ॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥ (१६१)

(पूर्वोक्तानां त्रयाणाम्+अपि+उपायानाम् असंभवे) पूर्वोक्त साम, दाम, भेद तीनों ही उपायों में से किसी से भी विजय की संभावना न रहने पर (सम्पन्नः) सब प्रकार से तैयारी करके (तथा युध्येत) इस प्रकार युद्ध करे (यथा) जिससे कि (रिपून् विजयेत) शत्रुओं पर विजय कर सके ॥ २०० ॥

राजा के विजयोपरान्त कर्त्तव्य—

जित्वा सम्पूजयेद् देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥ (१६२)

(जित्वा) विजय प्राप्त करके (धार्मिकान् देवान् ब्राह्मणान् एव) जो धर्माचरणवाले विद्वान् ब्राह्मण हों उनको ही (पूजयेत्) सत्कृत करे अर्थात् उनको अभिवादन करके उनका आशीर्वाद ले (च) और (परिहारान् प्रदद्यात्) जिन प्रजाजनों को युद्ध में हानि हुई है उन्हें क्षतिपूर्ति के लिए सहायता दे (च) तथा (अभयानि ख्यापयेत्) सब प्रकार के अभयों की घोषणा करा दे कि 'प्रजाओं को किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं दिया जायेगा अतः वे सब प्रकार से भय-आशंका-रहित होकर रहें' ॥ २०१ ॥

हारे हुए राजा से प्रतिज्ञापत्र आदि लिखवाना—

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम् ।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥ (१६३)

(एषां सर्वेषाम्) विजित प्रदेश की इन सब प्रजाओं की (चिकीर्षितम्) इच्छा को (समासेन विदित्वा) संक्षेप से अर्थात् सरसरी तौर पर जानकर कि वे किसे अपना राजा बनाना चाहती हैं या कोई और विशेष आकांक्षा हो उसे भी जानकर (तत्र) उस राजसिंहासन पर (तत् वंश्यम्) उस प्रदेश

की प्रजाओं में से उन्हीं के वंश के किसी व्यक्ति को (स्थापयेत्) बिठा देवे (च) और (समय-क्रियाम् कुर्यात्) उससे शर्तनामा लिखा लेवे [कि अमुक कार्य तुम्हें स्वेच्छानुसार करना है, अमुक मेरी इच्छा से। इसी प्रकार अन्य कर, अनुशासन आदि से सम्बद्ध बातें भी उसमें हों] ॥ २०२ ॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥ (१६४)

(तेषां यथोदितान् धर्म्यान्) उन विजित प्रदेश की प्रजाओं या नियुक्त राजपुरुषों द्वारा कही हुई उसकी न्यायोचित [=वैध] बातों को (प्रमाणानि कुर्वीत) प्रमाणित कर दे अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक स्वीकार कर ले। अभिप्राय यह है कि उनकी न्यायोचित बातों को मान लेवे और जो अमान्य बातें हों उनको न माने (च) और (प्रधानपुरुषैः सह एनम्) प्रधान राजपुरुषों के साथ बन्दीकृत इस राजा का (रत्नैः पूजयेत्) उत्तम वस्तुयें प्रदान करते हुए यथायोग्य सत्कार रखे ॥ २०३ ॥

"जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञा आदि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके अनुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, ऐसे उपदेश करे। और ऐसे पुरुष उनके पास रखे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो। और जो हार जाये, उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्न आदि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसको योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह करे तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रखे, जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे।" (स० प्र० १६४)

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥ (१६५)

क्योंकि (आदानम्+अप्रियकरम्) संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति (च) और (दानं प्रियकारकम्) देना प्रीति का कारण है, और (काले युक्तम्) समय पर उचित क्रिया करना (अभीप्सितानाम्+अर्थानाम्) उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों का देना (प्रशस्यते) बहुत उत्तम है ॥ २०४ ॥ (स० प्र० १६२)

सह वाऽपि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥२०६॥(१६६)

[यदि पूर्वोक्त कथनानुसार (७ । २०२--२०३) राजा को बन्दी न बनाकर उसके स्थान पर दूसरा राजा न बिठाकर उसे ही राजा रखे तो] (अपि वा) अथवा (सह युक्तः) उसी राजा के साथ मेल करके (प्रयत्नतः सन्धि कृत्वा) बड़ी सावधानी पूर्वक उससे सन्धि करके अर्थात् सन्धिपत्र लिखाकर (मित्रं हिरण्यं वा भूमिं त्रिविधं फलं सम्पश्यन्) मित्रता, सोना अथवा भूमि की प्राप्ति होना, इन तीन प्रकार के फलों को देखकर अर्थात् इनकी उपलब्धि करके (व्रजेत्) वापिस लौट आये ॥ २०६ ॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले ।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥ (१६७)

(मण्डले) अपने राज्य में (पार्ष्णिग्राहम्) 'पार्ष्णिग्राह' संज्ञक राजा [१५६] (तथा) तथा (आक्रन्दं संप्रेक्ष्य) 'आक्रन्द' संज्ञक राजा का [१५६] ध्यान रखके (मित्रात्+अथापि+अमित्रात्) मित्र अथवा पराजित शत्रु से (यात्राफलम्+अवाप्नुयात्) युद्धयात्रा का फल प्राप्त करे। अभिप्राय यह है कि अपने पड़ोसी राजाओं से,सुरक्षा के लिए या उनको वश में करने के लिए कौन से फल की अधिक उपयोगिता होगी, यह सोचकर शत्रु या मित्र से वही-वही फल मुख्यता से प्राप्त करे ॥ २०७ ॥

सच्चा मित्र सबसे बड़ी शक्ति—

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
तथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥ (१६८)

(पार्थिवः) राजा (हिरण्य-भूमि-सम्प्राप्त्या) सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति से (तथा न एधते) वैसा नहीं बढ़ता (यथा) कि जैसे (ध्रुवम्) निश्चल प्रेमयुक्त (आयतिक्षमम्) भविष्यत् की बातों को सोचने और कार्य-सिद्ध करने वाले समर्थ मित्र (अपि कृशम्) अथवा दुर्बल मित्र को भी (लब्ध्वा) प्राप्त होके बढ़ता है ॥ २०८ ॥ (स० प्र० १६४)

प्रशंसनीय मित्र राजा के लक्षण—

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥ (१६९)

(धर्मज्ञम्) धर्म को जानने (च) और (कृतज्ञम्) कृतज्ञ अर्थात् किये हुए उपकार को सदा मानने वाले (तुष्टप्रकृतिम्) प्रसन्नस्वभाव (अनुरक्तम्) अनुरागी (स्थिरारम्भम्) [=स्थिरतापूर्वक मित्रता या कार्य करने वाला] (लघुमित्रम्) लघु=छोटे मित्र को प्राप्त होकर (प्रशस्यते) प्रशंसित होता है ॥ २०९ ॥ (स० प्र० १६४)

कष्टकर शत्रु के लक्षण—

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥ (१७०)

सदा इस बात को दृढ़ रखे कि कभी (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् (कुलीनम्) कुलीन (शूरम्) शूरवीर (दक्षम्) चतुर (दातारम्) दाता (कृतज्ञम्) किये हुए को जाननेहारे (च) और (धृतिमन्तम्) धैर्यवान् पुरुष को (अरिम् कष्टम्+आहुः) शत्रु न बनावे क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनावेगा वह दुःख पावेगा ॥ २१० ॥ (स० प्र० १६४)

❀ (बुधा) विचारशील विद्वानों का ऐसा मत है।

उदासीन के लक्षण—

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ (१७१)

उदासीन का लक्षण—(आर्यता पुरुषज्ञानम्) जिसमें प्रशंसितगुण-युक्त अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान (शौर्यम्) शूरवीरता (च) और (करुण-वेदिता) करुणा भी (स्थौललक्ष्यं सततम्) स्थूल लक्ष्य अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे (उदासीनगुणोदयः) वह उदासीन कहाता है ॥ २११॥ (स० प्र० १६५)

राजा द्वारा आत्मरक्षा सबसे आवश्यक—

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥ (१७२)

(नृपः) राजा (आत्मार्थम्) अपनी राज्य की रक्षा के लिए (क्षेम्याम्) आरोग्यता से युक्त (सस्यप्रदाम्) धान्य-घास आदि से उपजाऊ रहने वाली (नित्यं पशुवृद्धिकरीम्) सदैव जहाँ पशुओं की वृद्धि होती हो, ऐसी भूमि को भी (अविचारयन्) बिना विचार किये (परित्यजेत्) छोड़ देवे अर्थात् विजयी राजा को देनी पड़े तो दे दे, उसमें कष्ट अनुभव न करे ॥ २१२ ॥

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥ (१७३)

आपत्ति में पड़ने पर (आपत्+अर्थम्) आपत्ति से रक्षा के लिए (धनं रक्षेत्) धन की रक्षा करे, और (धनैः+अपि) धनों की अपेक्षा (दारान् रक्षेत्) स्त्रियों की सर्थात् परिवार की रक्षा करे (दारैः+अपि

धनैः+अपि) स्त्रियों से भी और धनों से भी आत्मरक्षा करना सबसे आवश्यक है। यदि उसकी रक्षा नहीं हो सकेगी तो वह न परिवार की रक्षा कर सकेगा और न धन की न राज्य की ॥ २१३ ॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम्।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् बुधः ॥ २१४ ॥(१७४)

(सर्वाः आपदः भृशं सह समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्य) सब प्रकार की आपत्तियां तीव्र रूप में और एकसाथ उपस्थित हुई देखकर (बुधः) बुद्धिमान् (संयुक्तान्) सम्मिलित रूप से और (वियुक्तान्) पृथक्-पृथक् रूप से अर्थात् जैसे भी उचित समझे (सर्व+उपायान् सृजेत्) सब उपायों को उपयोग में लावे ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥ (१७५)

(उपेतारम्) उपेता=प्राप्त करनेवाला अर्थात् स्वयं (उपेयम्) उपेय=प्राप्त करने योग्य अर्थात् शत्रु (च) और (सर्व+उपायान्) सब विजय प्राप्त करने के साम, दाम, आदि उपाय (एतत् त्रयम्) इन तीन बातों को (कृत्स्नशः समाश्रित्य) सम्पूर्ण रूप से आश्रय करके अर्थात् विचार करके और अपनी क्षमता देखकर (अर्थसिद्धये प्रयतेत) राजा अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करे, इन्हें बिना विचारे नहीं ॥ २१५ ॥

मन्त्रणा एवं शस्त्राभ्यास के बाद भोजनार्थ अन्तःपुर में जाना—

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥२१६॥(१७६)

(एवम्) इस प्रकार (राजा) राजा (इदं सर्वम्) यह पूर्वोक्त [७।१४६—२१५] सब (मंत्रिभिः सह संमन्त्र्य) मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श करके (व्यायम्य) व्यायाम अर्थात् शस्त्रास्त्रों का अभ्यास करके (आप्लुत्य) स्नान करके फिर (मध्याह्ने) दोपहर के समय (भोक्तुम्) भोजन करने के लिए (अन्तःपुरं विशेत्) अन्तःपुर अर्थात् पत्नी आदि के निवास-स्थान में प्रवेश करे ॥ २१६ ॥

राजा सुपरीक्षित भोजन करे—

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥ (१७७)

(तत्र) वहां अन्तःपुर में जाकर (आत्मभूतैः) गम्भीर प्रेम रखने वाले

(कालज्ञैः) ऋतु स्वास्थ्य, अवस्था आदि के अनुसार भोज्य पदार्थों के खाने के समय को जानने वाले (अहार्यैः) शत्रुओं द्वारा फूट में न आने वाले (परिचारकैः) सेवकों=पाकशालाध्यक्षों, वैद्यों आदि के द्वारा (विषापहैः मन्त्रैः) विषनाशक युक्तियों या उपायों से (सुपरीक्षितम्) अच्छी प्रकार परीक्षा किये हुए (अन्नाद्यम्) भोजन को (अद्यात्) खाये ॥ २१७ ॥*

'भोजन सुपरीक्षित, बुद्धिबलपराक्रमवर्धक, रोगविनाशक, अनेक प्रकार के अन्न-व्यंजन-पान आदि सुगन्धित-मिष्टादि अनेक रसयुक्त उत्तम करे।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

अनुशीलन : इस श्लोक में "**कालज्ञैः**" और '**विषापहैः मन्त्रैः**' पदों पर किसी को भ्रान्ति न हो इसलिए इन पर विस्तृत प्रकाश डालना आवश्यक है। क्योंकि, आजकल ये शब्द और वाक्य अन्य अर्थों में रूढ हो गये हैं और टीकाकारों ने युक्ति-संगत अर्थ नहीं दिये हैं—

(१) **'कालज्ञ' का प्रासंगिक और मनुसम्मत अर्थ**—कालज्ञ का शब्दार्थ 'काल को जानने वाला' होता है, जो ज्योतिषी अर्थ में भी रूढ है, किन्तु यहां इसका यह अर्थ नहीं। शब्दकोशों में कालज्ञ का अर्थ—'किसी कार्य के उचित समय या अवसर को जानने वाला' भी मिलता है। संस्कृत-साहित्य में भी यह अर्थ प्रचलित है। यहां भी यही अर्थ है। फिर यहां प्रसंग भोजन का है, अतः भोजन के प्रसंग में ही उसका अर्थ बनेगा। इस प्रकार इस श्लोक में कालज्ञ का अर्थ—'स्वास्थ्य, अवस्था, ऋतु आदि के अनुसार भोज्य पदार्थों या भोजन के समय को जानने वाला' यह अर्थ है। यही उपयुक्त एवं प्रासंगिक है।

(२) **'विषापहैः मन्त्रैः' पदों के अर्थ पर विचार**—'मन्त्र' का अर्थ भी 'विचार' या 'युक्ति' एवं 'विचारात्मक उपाय' होता है। [देखिए ऋ० १। १५२। २; १। ६७। २ मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द का भाष्य] इस प्रकार "विषापहैः मन्त्रैः" का इस श्लोक में किया गया अर्थ ही उचित एवं युक्तिसंगत है। अन्य टीकाओं का अर्थ बुद्धिगम्य एवं युक्ति-संगत नहीं है। केवल मन्त्रोच्चारण से विष दूर होना असंभव बात है।

(३) **कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा को भोजन-सम्बन्धी निर्देश**—मनु के समान कौटिल्य ने भी राजा को परीक्षित सुरक्षा में निर्मित, विषादि से रहित और सुस्वादु भोजन करने का निर्देश दिया है। कौटिल्य के अनुसार राजा का भोजन एकान्त और सुरक्षित पाकशाला में तैयार होना चाहिए। वहां विष आदि की परीक्षा करने वाले वैद्य

---

* [**प्रचलित अर्थ**— वहां अन्तःपुर में अपने तुल्य, भोजनसमय के ज्ञाता, किसी शत्रु आदि से फोड़कर अपने पक्ष में नहीं करने योग्य परिचारकों (पाचक आदि) से बनाये गये एवं परीक्षा किये गये अन्न आदि को विषनाशक मन्त्रों से (गारुडादि मन्त्रों का जपकर) भोजन करे।]

हों। वैद्यों एवं पाकशालाध्यक्ष द्वारा राजा के सामने स्वयं चखकर परीक्षित तथा अग्नि और पशु-पक्षियों के आगे डालकर परीक्षित भोजन, जलपान आदि राजा को करना चाहिए। वैद्यों को विभिन्न विषनाशक युक्तियों से भोजन की परीक्षा करनी चाहिए तथा विषमारक उपायों की तैयारी रखनी चाहिए। [प्रक० १६। अ० २०][1] कौटिल्य के इन वचनों से भी इस व्याख्या को किये अर्थों की पुष्टि होती है।

खाद्य पदार्थों के समान अन्य प्रयोज्य साधनों में सावधानी—

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥ २२० ॥ (१७८)

राजा (यान-शय्या-आसन-अशने) सवारी, सोने के साधन पलंग आदि, आसन, भोजन (स्नाने च प्रसाधने) स्नान और शृंगार प्रसाधन उबटन आदि (च) और (सर्व+अलंकारकेषु) सब राजचिह्न जैसे अलंकार आदि साधनों में भी (एवं प्रयत्नं कुर्वीत) इसी प्रकार योग्य सेवकों द्वारा परीक्षा कराने की सावधानी बरते [जैसे २१७ श्लोक में उक्त भोजन में बरतने को कहा है] ॥ २२० ॥

अनुशीलन : **कौटिल्य द्वारा यान आदि के प्रयोग में सावधानी का निर्देश**—यतोहि राजा के विरुद्ध शत्रुओं द्वारा प्रतिपल षड्यन्त्र रचे जाते हैं, अतः राजा को प्रत्येक कार्य में सुरक्षार्थ सावधानी रखने का निर्देश है। कौटिल्य ने इस निर्देश को और विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। उनके अनुसार दाढ़ी-मूंछ के उपयोग में आने वाले साधनों, वस्त्रों, राज-अलंकरणों, माल्यार्पण, स्नान, यान, आसन, पशु-वाहन आदि प्रत्येक की पहले विश्वसनीय सेवकों द्वारा राजा के सामने परीक्षा होनी चाहिए। कहीं उनमें विषप्रयोग या धोखा न हो। तत्पश्चात् राजा के प्रयोग में लाने चाहिएं।[2]

भोजन के बाद विश्राम और राज्यकार्यों का चिन्तन—

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥ (१७९)

---

१. "तस्मादस्य जाङ्गलीविदो भिषजश्चासन्नाः स्युः। भिषक् भैषज्यागारादास्वादविशुद्धमौषधं गृहीत्वा पाचकपोषकाभ्यामात्मना च प्रतिस्वाद्य राज्ञे प्रयच्छेत्। पानं पानीयं चौषधेन व्याख्यातम्।"

"गुप्ते देशे माहानसिकः सर्वमास्वादबाहुल्येन कर्म कारयेत्। तद्राजा तथैव प्रति भुञ्जीत, पूर्वमग्नये वयोभ्यश्च बलिं कृत्वा।" [प्रक० १६। अ० २०]

२. "कल्पकप्रसाधकाः स्नानशुद्धवस्त्रहस्ताः समुद्रमुपकरणमन्तर्वंशिकहस्तादादाय परिचरेयुः। आत्मचक्षुषि निवेश्य वस्त्रमाल्यं दद्युः, स्नानानुलेपनप्रघर्षचूर्णवासस्नानीयानि स्ववक्षो बाहुषु च। एतेन परस्मादागतकं व्याख्यातम्।...मौलपुरुषाधिष्ठितं यानवाहनमारोहेत् नावं चाप्तनाविकाधिष्ठिताम्॥" [प्रक० १६। अ० २०]

(च) और [२१६-२१७ में कहे अनुसार] (भुक्तवान्) भोजन करके (अन्तःपुरे) अन्तःपुर=रनिवास में (स्त्रीभिः सह) पत्नी आदि पारिवारिक जन के साथ (विहरेत्) आमोद-प्रमोद या विश्राम करे (तु) और (विहृत्य) विश्राम करके (पुनः) तदनन्तर (यथाकालम्) यथासमय (कार्याणि चिन्तयेत्) कार्यों अर्थात् मुकद्दमों [८। १-८ में वर्णित] तथा ७। ५४-२१५ में वर्णित राज्यकार्यों पर विचार करे ॥ २२१ ॥✻

अनुशीलन : 'स्त्रीभिः' पद से अभिप्राय—इस श्लोक में 'स्त्रीभिः' शब्द का अर्थ प्रचलित टीकाओं में 'बहुपत्नियां या रानियां' किया है, जो मनुविरुद्ध है। यहां इस श्लोक में इसका अर्थ 'पत्नी आदि पारिवारिक स्त्रियां' या पारिवारिक जन है। इस की पुष्टि में निम्न प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) मनु ने द्विजों के लिए और राजा के लिए स्पष्टतः एक पत्नी का विधान किया है—उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्" [३। ४]। **तदत्यास्य उद्वहेद् भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्** [७। ७७] और अन्यत्र यह आदेश दिया है कि पति-पत्नी कोई भी ऐसा कार्य न करें जिससे जीवन भर वियोग का अवसर आये [९। १०१, १०२]। इससे सिद्ध है कि मनु के मत में एक से अधिक स्त्रियों का विधान नहीं है।

(२) मनु ने एक से अधिक अर्थात् बहुत स्त्रियों का सेवन राजा के लिए स्पष्टतः निषिद्ध किया है। ७। ४७, ५० श्लोक द्रष्टव्य हैं।

(३) महर्षि दयानन्द ने भी इस श्लोक का भाव ग्रहण करते हुए सत्यार्थ प्रकाश में उपर्युक्त अर्थ ही ग्रहण किया है—"भोजन के लिए अन्तःपुर अर्थात् पत्नी आदि के निवास स्थान में प्रवेश करे (पृ० १६५)

इन प्रमाणों के आधार पर इस भाष्य का अर्थ मनुसम्मत है।

सैनिकों एवं शस्त्रादि का निरीक्षण—

अलंकृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम्।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥ (१८०)

(च) और (पुनः) फिर (अलंकृतः) कवच, शस्त्रास्त्रों [७। २२३ में भी] एवं राजचिह्नों, राजवेशभूषा आदि से सुसज्जित होकर (आयुधीयं जनम्) शस्त्रधारी सैनिकों (च) और (वाहनानि) रथ, हाथी, घोड़े आदि वाहनों (सर्वाणि शस्त्राणि) सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों—शस्त्रभण्डारों (च) और (आभरणानि) आभूषणों [धातु, रत्न आदि] और उनकी सुरक्षा-संभाल आदि का (संपश्येत्) निरीक्षण करे ॥ २२२ ॥

✻ [प्रचलित अर्थ—भोजन कर राजा रनिवास में रानियों के साथ विहार (क्रीड़ा आदि) करे तथा यथासमय फिर राजकार्यों का चिन्तन करे ॥ २२१ ॥]

अनुशीलन : महर्षि दयानन्द ने [illegible] १४५, १४६, २१६, २२१ और २२२ श्लोकों का संक्षेप में भाव ग्रहण किया है, जो इस प्रकार है—

"पूर्वोक्त प्रातःकाल समय उठ, शौचादि संन्ध्योपासन, अग्निहोत्र कर व करा, सभा में जा, सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल उनको हर्षित कर नाना प्रकार की व्यूहशिक्षा अर्थात् कवायद कर-करा, सब घोड़े, हाथी, गाय आदि स्थान; शस्त्र और अस्त्र का कोश तथा वैद्यालय, धन के कोशों को देख सब पर दृष्टि नित्य-प्रति देकर जो कुछ उनमें खोट हों उनको निकाल, व्यायामशाला में जा व्यायाम करके भोजन के लिए 'अन्तःपुर' अर्थात पत्नी आदि के निवास-स्थान में प्रवेश करे।"

(स० प्र० १६५)

संध्योपासना तथा गुप्तचरों और प्रतिनिधियों के सन्देशों को सुनना—

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥(१८१)

(च) और फिर (संध्याम् उपास्य) सायंकालीन संध्योपासना करके (शस्त्रभृत्) शस्त्रास्त्र धारण किया हुआ राजा (अन्तर्वेश्मनि) महल के भीतर गुप्तचर गृह में (रहस्य+आख्यायिनाम्) राज्य के रहस्यमय समाचारों को लाने में नियुक्त गुप्तचरों (च) और (प्रणिधीनाम्) दूतों और गुप्तचराधिकारियों के (चेष्टितम्) कार्यों एवं समाचारों को (शृणुयात्) सुने ॥ २२३ ॥

अनुशीलन : यहां ७। १५३ की पुनरुक्ति नहीं है। वहां इन बातों की योजना पर मन्त्रणा का प्रसंग है। यहाँ योजनाबद्धरूप से नियुक्त अधिकारियों-गुप्तचरों की सूचनाएँ (रिपोर्टें) सुनने का कथन तथा राजा की सायंकालीन दिनचर्या है।

गुप्तचरों को समझाकर सायंकालीन भोजन के लिए अन्तःपुर में जाना—

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥(१८२)

(तु) और फिर (तं जनम्) उन सब लोगों को (अन्यत् सम्+अनुज्ञाप्य) और आगे के लिए जो कुछ समझना-कहना है उस सबका आदेश देकर (पुनः) फिर (अन्तःपुरं गत्वा) अन्तःपुर में जाकर वहां (स्त्रीवृतः) स्त्री के साथ या द्वितीयार्थ में अंगरक्षिका स्त्रियों से सुरक्षित (कक्षान्तरं भोजनार्थं प्रविशेत्) भोजनशाला के कमरे में भोजन करने के लिए प्रवेश करे ॥२२४॥+

+ [प्रचलित अर्थ—इसके बाद उन्हें विदाकर परिचारिकाओं (दासियों) से परिवृत होकर भोजन के लिए फिर अन्तःपुर में प्रवेश करे ॥ २२४ ॥]

अनुशीलन : (१) **'स्त्रीवृतः' का मनुसम्मत अर्थ**—प्रचलित टीकाओं में 'स्त्रीवृतः' का अर्थ 'दासियों से घिरा' किया गया है जो मनुविरुद्ध है—(१) मनु ने राजधर्म में कहीं भी राजा के लिए दासियों का विधान नहीं किया है। (२) पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों का संग निषिद्ध किया है [द्रष्टव्य ७ । २२१ की समीक्षा]. (३) ७ । २०८, २२१ में भी इसी का प्रसंग है। वहां स्त्री का अर्थ पत्नी है। वह इस भाष्य के अर्थ का पोषक है।

यदि 'स्त्रीवृतः' का अर्थ अंगरक्षिका स्त्री-सैनिकों या अंगरक्षिका परिचारिकाओं से सुरक्षित' किया जाये, जैसा कि कौटिल्य का भी मत है; तो मनु से विरोध नहीं आता। किन्तु दासी अर्थ मनुसम्मत नहीं है।

(२) **'स्त्रीवृतः' की कौटिल्य के दृष्टिकोण से व्याख्या**—आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजा को आत्मरक्षा के लिए जो निर्देश दिये हैं, उनमें से इस श्लोक के सन्दर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं। (१) कौटिल्य ने अनेक उदाहरण देकर बतलाया है कि रानियों ने षड्यन्त्र की शिकार होकर बहुत-से राजाओं को मार डाला। अतः अपनी रानी के महल में भी राजा को एकाकी नहीं जाना चाहिए। साथ में प्रौढ़ अंगरक्षिका स्त्रियां होनी चाहिएँ। (२) कौटिल्य ने राजा को अन्तःकक्ष के समीप वाले दूसरे कक्षों में धनुर्धारी अंगरक्षिकाओं को रखने का विधान किया है। उसके बाद के कक्षों में पुरुष रक्षकों को रखने का निर्देश है। यह सुरक्षा के दृष्टिकोण से है। इस प्रकार कौटिल्य के वर्णन के अनुसार 'स्त्रीवृतः' का अर्थ 'अंगरक्षिका शस्त्रधारी' स्त्रियों से सुरक्षित' भी हो सकता है।[1]

रात्रिशयनकाल—

> **तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।**
> **संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥ (१८३)**

(तत्र) वहां (भुक्त्वा) भोजन करके (पुनः) उसके पश्चात् (तूर्यघोषैः प्रहर्षितः) शहनाई-तुरही आदि बाजों के संगीत से मन को प्रसन्न करके (संविशेत्) सो जाये (तु) और (गतक्लमः) विश्राम करके श्रान्तिरहित होकर (यथा- कालम् उत्तिष्ठेत्) निश्चित समय अर्थात् रात्रि के पिछले पहर ब्राह्म-मुहूर्त्त में [७ । १४५] उठे ॥ २२५ ॥

> **एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।**
> **अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥ (१८४)**

---

१. "अन्तर्गृहगतः स्थविरस्त्रीपरिशुद्धां देवीं पश्येत् । न काञ्चिदभिगच्छेत् ।" [प्रक० १९ । अ० १६] "शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत ।" [प्रक० १६ । अ० २०]

(अरोगः) स्वस्थ अवस्था में (पृथिवीपतिः) राजा (एतत् विधानम् +आतिष्ठेत्) इस पूर्वोक्त विधि से कार्यों को करे (अस्वस्थः) अस्वस्थ हो जाने पर (एतत् सर्वं तु) यह सब कार्यभार (भृत्येषु) पृथक्-पृथक् विभागों में नियुक्त प्रमुख मन्त्री आदि [७।५४, १२०, १४१, ८।९-११] को (विनियोजयेत्) सौंप देवे ॥ २२६ ॥

अनुशीलन : (१) **श्लोकवर्णन पर विचार**—यहां ७।१४१ आदि श्लोकों की पुनरुक्ति नहीं है। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि रुग्णावस्था आदि की स्थिति में अपने-अपने विभाग के प्रमुख अमात्यों या सभाओं के अधिकृत प्रमुखों को अपना कार्य निरीक्षण के लिए सौंप देवे, केवल एक को ही नहीं। यह राजा की संक्षेप में दिनचर्या या कार्यपद्धति है। पृथक्-पृथक् विभागों के प्रसंगानुसार यही पद्धति ७।५४, ८१, १२०, १४१॥ ८।९-११ श्लोकों में कही है। उस का इस श्लोक में उपसंहार है।

(२) **भृत्य शब्द के अर्थ पर विचार**—भृत्य शब्द का आजकल अधिक प्रचलित अर्थ 'नौकर' है। यह एक पक्ष में रूढ हो गया है। इस श्लोक में भृत्य से नौकर अर्थ की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। यहां भृत्य से अभिप्राय उन सभी अधिकारियों-कर्मचारियों से है जो राजा के आश्रित मन्त्री से लेकर कर्मचारी तक हैं। भृत्य का अर्थ 'अमात्य' और 'मन्त्री' अर्थ भी है और संस्कृत-साहित्य में प्रचलित है। ७।३६—६२ श्लोकों के प्रसंग में भृत्य शब्द के अन्तर्गत मन्त्रियों, अमात्यों से लेकर निम्न कर्मचारी तक परिगणित हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी भृत्य और अमात्यों से लेकर कर्मचारी वर्ग एवं आचार्य और पुरोहित तक गृहीत हैं। [देखिए 'भृत्यभरणीय' नामक ९१ वां प्रकरण।]

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दीभाषाभाष्यसमन्वितायाम्
अनुशीलन-समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
राजधर्मात्मकः सप्तमोऽध्यायः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(राजधर्मान्तर्गत व्यवहार-निर्णय)

[८।१ से ६।९६ पर्यन्त]

व्यवहारों अर्थात् मुकद्दमों के निर्णय के लिए राजा का न्यायसभा में प्रवेश —

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥ (१)

(व्यवहारान्) व्यवहारों अर्थात् मुकद्दमों [८।४-७] को (दिदृक्षुः तु) देखने अर्थात् निर्णय करने का इच्छुक (पार्थिवः) राजा (ब्राह्मणैः) न्याय-ज्ञाता विद्वानों [८।११] (मन्त्रज्ञैः) सलाहकारों (च) और (मन्त्रिभिः) मन्त्रियों के (सह) साथ (विनीतः) विनीतभाव एवं वेश से [८।२] (सभां प्रविशेत्) राजसभा = न्यायालय [८।१२] में प्रवेश करे ॥ १ ॥

अनुशीलन: (१) **मन्त्रज्ञ और ब्राह्मण का विशेष अभिप्राय**—इस श्लोक में 'मन्त्रज्ञैः' से अभिप्राय मुकद्दमों में उस-उस विषय के सलाहकारों से है। 'मन्त्रिभिः' से अभिप्राय उस-उस विभाग के प्रमुख मन्त्रियों से या अमात्यों से है जो राजा द्वारा न्याय के लिए अधिकृत विद्वान् के रूप में नियुक्त किये जाते हैं [७।५४, ६०, ८।११]। 'ब्राह्मण' शब्द से यहां अभिप्राय वेदविद्याओं के न्यायाधीश श्रोत्रिय विद्वानों से है, जिनका वर्णन ब्रह्मसभा अर्थात् न्यायाधीश विद्वानों की सभा के रूप में ८।११ में आया है। ब्राह्मण से यहां यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि वह ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति ही होना चाहिए। वेदों के प्रत्येक विद्वान् के लिए ब्राह्मण, विप्र आदि शब्दों का प्रयोग आता है [द्रष्टव्य ८।११ और १।८८ पर समीक्षा]। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग यहां विशेषाभिप्राय से है। वह अभिप्राय यह है कि न्यायाधीश ब्रह्म अर्थात् वेदों के विशेषवेत्ता और धार्मिक गुणप्रधान विद्वान् अवश्य होने चाहिएँ, इसीलिए ८।११ में 'वेदविदः' का प्रयोग किया है।

(२) **विनीत होने का उद्देश्य**—राजा को विनीत भाव एवं वेशभूषा से न्याया-लय में जाने के कथन का उद्देश्य यह है कि साक्षी आदि उसके कठोर भावों को देखकर

भयभीत न हों और बिना घबराहट के स्वाभाविक रूप से अपनी बात कह सकें। अगले ही श्लोक में इसी उद्देश्य से **'विनीत वेषाभरणः'** पद का भी प्रयोग किया गया है।

(३) वेदमन्त्र में भी इसी प्रकार का वर्णन है। मनु ने उसी के अनुरूप व्यवस्था दी है—

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिः, देवैरग्ने सयावभिः।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रोऽअर्य्यमा प्रातर्यावाणोऽध्वरम् ॥

यजु० ३३। १५ ॥

भावार्थ—(श्रुत्कर्ण) प्रार्थी के वचन को सुनने वाले कानों से युक्त (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वान् वा राजन्! (सयावभिः) साथ चलने वाले, (वह्निभिः) कार्य के निर्वाहक (देवैः) विद्वानों के साथ (अध्वरम्) हिंसारहित राज्यव्यवहार को [ऐसा मुकद्दमा जिसमें किसी के साथ अन्याय न हो] (श्रुधि) सुन। (प्रातर्यावाणः) प्रातः राजकार्यों को प्राप्त कराने वाले, (मित्रः) पक्षपात से रहित सबका मित्र और (अर्यमा) अर्य=वैश्य वा स्वामी जनों का मान करने वाला न्यायाधीश (बर्हिषि) आकाश के तुल्य विशाल सभा में (आसीदन्तु) विराजमान हों।

भावार्थ—सभापति राजा, सुपरीक्षित अमात्यजनों को स्वीकार करके, उनके साथ सभा में बैठकर, विवाद करने वालों के वचनों को सुनकर, यथार्थ न्याय करे।

(महर्षि-दयानन्दभाष्य)

न्यायसभा में मुकद्दमों को देखें--

तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २ ॥ (२)

(तत्र) वहां न्यायालय में (विनीत-वेष+आभरणः) विनीत वेशभूषा, आभूषणों से युक्त होकर (आसीनः अपि वा स्थितः) सुविधानुसार बैठकर अथवा खड़ा होकर (दक्षिणं पाणिम्+उद्यम्य) दाहिने हाथ को उठाकर (कार्यिणाम्) मुकद्दमे वालों के (कार्याणि) कार्यों=विवादों को (पश्येत्) देखे=निर्णय करे [७। १४६ में राजसभा में भी इसी प्रकार सुविधानुसार खड़े या बैठने की व्यवस्था का कथन है] ॥ २ ॥

अनुशीलन : मुहावरे पर विचार—इस श्लोक में 'दक्षिणं पाणिम् उद्यम्य' का एक मुहावरे के रूप में प्रयोग है। यह क्रिया 'अपनी बात कहना' या 'निर्णय देना' प्रारम्भ करने की 'प्रतीक' है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जब तक निर्णय दे तब तक दायां हाथ उठाये रखे, अपितु यह है कि विवाद करते हुए लोगों को सुनकर अपनी बात या निर्णय कहते समय दायां हाथ उठाकर संकेत करे। जो सामने वाले लोगों के लिए इस बात का प्रतीक या संकेत होता है कि राजा या न्यायाधीश अब

अपनी बात कहना चाहते हैं। यह परम्परा आज भी प्रचलित है। बड़ी-बड़ी सभाओं में, श्रेणियों में, भीड़भरे न्यायालयों में बोलते हुए लोगों को चुप करने और अपनी बात कहने के लिए वक्ता हाथ उठाकर संकेत करता है। लोग चुप होकर उसकी बात को सुनने के लिए ध्यान लगाते हैं।

अठारह प्रकार के मुकद्दमे—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक्॥ ३॥ (३)

सभा, राजा और राजपुरुष सब लोग (देशदृष्टैः च शास्त्रदृष्टैः च हेतुभिः) देशाचार और शास्त्रव्यवहार के हेतुओं से (अष्टादशसु मार्गेषु) निम्नलिखित अठारह [८।४–७] विवादास्पद मार्गों में❀ विवादयुक्त कर्मों का निर्णय (प्रति+अहम्) प्रतिदिन❀❀किया करें।

और जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पावें और उनके होने की आवश्यकता जानें, तो उत्तमोत्तम नियम बांधे कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो॥ ३॥ (स० प्र० १६६)

❀ (निबद्धानि) बांधे अर्थात् नियत किये गये............

❀❀(पृथक्-पृथक्) अलग-अलग................

स० प्र० १७६ पर स्वामी जी ने पुनः श्लोक की प्रथम पंक्ति उद्धृत करके लिखा है—"जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें, उन-उन नियमों को पूर्णविद्वानों की राज-सभा बांधा करे"।

अनुशीलन : 'पृथक्-पृथक्' पदों से यहां यह अभिप्राय है कि राजा—जो अठारह प्रकार के विवाद हैं उनमें पृथक्-पृथक् विवाद से सम्बन्धित विद्वानों, सलाहकारों और मन्त्रियों के साथ मिलकर, विचार करके निर्णय करे।

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥ ४॥ (४)
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥ ५॥ (५)
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च॥ ६॥ (६)
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥ ७॥ (७)

अठारह मार्ग ये हैं—(तेषाम्) उनमें १—(ऋणादानम्) किसी से

ऋण लेने-देने का विवाद [८ । ४७-१७८], २—(निक्षेप) धरोहर अर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ धरा हो और मांगे पर न देना [८।१७९-१९६], ३—(अस्वामिविक्रयः) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच लेवे [८।१९७-२०५], ४—(संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिलाके किसी पर अत्याचार करना [=व्यापार में अन्याय करना] [८ । २०६-२११], ५—(दत्तस्य अनपकर्म च) दिये हुए पदार्थ को न देना [८ । २१२-२१३], ६—(वेतनस्य+एव च+अदानम्) वेतन अर्थात् किसी की 'नौकरी' में से ले लेना या कम देना [८ । २१४-२१७], ७—(संविदः च व्यतिक्रमः) प्रतिज्ञा से विरुद्ध बर्तना [८ । २१८-२२१], ८—(क्रय-विक्रय+अनुशयः) क्रय-विक्रयानुशय अर्थात् लेन-देन में झगड़ा होना [८ । २२२-२२८], ९—(स्वामि-पालयोः विवादः) पशु के स्वामी और पालने वाले का झगड़ा [८।२२९-२४४], १०—(सीमा-विवादधर्मः च) सीमा का विवाद [८ । २४५-२६५], ११-१२—(पारुष्ये दण्ड-वाचिके) किसी को कठोर दण्ड देना [८ । २७८-३००], कठोरवाणी का बोलना [८ । २६६-२७७], १३—(स्तेयम्) चोरी-डाका मारना [८ । ३०१-३४३], १४—(साहसम् एव) किसी काम को बलात्कार से करना [८ । ३४४-३५१], १५—(स्त्रीसंग्रहणम् एव च) किसी की स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार होना [८ । ३५२-३८७], १६—(स्त्री-पुम्+धर्मः] स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना [९ । १-१०२], १७—(विभागः) विभाग अर्थात् दायभाग में वाद उठाना [९ । १०३-२१९], १८—(द्यूतम्+आह्वयः+एव च) द्यूत अर्थात् जड़पदार्थ और [आह्वय]=समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव में धरके जूआ खेलना [९ । २२०-२५०], (अष्टादश+एतानि) ये अठारह प्रकार के (व्यवहारस्थितौ पदानि) परस्परविरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं ॥ ४—७ ॥ (स० प्र० १६६)

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥ (८)

(एषु स्थानेषु) इन [८ । ४—७] व्यवहारों में (भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्) बहुत से विवाद करने वाले पुरुषों के (कार्यविनिर्णयम्) न्याय को (शाश्वतं धर्मम् आश्रित्य) सनातन-धर्म का आश्रय करके (कुर्यात्) किया करे अर्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे ॥ ८ ॥ (स० प्र० १६६)

राजा के अभाव में मुकद्दमों के निर्णय के लिए मुख्य न्यायाधीश विद्वान् की नियुक्ति—

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥ (९)

(यदा) जब कभी [किसी विशेष कारण अथवा कार्य की अधिकता के कारण] (नृपतिः) राजा (स्वयं कार्यदर्शनम्) खुद मुकद्दमों का निरीक्षण एवं निर्णय (न कुर्यात्) न करे (तदा) तब (ब्राह्मणम् विद्वांसम्) धार्मिक वेदवेत्ता विद्वान् [८। ११] को (कार्यदर्शने) मुकद्दमों के निरीक्षण एवं निर्णय के लिए (नियुञ्ज्यात्) नियुक्त कर दे ॥ ९ ॥✤

"धार्मिक विद्वानों को धर्मसभा-अधिकारी.........मान के सब प्रकार से उन्नति करें।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

अनुशीलन : ब्राह्मण का अर्थ 'धार्मिक वेदवेत्ता न्यायाधीश' है। देखिए अगले श्लोक पर अनुशीलन।

मुख्य न्यायाधीश तीन विद्वानों के साथ मिलकर न्याय करे—

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥ (१०)

(सः) वह (त्रिभिः सभ्यैः वृतः) तीन अन्य सभा के सदस्यों [८।११] के साथ (सभां प्रविश्य) न्यायालय में जाकर (आसीनः वा स्थितः एव) बैठकर अथवा खड़ा होकर (अस्य) राजा के (कार्याणि) कामों को (संपश्येत्) भली प्रकार देखे ॥ १० ॥

अनुशीलन : न्यायप्रसंग में ब्राह्मण और ब्रह्मसभा से अभिप्राय— अग्रिम ८। ११ श्लोक में ब्रह्मसभा की परिभाषा दी है। परिभाषा से पूर्व ९-१० श्लोकों में न्यायसभा के निर्माण का कथन है। इन श्लोकों में वर्णित विद्वानों से ८। ११ में वर्णित ब्रह्मसभा बनती है। ब्रह्मसभा का अर्थ—'वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों की सभा'। इसी प्रकार ९वें श्लोक में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण वर्ण के लिए नहीं है, अपितु इस विशेष अभिप्राय से है कि राजा द्वारा अधिकृत जो विद्वान् न्यायाधीश नियुक्त किया जाये वह विशेष रूप से सब वेदों का विद्वान् और धार्मिकगुण-प्रधान होना चाहिए। वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों की सभा होने के कारण ही ८। ११ में न्यायसभा को 'ब्रह्मसभा' कहा गया है। वहां स्पष्टतः 'वेदविदः' विशेषण भी उक्त अर्थ को पुष्ट करता है। इस प्रसंग में ब्राह्मण शब्द ब्राह्मण वर्ण के लिए नहीं अपितु वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों के लिए है।

यहां यह शंका उठ सकती है कि ७। १४१ में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग न करके 'अमात्यप्रमुख' को अपने बाद कार्य सौंपने का वर्णन है। इसका उत्तर यह है कि वहां

✤ [प्रचलित अर्थ—यदि राजा स्वयं विवादों (मुकद्दमों) का न्याय (फैसला) न करे तो उस कार्य को देखने के लिए विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करे ॥ ९ ॥]

राजसभा संचालन के लिए सर्वप्रमुख मन्त्री को कार्य सौंपने का विधान है और वह भी केवल रुग्णावस्था में। यहां ब्रह्मसभा अर्थात् न्यायसभा के लिए मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति का प्रसंग है। राजसभा के लिए प्रशासनिक गुणविशेषों वाला व्यक्ति उत्तराधिकारी होता है और न्याय के लिए न्यायगुणों की विशेष योग्यता वाला व्यक्ति। अतः उस श्लोक और इसका प्रसंग ही अलग है। दूसरी बात यह है कि यहां रुग्णावस्था में नियुक्ति का विधान नहीं है अपितु अकेला राजा प्रत्येक कार्य नहीं कर सकता, समयाभाव आदि कारणों से अपने स्थान पर वह किसी भी अधिकृत विद्वान् को मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करे—यहां यह अभिप्राय है। जितनी न्यायसभा होंगी उसके अनुसार वे अनेक भी हो सकते हैं। [इस विषय पर १। ८८, ८। १ की समीक्षा—२ भी द्रष्टव्य है]। मनुस्मृति में सभी वर्णों के वेदवेत्ता विद्वानों के लिए ब्राह्मण, द्विज, विप्र आदि शब्दों का पर्यायवाची रूप में प्रयोग हुआ है [द्रष्टव्य ४। २४५ पर समीक्षा]।

ब्रह्मसभा (न्यायसभा) की परिभाषा—

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥ ११ ॥ (११)

(यस्मिन्) जिस (देशे) स्थान में (वेदविदः) वेदों के ज्ञाता (त्रयः विप्राः) तीन विद्वान् (निषीदन्ति) बैठते हैं (च) और (राज्ञः अधिकृतः विद्वान्) एक राजा द्वारा नियुक्त उस विषय का वेदवेत्ता विद्वान् बैठता है (तां ब्रह्मणः सभां विदुः) उस सभा को 'ब्रह्मसभा' अर्थात् न्यायसभा कहते हैं ॥ ११ ॥

मुकद्दमों के निर्णय में धर्म की रक्षा की प्रेरणा—

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ १२ ॥ (१२)

(यत्र) जिस सभा में (अधर्मेण विद्धः धर्मः) अधर्म से घायल होकर धर्म (उपतिष्ठते) उपस्थित होता है (च अस्य शल्यं न कृन्तन्ति) जो उसका शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलंक को निकालना और अधर्म का छेदन नहीं करते अर्थात् धर्मी को मान, अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता (तत्र) उस सभा में (सभासदः विद्धाः) जितने सभासद् हैं वे सब घायल के समान समझे जाते हैं ॥ १२ ॥ (स० प्र० १६६)

"अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे उसके घाव को यदि सभासद् न पूर देवें तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं।" (सं० वि० [illegible])

न्यायसभा में सत्य ही बोले और न्याय ही करे—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्विषी ॥ १३ ॥ (१३)

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि (सभां न प्रवेष्टव्यम्) सभा में कभी प्रवेश न करे (वा) और जो प्रवेश किया हो तो (समञ्जसम्) सत्य ही (वक्तव्यम्) बोले (नरः अब्रुवन्) जो कोई सभा में अन्याय होते हुए को देखकर मौन रहे (अपि वा) अथवा (विब्रुवन्) सत्य, न्याय के विरुद्ध बोले वह (किल्विषी भवति) महापापी होता है ॥ १३ ॥ (स० प्र० १६७)

"मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले। यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले वह मनुष्य अतिपापी है।"

(सं० वि० १८४)

अनुशीलन : 'किल्विषम्' शब्द पर विशेष विचार ८। ३१६ की समीक्षा में द्रष्टव्य है। पापी होने से यहां अभिप्राय दोषभागी एवं अपयशभागी होने से है।

अन्याय करने वाले सभासद् मृतकवत् हैं—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥ (१४)

(यत्र) जिस सभा में (प्रेक्षमाणानाम्) बैठे हुए सभासदों के सामने (अधर्मेण हि धर्मः) अधर्म से धर्म (च) और (अनृतेन सत्यं) झूठ से सत्य का (हन्यते) हनन होता है (तत्र) उस सभा में (सभासदः हताः) सब सभासद् मरे से ही हैं ॥ १४ ॥ (सं० वि० १८५)

"जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य, सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं; जानो उनमें कोई भी नहीं जीता।" (स० प्र० १६७)

मारा हुआ धर्म मारने वाले को ही नष्ट कर देता है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥ (१५)

(हतः धर्मः एव) मरा हुआ धर्म (हन्ति) मारने वाले का नाश, और (रक्षितः धर्मः) रक्षित किया हुआ धर्म (रक्षति) रक्षक की रक्षा करता है (तस्मात्) इसलिए (धर्मः न हन्तव्यः) धर्म का हनन कभी न करना, इस

डर से कि (हतः धर्मः) मारा हुआ धर्म (नः मा अवधीत्) कभी हमको न मार डाले ॥ १५ ॥ (स० प्र० १६७)

'जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है, इस लिए मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिए ।'' (सं० वि० १८५)

धर्महन्ता वृषल कहाता है—

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥ (१६)

(यः) जो (भगवान् वृषः हि धर्मः) सब ऐश्वर्यों के देने और सुखों का वर्षा करने वाला धर्म है (तस्य हि+अलम् कुरुते) उसका लोप करता है (तम्) उसी को (देवाः) विद्वान् लोग (वृषलं विदुः) वृषल अर्थात् शूद्र और नीच जानते हैं (तस्मात्) इसलिए, किसी मनुष्य को (धर्मं न लोपयेत्) धर्म का लोप करना उचित नहीं ॥ १६ ॥ (स० प्र० १६७)

''जो सुख की वृद्धि करने हारा, सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उसका जो लोप करता है, उसको विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं ।''
(सं० वि० १८५)

धर्म ही परजन्मों में साथ रहता है—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥ (१७)

इस संसार में (एकः धर्मः एव सुहृद्) एक धर्म ही सुहृद् [=मित्र] है (यः) जो (निधने+अपि+अनुयाति) मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है (अन्यत् सर्वं हि) और सब पदार्थ वा संगी (शरीरेण समं नाशं गच्छति) शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं अर्थात् सब संग छूट जाता है परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता ॥ १७ ॥ (स० प्र० १६७)

अन्याय से सब सभासदों की निन्दा—

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥ (१८)

राजसभा में पक्षपात से किये गये अन्याय का अधर्म (पादः) चौथाई (अधर्मस्य कर्त्तारम्) अधर्म के कर्ता को (पादः) चौथाई (साक्षिणम्) साक्षी को (ऋच्छति) प्राप्त होता है, और (पादः) चौथाई अंश (सर्वान् सभासदः)

शेष सब न्यायसभा के सदस्यों को तथा (पादः) चौथाई (राजानम्) राजा को (ऋच्छति) प्राप्त होता है अर्थात् उस बुराई की बदनामी सभी को प्राप्त होती है ॥ १८ ॥

"जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है, वहां अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है।" (स० प्र० १६७)

अनुशीलन : अधर्म शब्द से अभिप्राय—अधर्म शब्द से यहां अभिप्राय अन्याय या दोषभागी होने से है। ये सब इसी प्रकार अपयश के भागी बनकर बुराई को प्राप्त होते हैं। प्रजाएं इन सबकी निन्दा करती हैं। इस विषयक विस्तृत विवेचन ८। ३१६ पर द्रष्टव्य है।

राजा यथायोग्य व्यवहार से पापी नहीं कहलाता—

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दाऽर्हो यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥ (१९)

(यत्र) जिस सभा में (निन्दा+अर्हः निन्द्यते) निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड और मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहां (राजा च सभासदः) राजा और सब सभासद् (अनेनाः+तु मुच्यन्ते) पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं (कर्त्तारम् एनः गच्छति) पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ (स० प्र० १६७)

निर्णय में हावभावों से मन की पहचान—

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥ (२०)

न्यायकर्त्ता को (बाह्यैः) बाहर के (लिङ्गैः) चिह्नों से [वेशभूषा, चाल, शरीर की मुद्राएं, आदि के लक्षणों से] (स्वर-वर्ण-इङ्गित-आकारैः) स्वर—बोलते समय रुकना, घबराना, गद्गद् होना आदि से; वर्ण—चेहरे का फीका पड़ना, लज्जित होना आदि से; इङ्गित—मुकद्दमे के अभियुक्तों के परस्पर के संकेत, सामने न देख सकना, इधर उधर देखना आदि से; आकार—मुख, नेत्र आदि का आकार बनाना, कांपना, पसीना आना आदि (चक्षुषा) आंखों में उत्पन्न होने वाले भावों से (च) और (चेष्टितेन) चेष्टाओं—हाथ मसलना, अंगुलियां चटकाना, अंगूठे से जमीन कुरेदना, सिर खुजलाना आदि से (नृणाम्) मुकद्दमे में शामिल लोगों के (अन्तर्गतं भावम्) मन के असली भावों को (विभावयेत्) भांप लेना—जान लेना चाहिये ॥ २५ ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥ (२१)

(आकारैः) आकारों से (इङ्गितैः) संकेतों से (गत्या) चाल से (चेष्टया) चेष्टा=हरकत से (च) और (भाषितेन) बोलने से (च) तथा (नेत्र-वक्त्र-विकारैः) नेत्र एवं मुख के विकारों=हावभावों से (अन्तर्गतं मनः) मनुष्यों के मन का भीतरी भाव (गृह्यते) मालूम हो जाता है ॥ २६ ॥

बालधन की रक्षा—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत्।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥ (२२)

(राजा) राजा (बाल-दाय+आदिकं रिक्थम्) बालक अर्थात् नाबालिग या अनाथ बालक की पैतृक सम्पत्ति और अन्य धन-दौलत की (तावत्) तब तक (अनुपालयेत्) रक्षा करे (यावत् सः) जबतक वह बालक (समावृत्तः स्यात्) समावर्तन संस्कार होकर अर्थात् गुरुकुल से स्नातक बनकर [३।१-२] आये (च) और (यावत्) जबतक वह (अतीतशैशवः) बालिग हो जाये ॥ २७ ॥

वन्ध्यादि के धन की रक्षा—

वन्ध्याऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥ (२३)

(वन्ध्या+अपुत्रासु) बांझ और पुत्रहीन (निष्कुलासु) कुलहीन अर्थात् जिसके कुल में कोई पुरुष न रहा हो (पतिव्रतासु) पतिव्रता स्त्री अर्थात् पति के परदेशगमन आदि के कारण से जो स्त्री अकेली हो (विधवासु) विधवा (च) और (आतुरासु) रोगिणी (स्त्रीषु) स्त्रियों की सम्पत्ति की (रक्षणम्) रक्षा भी (एवम्) इसी प्रकार अर्थात् उनके समर्थ हो जाने तक [८।२८] (स्यात्) करनी चाहिए, इनकी रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है ॥ २८ ॥

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥ (२४)

(तासां जीवन्तीनाम्) उन [८।२८ में उक्त] जीती हुई स्त्रियों के (तत्) धन को (ये स्वबान्धवाः) जो उनके रिश्तेदार या भाई-बन्धु (हरेयुः) हर लें, कब्जा लें (तु) तो (धार्मिकः पृथिवीपतिः) धार्मिक राजा (तान्) उन व्यक्तियों को (चौरदण्डेन) चोर के समान दण्ड से (शिष्यात्) शिक्षा दे अर्थात् चोर के समान दण्ड देकर [८।३०१-३४३] उनको सही रास्ते पर लाये ॥ २९ ॥

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३० ॥ (२५)

(प्रणष्टस्वामिकं रिक्थम्) मालिक से रहित धन अर्थात् लावारिस धन को (राजा) राजा (त्रि+अब्दम्) तीन वर्ष तक (निधापयेत्) सुरक्षित रखे (त्रि+अब्दात् अर्वाक् स्वामी हरेत्) तीन वर्ष से पहले यदि स्वामी आ जाये तो वह उसको ले ले [८।३१] (परेण नृपतिः हरेत्) उसके बाद उसे राजा ले ले ॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।
संवाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तद् द्रव्यमर्हति ॥३१॥ (२६)

(यः) जो कोई ('मम+इदम्' इति ब्रूयात्) उस लावारिस धन को 'यह मेरा है' ऐसा कहे तो (सः यथाविधि अनुयोज्यः) उससे उचित विधि से पूछताछ करे अर्थात् धन की संख्या, रंग, समय पहचान आदि पूछे (रूप-संख्या+आदीन्) धन का स्वरूप, मात्रा आदि बातों को (संवाद्य) सही-सही बताकर ही (स्वामी तत् द्रव्यम्+अर्हति) स्वामी उस धन को लेने का अधिकारी होता है अर्थात् सही-सही पहचान बताने पर राजा उस धन को लौटा दे ॥ ३१ ॥

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥ (२७)

जो व्यक्ति (नष्टस्य) नष्ट हुए या खोये हुए धन का (देशं कालं वर्णं रूपं च प्रमाणम्) स्थान, समय, रंग, स्वरूप और मात्रा की (तत्त्वतः अवेदयानः) सही-सही बतलाकर सिद्ध नहीं कर पाता अर्थात् जो झूठ ही उस धन को हड़पने की कोशिश करता है तो वह (तत् समं दण्डम्+अर्हति) उस धन के बराबर दण्ड भुगतने का हकदार है अर्थात् उसे उतना ही दण्ड देना चाहिए ॥ ३२ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः ।
दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥ (२८)

किसी के (प्रणष्ट+अधिगतात्) नष्ट या खोये धन के प्राप्त होने पर उसमें से (नृपः) राजा (सतां धर्मम्+अनुस्मरन्) सज्जनों के धर्म का अनुसरण करता हुआ अर्थात् न्यायपूर्वक [धन के स्वामी की अवस्था को ध्यान में रखकर] (षड्भागं दशमम् अपि वा द्वादशम् आददीत) छठा, दशवाँ अथवा बारहवाँ भाग कर-रूप में ग्रहण करे ॥ ३३ ॥

'राजा द्वारा सुरक्षित धन' की चोरी करने पर दण्ड—

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम् ।
यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥ ३४॥ (२९)

(प्रणष्ट+अधिगतं द्रव्यम्) चुरा लेने के बाद प्राप्त किये गये धन को राजा (युक्तैः) योग्य रक्षकों के (अधिष्ठितं रक्षेत्) पहरे=सुरक्षा में रखे (तत्र) अगर उस पहरे में से भी चोरी करते हुए (यान् चौरान् गृह्णीयात्) जो चोर पकड़े जायें [चाहे वे पेशेवर चोर हों अथवा रक्षक राजपुरुष] (तान् राजा+इभेन घातयेत्) उन्हें राजा हाथी से कुचलवाकर मरवा डाले ॥ ३४ ॥

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥ (३०)

(निधिम्) चोरी से प्राप्त धन को (यः मानवः) जो मनुष्य ('अयं मम+इति' सत्येन ब्रूयात्) रंग, रूप, तोल, संख्या आदि की ठीक पहचान के द्वारा 'यह वास्तव में मेरा है' ऐसा सच-सच बतला दे तो (राजा) राजा (तस्य षड्भागं वा द्वादशम्+एव आददीत) उस धन में से छठा या बारहवां-भाग कर के रूप में लेले और शेष धन उसके स्वामी को लौटा दे ॥ ३५ ॥

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ॥ ३६॥ (३१)

(अनृतं तु वदन्) अगर कोई झूठ बोले अर्थात् किसी धन पर झूठा दावा करे या झूठ ही अपना बतलावे तो ऐसे अपराधी को (स्ववित्तस्य+अष्टमम्+अंशं दण्ड्यः) अपना कहे जाने वाले उस धन का आठवां भाग जुर्माना करे (वा) अथवा (संख्याय) हिसाब लगाकर (तस्य+एव निधानस्य अल्पीयसीं कलां) उस दावे वाले धन का कुछ भाग जुर्माना करे ॥ ३६ ॥

कर्त्तव्यों में संलग्न व्यक्ति सबके प्रिय—

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥४२॥ (३२)

(स्वानि कर्माणि कुर्वाणाः) अपने-अपने कर्त्तव्यों को करते हुए और (स्वे-स्वे कर्मणि+अवस्थिताः) अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्थित रहने वाले मानवाः) मनुष्य (दूरे सन्तः+अपि) दूर रहते हुए भी (लोकस्य प्रियाः भवन्ति) समाज के प्यारे अर्थात् लोकप्रिय होते हैं ॥ ४२ ॥

राजा या राजपुरुष विवादों को न बढ़ायें—

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।

न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥४३॥ (३३)

(राजा अपि+अस्य पुरुषः) राजा अथवा कोई भी राजपुरुष (स्वयं कार्यं न+उत्पादयेत्) स्वयं किसी विवाद को उत्पन्न न करें, और न बढ़ायें (च) और (अन्येन प्रापितम् अर्थम्) अन्य किसी भी व्यक्ति द्वारा बताये या प्राप्त कराये गये धन को (कथंचन) किसी भी स्थिति में (न ग्रसेत्) स्वयं हड़पने की इच्छा न करें [जबतक 'यह धन किसका है' यह सिद्ध न हो जाये और वह लावारिस (७।३०) सिद्ध न हो जाये तब तक राजा उसे अपने अधिकार में न ले और कोई राजपुरुष उसको बीच में ही हड़पने न पाये] ॥ ४३ ॥

अनुशीलन : श्लोक ८।२६ की ८।४४ से प्रसंग की सम्बद्धता है। यहां ८।७ तक १८ प्रकार के मुकद्दमों की गणना करके ८।४५ तक 'सत्य-सही निर्णय कैसे करें' मनु ने यह प्रसंग वर्णित किया है। संकेतित क्रमानुसार पहला मुकद्दमा भी ८।४७ से प्रारम्भ होता है। इस बीच बालधन, स्त्रीधन, लावारिस धन, नष्ट हुए धन आदि से सम्बन्धित बातें प्रसंगानुकूल नहीं हैं। इस प्रकार के शेष सभी विधान मुकद्दमों के निर्णय के अन्त में ६।१५१ के पश्चात् वर्णित किये हैं। इनमें नष्ट या चोरी गये धन की चर्चाएँ हैं और चोरी-विवाद वाले ही दण्ड वर्णित हैं। प्रतीत होता है कि ये सभी श्लोक स्थानभ्रष्ट होकर यहां जुड़ गये हैं, ये चोरी-विवाद निर्णय (८।३०१-३४३) के अन्तर्गत होने चाहियें।

श्लोक ८।२६ की ८।४४ से प्रसंगगत सम्बद्धता भी है। इस आधार पर इन सबको प्रक्षिप्त कहने का आधार भी बन सकता है, पर क्योंकि इनमें कोई प्रक्षेप की प्रवृत्ति नहीं है। ये सर्वसामान्य आवश्यक विधान हैं। मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है। शैली भी मनुसम्मत है। अतः हमने इन्हें प्रक्षिप्त नहीं माना है।

अनुमान प्रमाण से निर्णय में सहायता—

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम्।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥ (३४)

(यथा) जैसे (मृगयुः) शिकारी (असृक्पातैः) खून के धब्बों से (मृगस्य पदं नयति) हिरण के स्थान को प्राप्त कर लेता है (तथा) वैसे ही (नृपतिः) राजा या न्यायकर्त्ता (अनुमानेन) अनुमान प्रमाण से (धर्मस्य पदम्) धर्म के तत्त्व अर्थात् वास्तविक न्याय का (नयेत्) निश्चय करे ॥४४॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥ (३५)

(व्यवहारविधौ स्थित:) मुकद्दमों का फैसला करने के लिए तैयार हुआ राजा (सत्यम् च अर्थम्) मुकद्दमे की सत्यता, न्याय उद्देश्य (आत्मानम्) अपनी आत्मा के आन्तरिक निर्णय को (अथ साक्षिण:) और साक्षियों को (च) तथा (देशं रूपं च कालम्) देश, स्वरूप एवं समय को (संपश्येत्) अच्छी प्रकार देखे=विचार करे ॥ ४५ ॥

अनुशीलन : आत्मा के निर्णय का क्या अभिप्राय है, इसे समझने के लिए देखिए १ । १२५ (२ । ६) पर इस सम्बन्धी अनुशीलन ।

१. ऋण लेने-देने के विवाद का न्याय (८।३६-१०४ तक)

ऋण का न्याय—

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥ (३६)

(अधमर्ण+अर्थसिद्ध्यर्थम्) अधमर्ण=कर्जदार से अपना धन वसूल करने के लिए (उत्तमर्णेन चोदित:) उत्तमर्ण=कर्ज देने वाले अर्थात् धनी की ओर से प्रार्थना करने पर राजा (धनिकस्य विभावितम् अर्थम्) धनी का वह लेख आदि से सिद्ध निश्चित किया हुआ धन (अधमर्णात् दापयेत्) कर्जदार से दिलवाये ॥ ४७ ॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥ (३७)

[४७ वें में उक्त धन का] (करणेन विभावितम्) यदि लेख, साक्षी आदि साधनों से उस कर्ज का लिया जाना निश्चित हो जाये (तु) और (अर्थे+अपव्ययमानम्) कर्जदार कर्ज में लिये गये धन से मुकर जाये तो [राजा] (धनिकस्य+अर्थं दापयेत्) धनी का वह धन भी वापिस दिलवाये (च) और (शक्तितः दण्डलेशम्) उसकी शक्ति, धन आदि के अनुसार कुछ न कुछ दण्ड भी अवश्य करे ॥ ५१ ॥

ऋणदाता से ऋण के लेख आदि प्रमाणों को मांगना—

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।
अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वाऽन्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥ (३८)

(संसदि) न्यायालय में ('देहि+इति'+उक्तस्य) न्यायाधीश के द्वारा 'धनी का धन दे दो' ऐसा कहने पर (अधमर्णस्य अपह्नवे) यदि कर्जदार कर्ज लेने से मुकरने की बात कहे तो (अभियोक्ता) मुकद्दमा करने वाला धनी (देश्यम्) प्रत्यक्षदर्शी साक्षी=गवाह को (दिशेत्) प्रस्तुत करे (वा) और (अन्यत् करणम् उद्दिशेत्) अन्य प्रमाण भी प्रस्तुत करे ॥ ५२ ॥

मुकद्दमों में अप्रामाणिक व्यक्ति—

> आदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः ।
> यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥ (३९)
> अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।
> सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥ (४०)
> असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
> निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥ (४१)
> ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।
> न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥ (४२)

(यः) जो ऋणदाता १—(अदेश्यं दिशति) झूठे गवाह और गलत प्रमाणपत्र प्रस्तुत करे, (च) और २—(यः) जो (निर्दिश्य) किसी बात को प्रस्तुत करके या कहकर (अपह्नुते) उससे मुकरता है या टालमटोल करता है, ३—(यः) जो (विगीतान् अधर-उत्तरान्+अर्थान् न+अवबुध्यते) कही हुई अगली-पिछली बातों को नहीं ध्यान में रखता अर्थात् जिसकी अगली-पिछली बातों में मेल न हो, ४—(यः) जो (अपदेश्यम्+अपदिश्य पुनः अपधावति) अपने तर्कों को प्रस्तुत करके फिर उनको बदल दे—उनसे फिरजाये, ५—जो (सम्यक् प्रणिहितम् अर्थं पृष्टः सन्) पहले अच्छी प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक कही हुई बात को न्यायाधीश द्वारा पुनः पूछने पर (न+अभिनन्दति) नहीं मानता, उसे पुष्ट नहीं करता, ६—(असंभाष्ये देशे साक्षिभिः मिथः संभाषते) जो एकान्त स्थान में जाकर साक्षियों के साथ घुलमिलकर चुप-चुप बात करे, ७—(निरुच्यमानं प्रश्नं न+इच्छेत्) जांच के लिए पूछे गये प्रश्नों को जो पसंद न करे, ८—(च यः+अपि निष्पतेत्) और जो इधर-इधर टलता फिरे (च) तथा ९—('ब्रूहि' इति+उक्तः न ब्रूयात्) 'कहो' ऐसा कहने पर कुछ न कह सके, १०—(च उक्तं न विभावयेत्) और जो कही हुई बात को सिद्ध न कर पाये, ११—(न पूर्वापरं विद्यात्) पूर्वापर बात को न समझे अर्थात् विचलित हो जाये, (सः तस्मात् अर्थात् हीयते)

वह उस प्रार्थना किये गये धन से हार जाता है अर्थात् न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति को हारा हुआ मानकर उसे धन न दिलावे ॥ ५३—५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥ (४३)

('मे साक्षिणः सन्ति' इति+उक्त्वा) पहले 'मेरे साक्षी हैं' ऐसा कहकर और फिर गवाही के समय न्यायाधीश के द्वारा ('दिश' इति+उक्तः) 'साक्षी लाओ' ऐसा कहने पर (यः न दिशेत्) जो साक्षियों को पेश न कर सके तो (धर्मस्थः) न्यायाधीश (एतैः कारणैः) इन कारणों के आधार पर भी (तम्+अपि हीनं निर्दिशेत्) मुकद्दमा दायर करने वाले को पराजित घोषित कर दे ॥ ५७ ॥

अभियोक्ता न चेद् ब्रूयाद्वध्यो दण्डचश्च धर्मतः ।
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥ (४४)

(अभियोक्ता न चेत् ब्रूयात्) जो अभियोक्ता=मुकद्दमा करने वाला पहले मुकद्दमा दायर करके फिर अपने मुकद्दमे के लिए कुछ न कहे तो वह (धर्मतः) धर्मानुसार (वध्यः) सजा के योग्य (च) और (दण्डच) जुर्माना [५६] करने योग्य है, इसी प्रकार यदि (त्रिपक्षात् न चेत् प्रब्रूयात्) तीन पखवाड़े अर्थात् डेढ़ मास तक अभियोगी अपनी सफाई में कुछ न कह सके तो (धर्मं प्रति पराजितः) धर्मानुसार=कानून के अनुसार वह हार जाता है ॥ ५८ ॥

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् ।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद् द्विगुणं दमम् ॥ ५९ ॥ (४५)

(यः) जो कर्जदार (यावत् अर्थं निह्नुवीत) जितने धन को छिपावे अर्थात् अधिक धन लेकर जितना कम बतावे (वा) अथवा जो कर्ज देने वाला (यावति मिथ्या वदेत्) जितना झूठ बोले अर्थात् कम धन देकर जितना ज्यादा बतावे (नृपेण) राजा (तौ अधर्मज्ञौ) उन दोनों झूठ बोलने वालों को (तत् द्विगुणं दमम् दाप्यौ) जितना झूठा दावा किया है, उससे दुगुने धन के दण्ड से दण्डित करे ॥ ५९ ॥

साक्षी कौन हों—

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।
तादृशान्सम्प्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥ (४६)

(धनिभिः) साहूकारों द्वारा जैसे साक्षी (व्यवहारेषु) मुकद्दमों

में (यादृशाः साक्षिणः कार्याः) जैसे साक्षी बनाने चाहिये (तादृशान्) उनको (च) और (तैः) उन साक्षियों को (यथा अमृतं वाच्यम्) जैसे सत्य बात कहनी चाहिए, उसे (सम्प्रवक्ष्यामि) अब आगे कहूँगा—॥ ६१ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥६३॥ (४७)

(सर्वेषु वर्णेषु) सब वर्णों में (आप्ताः) धार्मिक, विद्वान् निष्कपटी (सर्व-धर्मविदः) सब प्रकार धर्म को जानने वाले (अलुब्धाः) लोभरहित सत्यवादियों को (कार्येषु) न्यायव्यवस्था में (साक्षिणः कार्याः) साक्षी करे (विपरीतान् तु वर्जयेत्) इससे विपरीतों को कभी न करे ॥ ६३ ॥

(स० प्र० १६८)

अनुशीलन : साक्षी शब्द पर विचार—

साक्षी शब्द के अर्थ और व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट होता है कि वस्तुतः साक्षी वही होता है जो उस बात या घटना का प्रत्यक्षद्रष्टा होता है। सहपूर्वक अक्षि से इनिः प्रत्यय अथवा साक्षात् अव्यय से **'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्'** [अष्टा० ५ । २ । ६१] से 'इनि' प्रत्यय होकर 'साक्षिन्' शब्द सिद्ध होता है। **साक्षिन्-यः साक्षात् कर्त्ता=साक्षात्द्रष्टा' यः सः साक्षी ।** श्लोक में 'आप्ताः' विशेषण से भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

साक्षी कौन नहीं हो सकते—

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥(४८)

(अर्थसम्बन्धिनः) धनी से ऋण आदि के लेने-देने का सम्बन्ध रखने वाले (न कर्त्तव्याः) साक्षी नहीं हो सकते (न आप्ताः) न घनिष्ठ=मित्रादि (न सहायाः) न सहायक—नौकर आदि, (न वैरिणः) न अभियोगी के शत्रु आदि, (न दृष्टदोषाः) जिसकी साक्षी पहले झूठी सिद्ध हो चुकी है वे भी नहीं (न व्याधि+आर्ताः) न रोगग्रस्त, पीड़ित और (न दूषिताः) न अपराधी=सजा पाये और दूषित आचारण वाले अधर्मी व्यक्ति साक्षी हो सकते हैं ॥ ६४ ॥

विशेष प्रसंगों में साक्षी विशेष—

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥६८॥(४९)

(स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः) स्त्रियों की साक्षी स्त्री, (द्विजानां द्विजाः) द्विजों के द्विज (शूद्राणां शूद्राः) शूद्रों के शूद्र (अन्त्यानाम् अन्त्ययोनयः)

कुर्युः) अन्त्यजों के अन्त्यजसाक्षी हों ॥ ६८ ॥ (स० प्र० १६९)
❀(सदृशः) सदृशबलवाले............(सन्तः) साधुस्वभाव के.........

अनुशीलन : (१) साक्षीविशेषों के कथन का उद्देश्य—

पूर्वापर साक्षी-वर्णन सम्बन्धी श्लोकों से, और विशेषरूप से ८।६३, ६४, ६९, ७२ श्लोकों से यह स्पष्ट है कि साक्षी कोई भी हो सकता है। इस श्लोकों में जो विशेष साक्षियों का कथन है वह विशेष अभिप्राय से है। जैसे स्त्रियों के जो स्त्रीसम्बन्धी प्रसंग हैं, उनमें स्त्रियां ही ठीक साक्षी हो सकती हैं। इसी प्रकार द्विजों और शूद्रों के वर्णान्तर के जो निजी प्रसंग हैं, उनमें उसी वर्ण के साक्षी प्रामाणिक और सही सिद्ध हो सकते हैं। इस विशेष कथन का यही अभिप्राय है।

(२) **अन्त्यज कौन ?**—चारों वर्णों में जो दीक्षित नहीं होकर वर्णबाह्य रह जाते हैं, वे लोग अन्त्यज अर्थात् अन्त्यस्थानीय हैं।

ऐकान्तिक अपराधों में सभी साक्षी मान्य हैं—

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥६९॥(५०)

(अन्त+वेश्मनि) घर के अन्दर एकान्त में हुई घटना में (वा) अथवा (अरण्ये) जंगल के एकान्त में हुई घटना में (अपि च) और (शरीरस्य अत्यये) रक्तपात आदि से शरीर के घायल हो जाने की अवस्था में (यः कश्चित् अनुभावी) जो कोई अनुभव करने वाला या देखने वाला हो वही (विवादिनाम्) विवाद करने वालों का (साक्ष्यं कुर्यात्) साक्षी हो सकता है, चाहे वह कोई भी हो ॥ ६९ ॥

बलात्कार आदि कार्यों में सभी साक्षी हो सकते हैं—

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥ (५१)

(सर्वेषु साहसेषु) जितने बलात्कार के काम, (स्तेयसंग्रहणेषु च) चोरी व्यभिचार (वाक्दण्डयोः च पारुष्ये) कठोरवचन, दंडनिपातनरूप अपराध हैं (साक्षिणः न परीक्षेत) उनमें साक्षी की परीक्षा न करे और अत्यावश्यक भी समझें, क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं ॥ ७२ ॥ (स० प्र० १६९)

अनुशीलन : साक्षी-परीक्षा निषेध का कारण—

अभिप्राय यह है कि इनमें कोई भी प्रत्यक्षदर्शी गवाह प्रामाणिक हो सकता है। क्योंकि ये कार्य गुप्तरूप से या एकान्त में होते हैं, अतः उत्तम आचरण या स्तर वाले व्यक्ति ही वहां उपस्थित हों, यह संभव नहीं।

साक्ष्यों में निश्चय—

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥ (५२)

❈ (साक्षिद्वैधे बहुत्वम्) दोनों ओर की साक्षियों में से बहुपक्षानुसार (समेषु तु गुणोत्कृष्टान्) तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी पुरुष की साक्षी के अनुकूल (गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्) और दोनों के साक्षी उत्तमगुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम अर्थात् ऋषि महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे ॥ ७३ ॥ (स० प्र० १६६)

❈ (नराधिपः) राजा या न्यायाधीश.........

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥ (५३)

(साक्ष्यं सिद्ध्यति) दो प्रकार से साक्षी होना सिद्ध होता है (समक्ष-दर्शनात्) एक—साक्षात् देखने (च) और (श्रवणात्) दूसरा – सुनने से (तत्र साक्षी सत्यं ब्रुवन्) जब सभा में पूछें तब जो साक्षी सत्य बोलें (धर्म+अर्थाभ्यां न हीयते) वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न होवें और जो साक्षी मिथ्या बोलें वे यथायोग्य दण्डनीय हों ॥ ७४ ॥ (स० प्र० १६६)

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥ (५४)

(आर्यसंसदि) जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में (साक्षी) साक्षी (दृष्ट-श्रुतात्+अन्यत् विब्रुवन्) देखने और सुनने से विरुद्ध बोले तो वह (अवाङ्नरकम्+अभ्येति) अवाङ्नरक=अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःखरूप नरक को वर्तमान समय में प्राप्त होवे (च) और (प्रेत्य स्वर्गात् हीयते) मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाये ॥ ७५ ॥ (स० प्र० १६६)

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किञ्चन ।
पृष्टस्तत्रापि तद् ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥ (५५)

प्रत्यक्षदर्शी मनुष्य (अनिबद्धः+अपि) साक्षी के रूप में न बुलाये जाने पर भी [वादी वा प्रतिवादी के द्वारा] (यत्र किञ्चन ईक्षेत अपि वा शृणुयात्) जहाँ कुछ भी देखा या सुना हो (पृष्टः) न्यायाधीश के पूछने पर (तत्र+अपि) वहां (यथादृष्टं यथाश्रुतं तद् ब्रूयात्) जैसा देखा या सुना है, वैसा ही कह दे अर्थात् न्याय के लिए स्वयं साक्षीरूप में पहुंच जाये ॥ ७६ ॥

स्वाभाविक साक्ष्य ही ग्राह्य है—

स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७८॥ (५६)

(तद् ग्राह्यम्) साक्षी के उस वचन को मानना (यत्) जो (स्वभा-वेन+एव व्यावहारिकं ब्रूयुः) स्वभाव ही से व्यवहारसम्बन्धी बोलें (अतः+अन्यत्+यत्+विब्रूयुः) और सिखाये हुए, इससे भिन्न जो-जो वचन बोलें (तत्) उस-उसको ❀ (अपार्थकम्) न्यायाधीश व्यर्थ समझे ॥ ७८ ॥

(स० प्र० १६६)

❀ (धर्मार्थम्) सही न्याय के हेतु.............

साक्ष्य लेने की विधि—

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥७९॥ (५७)

(अर्थि-प्रत्यर्थिसन्निधौ) जब अर्थी=वादी और प्रत्यर्थी=प्रतिवादी के सामने (सभान्तः प्राप्तान् साक्षिणः) सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को (सान्त्वयन्) शान्तिपूर्वक (प्राड्विवाकः) न्यायाधीश और प्राड्विवाक् अर्थात् वकील या बैरिस्टर (तेन विधिना) इस प्रकार से (अनुयुञ्जीत) पूछें—॥ ७९ ॥ (स० प्र० १६६)

यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिश्चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥८०॥ (५८)

हे साक्षि लोगो ! (अस्मिन् कार्ये) इस कार्य में (अनयोः द्वयोः मिथ. चेष्टितम्) इन दोनों के परस्पर कर्मों में (यत् वेत्थ) जो तुम जानते हो (तत्) उस❀ को (सत्येन ब्रूत) सत्य के साथ बोलो (हि) क्योंकि (युष्मा-कम्) तुम्हारी (अत्र) इस कार्य में (साक्षिता) साक्षी है ॥ ८० ॥

(स० प्र० १६६)

❀ (सर्वम्) सब................

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥८१॥ (५९)

(साक्षी) जो साक्षी❀ (सत्यं ब्रुवन्) सत्य बोलता है (पुष्कलान् लोकान्+आप्नोति) वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों

में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है (इह च+अनुत्तमां कीर्तिम्) इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है (एषा वाक् ब्रह्मपूजिता) क्योंकि जो यह वाणी है वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित और मिथ्यावादी निन्दित होता है ॥ ८१ ॥ (स० प्र० १६६)

❀(साक्ष्ये) साक्ष्य-व्यवहार में..................

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥ (६०)

(सत्येन साक्षी पूयते) सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता और (सत्येन धर्मः वर्धते) सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है (तस्मात्) इस से (सर्ववर्णेषु) सब वर्णों में (साक्षिभिः) साक्षियों को (सत्यं हि वक्तव्यम्) सत्य ही बोलना योग्य है ॥ ८३ ॥ (स० प्र० १६६)

साक्षी आत्मा के विरुद्ध साक्ष्य न दे—

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥८४॥ (६१)

(आत्मनः साक्षी आत्मा+एव हि) आत्मा का साक्षी आत्मा (तथा+आत्मनः गतिः+आत्मा) और आत्मा की गति आत्मा है, इसको जानके हे पुरुष! तू (नृणाम् उत्तमं साक्षिणम्) सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी (स्वम्+आत्मानम्) अपने आत्मा का (मा+अवमंस्थाः) अपमान मत कर अर्थात् सत्यभाषण जो कि तेरे आत्मा, मन, वाणी में है वह सत्य, और जो इससे विपरीत है वह मिथ्या भाषण है ॥ ८४ ॥ (स० प्र० १६६)

अनुशीलन : 'आत्मा स्वयं आत्मा का साक्षी किस प्रकार होता है' इस पर विशेष-विस्तृत विचार के लिए देखिए १। १२५ [२। ६] पर 'आत्मनस्तुष्टि' सम्बन्धी अनुशीलन।

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण ! मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥९१॥ (६२)

(कल्याण) हे कल्याण की इच्छा करने हारे पुरुष! (यत् त्वम्) जो तू (अहम् एकः अस्मि' इति) 'मैं अकेला हूँ' ऐसा (आत्मानं मन्यसे) अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है सो ठीक नहीं है, किन्तु (एषः ते हृदि) जो दूसरा तेरे हृदय में (नित्यं पुण्यपापेक्षिता मुनिः स्थितः) अन्तर्यामीरूप

से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखने वाला मुनि स्थित है, उस परमात्मा से डरकर सदा सत्य बोला कर ॥ ९१ ॥ (स० प्र० १६९)

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥(६३)

(यस्य वदतः) जिस बोलते हुए पुरुष का (विद्वान् क्षेत्रज्ञः) विद्वान् अर्थात् शरीर का जानने हारा आत्मा (न+अभिशंकते) भीतर शंका को प्राप्त नहीं होता❀ (तस्मात्+अन्यम्) उससे भिन्न (देवाः) विद्वान् लोग (श्रेयांसं पुरुषं न विदुः) किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते ॥ ९६ ॥
(स० प्र० १६९)

❀ (लोके) जगत् में............

अनुशीलन : आत्मा में किन बातों और कार्यों से शंका, भय आदि उत्पन्न होते हैं और किनसे नहीं' इस विषय पर विस्तृत विवेचन १ । १२५ [२ । ६] पर 'आत्मनस्तुष्टिः' शीर्षक अनुशीलन के अन्तर्गत देखिए ।

झूठी गवाही वाले मुकद्दमे पर पुनर्विचार—

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।
तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥११७॥ (६४)

(यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु) जिस-जिस मुकद्दमे में (कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्) यह पता लगे कि झूठी या गलत साक्षी हुई है (तत्-तत् कार्यं निवर्तेत) उस-उस निर्णय को रद्द करके पुनः विचार करे, क्योंकि वह (कृतं च+अपि+अकृतं भवेत्) किया हुआ काम भी न किये के समान है ॥११७॥

असत्य साक्ष्य के आधार—

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥११८॥ (६५)

(लोभात् मोहात् भयात् मैत्रात् कामात् क्रोधात् अज्ञानात् च बालभावात् साक्ष्यम्) जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से साक्षी देवे (वितथम्+उच्यते) वह सब मिथ्या समझी जावे ॥ ११८ ॥ (स० प्र० १७१)

असत्य साक्ष्य में दोषानुसार दण्डव्यवस्था—

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥११९॥ (६६)

(एषाम्) इन [८।११८] लोभ आदि कारणों में से (अन्यतमे स्थाने) किसी कारण के होने पर (यः अनृतं साक्ष्यं वदेत्) जो कोई झूठी साक्षी देता है (तस्य) उसके लिए (दण्डविशेषान्) दण्डविशेषों को (अनुपूर्वशः) क्रमशः (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा [८।१२०—१२२] ॥ ११९ ॥

"इनसे भिन्न स्थान में साक्षी झूठ बोले उसको वक्ष्यमाण अनेकविध दण्ड दिया करे।" (स० प्र० १७१)

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥१२०॥(६७)

(लोभात् सहस्रं दण्ड्यः) जो लोभ से झूठी गवाही दे तो 'एक हजार पण' का दण्ड देना चाहिए (मोहात् पूर्वं साहसम्) मोह से देने वाले को 'प्रथम साहस', (भयात् द्वौ मध्यमौ दण्डौ) भय से देने पर दो 'मध्यम साहस' का दण्ड दे (मैत्रात्) मित्रता से झूठी गवाही देने पर (पूर्वं चतुर्गुणम्) 'प्रथम साहस' का चार गुना दण्ड देना चाहिए ॥ १२० ॥

"जो लोभ से झूठी साक्षी देवे तो उससे १५॥=) [पन्द्रह रुपये दश आने] दण्ड लेवे। जो मोह से झूठी साक्षी देवे उससे ३॥।=)॥ [तीन रुपये साढ़े चौदह आने] दण्ड लेवे। जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उससे १५॥=) [पन्द्रह रुपये दश आने] दण्ड लेवे, और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी देवे उससे १५॥=) [पन्द्रह रुपये दश आने] दण्ड लेवे।" (स० प्र० षष्ठ समु० परोपकारिणी सभा प्रकाशन ३४ वां संस्करण)

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥१२१॥ (६८)

(कामात् दशगुणं पूर्वम्) काम से झूठी गवाही देने पर दशगुना 'प्रथम साहस' (क्रोधात् तु त्रिगुणं परम्) क्रोध से देने पर तिगुना 'उत्तम साहस' (अज्ञानात् द्वे शते पूर्णे) अज्ञान से देने पर दो सौ 'पण' और (बालिश्यात् शतम्+एव तु) बालकपन में देने से सौ 'पण' दण्ड होना चाहिए ॥१२१॥

"जो पुरुष कामना से मिथ्या साक्षी देवे उससे ३९—) [उनतालीस रुपये एक आना] दण्ड लेवे। जो पुरुष क्रोध से झूठी साक्षी देवे उससे ४६॥।=) [छयालीस रुपये चौदह आने] दण्ड लेवे। जो पुरुष अज्ञानता से झूठी साक्षी देवे उससे ३=) [तीन रुपये दो आने] दण्ड लेवे, और जो बालकपन से मिथ्या साक्षी देवे तो उससे १।—) [एक रुपया नौ आने] दण्ड लेवे।' (स० प्र० उपर्युक्त संस्करण षष्ठ समु०)

अनुशीलन : (१) साहसदण्ड, उनका प्रमाण एवं अर्वाचीन मुद्राओं से तुलना–तालिका—

(क)— (श्लोक ८ । १३८ में वर्णित)

साहस नाम	पण	रुपये–आने में
१. प्रथम या पूर्वसाहस	२५०	३॥।=)॥ तीनरुपये साढ़ेचौदह आने
२. मध्यम साहस	५००	७॥।—) सात रुपये तेरह आने
३. उत्तम या परसाहस	१०००	१५॥=) पन्द्रह रुपये दश आने

(ख)—

१ पण का—१ पैसा

४ पैसे का—१ आना

१६ आने का या ६४ पण का —१ रुपया

(२) झूठी साक्षियों में अर्थदण्ड एवं उनकी अर्वाचीन मुद्राओं से तुलना—तालिका—

(श्लोक ८ । १२०—१२१ में वर्णित)

	अपराध	वर्णित दण्डनाम	पण	रुपये-आने-पैसे
१	लोभ से झूठी साक्षी देने पर	हजार पण	१०००	१५॥=) [पन्द्रह रुपये दश आने]
२	मोह से झूठी साक्षी में	पूर्व साहस	२५०	३॥।=)॥ [तीन रुपये साढ़े चौदह आने]
३	भय से झूठी साक्षी में	दो मध्यम साहस	१०००	१५॥=) [पन्द्रह रुपये दश आने]
४	मैत्री से झूठी साक्षी में	चार गुणा प्रथम साहस	१०००	१५॥= [पन्द्रह रुपये दश आने]
५	काम से झूठी साक्षी में	दश गुणा प्रथम साहस	२५००	३९—) [उनतालीस रुपये एक आना]
६	क्रोध से झूठी साक्षी में	तीन गुणा उत्तम साहस	३०००	४६॥।=) [छयालीस रुपये चौदह आने]
७	अज्ञान से झूठी साक्षी में	दो सौ पण	२००	३=) [तीन रुपये दो आने]
८	बालकपन से झूठी साक्षी में	सौ पण	१००	१॥=) [एक रुपया नौ आने]

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः ।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥ (६९)

(धर्मस्य+अव्यभिचारार्थम्) धर्म का लोप न होने देने के लिए (च) और (अधर्मनियमाय) अधर्म को रोकने के लिए (कौटसाक्ष्ये) झूठी या गलत गवाही देने पर (मनीषिभिः प्रोक्तान्) विद्वानों द्वारा विहित (एतान्-दण्डान्+आहुः) इन दण्डों को कहा है ॥ १२२ ॥

दण्ड देते समय विचारणीय बातें—

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ १२६ ॥ (७०)

न्यायकर्त्ता (अनुबन्धम्) अपराधी का इरादा, षड्यन्त्र या बार-बार किये गये अपराध को (च) और (तत्त्वतः देशकालौ) सही रूप में देश और काल को (परिज्ञाय) जानकर (च) तथा (सार-अपराधौ) अपराधी की शारीरिक एवं आर्थिक शक्ति और अपराध का स्तर (आलोक्य) देख-विचार कर (दण्ड्येषु दण्डं पातयेत्) दण्डनीय लोगों को दण्ड दे ॥ १२६ ॥

"परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे, जैसे—लोभ से साक्षी देने में पन्द्रह रुपये दश आने दण्ड लिखा है; परन्तु जो अत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम, और धनाढ्य हो तो उससे दूना, तिगुना और चौगुना तक भी ले लेवे अर्थात् जैसा देश, जैसा काल और जैसा पुरुष हो उस का जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड करे।" (स० प्र० १७२)

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥ (७१)

(लोके अधर्मदण्डनम्) क्योंकि इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है वह (यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्) पूर्वप्रतिष्ठा और भविष्यत् में, और परजन्म में होने वाली कीर्ति का नाश करने हारा है (च) और (परत्र+अपि-अस्वर्ग्यम्) परजन्म में भी दुःखदायक होता है (तस्मात्) इसलिये (तत् परिवर्जयेत्) अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे ॥ १२७ ॥ (स० प्र० १७१)

अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥१२८॥(७२)

(राजा) जो राजा (दण्ड्यान् अदण्डयन्) दण्डनीयों को न दण्ड दे (अदण्ड्यान् दण्डयन्) अदण्डनीयों को दण्ड देता है अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता और जिसको दण्ड देना न चाहिए उस को दण्ड देता है वह

(महत् अयशः आप्नोति) जाता हुआ बड़ी निन्दा को (च) और (नरकम् एव गच्छति) मरे पीछे बड़े दुःख को प्राप्त होता है; इसलिए जो अपराध करे उसको सदा दण्ड देवे और अनपराधी को दण्ड कभी न देवे।। १२८ ।। (स० प्र० १७१)

"जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है।" (स० वि० १५३)

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥ (७३)

(प्रथमं वाक्+दण्डम्) प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी 'निन्दा' (तत्+अनन्तरम्) दूसरा (धिक्+दण्डम्) 'धिक्' दण्ड अर्थात् तुझको धिक्कार है, तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया (तृतीयं धनदण्डम्) तीसरा—उससे धन लेना, और* (वधदण्डम्) 'वध' दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा या बेंत से मारना वा शिर काट देना**।। १२९ ।। (स० प्र० १७१)

* (अतः परम्) इस दण्ड से न सुधरे तो उसके पश्चात्·········

** (कुर्यात्) करे

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥१३०॥ (७४)

राजा (एतान्) इन अपराधियों को (यदा) जब (वधेन+अपि) शारीरिक दण्ड से भी (निग्रहीतुं न शक्नुयात्) नियन्त्रित न कर सके (तदा+एषु) तो इन पर (सर्वम्+अपि+एतत् चतुष्टयं प्रयुञ्जीत) सभी उपर्युक्त [८। १२९] चारों दण्डों को एकसाथ और तीव्ररूप में लागू कर देवे ।। १३० ।।

लेन-देन के व्यवहार में काम आने वाले बाट और मुद्राएं—

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥ (७५)

अब मैं (ताम्र-रूप्य-सुवर्णानां या संज्ञाः) तांबा, चांदी, सुवर्ण आदि की 'पण' आदि मुद्राएं और 'माष' आदि बाटों की संज्ञाएं (लोकव्यवहारार्थम्) मोल लेना-देना आदि लोकव्यवहार के लिए (भुवि प्रथिताः) जगत् में प्रसिद्ध हैं (ताः) इन सबको (अशेषतः प्रवक्ष्यामि) पूर्णरूप से कहता हूँ ।। १३१ ।।

तोल के पहले मापक त्रसरेणु की परिभाषा—

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥१३२॥ (७६)

(भानौ जालान्तरगते) सूर्य की किरणों के मकान की खिड़कियों के अन्दर से प्रवेश करने पर [उस प्रकाश में] (यत् सूक्ष्मं रजः दृश्यते) जो बहुत छोटा रजकण (कण) दिखाई पड़ता है (तत्) वह (प्रमाणानां प्रथमम्) प्रमाणों=मापकों अर्थात् तोलने के बाटों में पहला प्रमाण है, और उसे ('त्रसरेणुं' प्रचक्षते) 'त्रसरेणु' कहते हैं॥ १३२॥

[महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक को 'त्रसरेणु' के लक्षण-प्रसंग में 'पूना प्रवचन में पृष्ठ ८० पर उद्धृत किया है]

लिक्षा-राजसर्षप-गौरसर्षप की परिभाषा—

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥१३३॥ (७७)

[तोलने में] (परिमाणतः) माप के अनुसार (अष्टौ 'त्रसरेणवः') आठ 'त्रसरेणु' की (एका 'लिक्षा' विज्ञेया) एक 'लिक्षा' होती है और (ताः तिस्रः 'राजसर्षपः') उन तीन लिक्षाओं का एक 'राजसर्षप' (ते त्रयः गौरसर्षपः) उन तीन 'राजसर्षपों' का एक 'गौरसर्षप' होता है॥ १३३॥

मध्ययव, कृष्णल, माष और सुवर्ण की परिभाषा—

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम्।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥१३४॥ (७८)

(षट् सर्षपाः मध्य-यवः) छः गौरसर्षपों का एक 'मध्ययव' परिमाण होता है (तु) और (त्रियवम् एक कृष्णलम्) तीन मध्ययवों का एक 'कृष्णल'=रत्ती (पञ्च-कृष्णलकः माषः) पाँच कृष्णलों=रत्तियों का एक 'माष' [सोने का] और (ते षोडश सुवर्णः) उन सोलह माषों का एक 'सुवर्ण' होता है॥ १३४॥

पल, धरण, रौप्यमाषक की परिभाषा—

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः॥ १३५॥ (७९)

(चत्वारः सुवर्णाः 'पलम्') चार सुवर्णों का एक 'पल' होता है (दश पलानि 'धरणम्') दश पलों का एक 'धरण' होता है (द्वे कृष्णले समधृते 'रौप्यमाषकः' विज्ञेयः) दो कृष्णल=रत्ती तराजू पर रखने पर उनके

बराबर तोल का माप एक 'रौप्यमाषक' जानना चाहिए ॥ १३५ ॥

रौप्यधरण, राजतपुराण, कार्षापण की परिभाषा—

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥१३६॥ (८०)

(ते षोडश 'धरणं' स्यात्) उन सोलह रौप्यमाषकों का एक 'रौप्यधरण' तोल का माप होता है (च) और एक ('राजतः पुराणः') चांदी का 'पुराण' नामक सिक्का होता है (ताम्रिकः कार्षिकः पणः) तांबे का कर्षभर अर्थात् १६ माषे वजन का 'पण' ('कार्षापणः' विज्ञेयः) 'कार्षापण' सिक्का समझना चाहिए ॥ १३६ ॥

रौप्यशतमान, निष्क की परिभाषा—

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥ (८१)

(दश धरणानि) दश रौप्यधरणों का ('राजतः शतमानः' ज्ञेयः) एक चांदी का शतमान' जानें, और (प्रमाणतः) प्रमाणानुसार (चतुः सौवर्णिकः 'निष्कः' विज्ञेयः) चार सुवर्ण का एक 'निष्क' [=अशर्फी] जानना चाहिए ॥ १३७ ॥

अनुशीलन : (१) **तोलने के प्रमाणों का विवेचन और तालिका—**

(क) श्लोक १३२ से १३६ तक लेन-देन के व्यवहार में काम आने वाले तोल के प्रमाणों अर्थात् बाटों का वर्णन है। उनमें त्रसरेणु से कृष्णल=रत्ती (गुंजा) तक के प्रमाण भूमि में उत्पन्न पदार्थों पर आधारित थे। माष से धरण तक के सोने के और कृष्णल से रौप्यशतमान तक के चाँदी के बाट होते थे। तालिका के अनुसार उनका विवरण निम्न प्रकार है—

४ त्रसरेणु	=	१ लिक्षा	
३ लिक्षा	=	१ राजसर्षप (छोटी काली सरसों)	
३ राजसर्षप	=	१ गौरसर्षप (सफेद सरसों)	
६ गौरसर्षप	=	१ मध्ययव (न बड़ा न छोटा जौ)	
३ मध्ययव	=	१ कृष्णल = गुंजा या रत्ती	
५ कृष्णल (रत्ती)	=	१ माष (सोने का) बना लगभग आने भर वजन)	सोने से निर्मित बाट
१६ माष	=	१ सुवर्ण या कर्ष (लगभग रुपये भर वजन का	
४ सुवर्ण	=	१ पल (लगभग छटांक)	
१० पल	=	१ धरण	

२ कृष्णल रत्ती	=	१ रौप्यमाषक	चांदी से निर्मित बाट
१६ रौप्यमाषक	=	१ रौप्यधरण	
१० रौप्यधरण	=	१ रौप्यशतमान	

(ख) **कौटिल्य द्वारा वर्णित तोल-प्रमाण**—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में मनु के तोल-प्रमाणों को लगभग उसी रूप में उद्धृत किया है। उनसे मनुप्रोक्त प्रमाणों पर प्रकाश भी पड़ता है—

(अ) कौटिल्य के अनुसार सोने के तोलप्रमाणों में पांच रत्ती अथवा दस उड़द के दाने के बराबर एक सुवर्णमाषक होता है। सोलह सुवर्णमाष का एक सुवर्ण या एक कर्ष, और चार कर्ष का एक पल होता है।

(आ) चांदी के तोल प्रमाणों में अट्ठासी सफेद सरसों के परिणाम का एक रूप्य-माषक होता है। मनु के अनुसार २ कृष्णल या छत्तीस गौर सर्षप का रूप्यमाषक है। सोलह रूप्यमाषक का एक धरण होता है।[1]

(२) **मुद्राएं और उनकी तालिका**—

(क) मनु ने तोल के आधार पर ही अर्थ-मुद्राओं का निर्माण [१३६-१३७] कहा है। मुद्राएं तांबा, चांदी और सोने की होती थीं। उनकी तालिका इस प्रकार है—

१६ रौप्यमाषक के बराबर वजन में = { १ राजतपुराण (चांदी की मुद्रा) / १ कार्षापण (तांबे की मुद्रा) }

४ सुवर्ण के समभार में (लगभग एक छटांक) = १ निष्क (सोने की अशर्फी)

(ख) **कौटिल्य द्वारा वर्णित मुद्राएं**—

आचार्य कौटिल्य ने चांदी और तांबे की मुद्राओं का उल्लेख करते हुए उनकी रचनाविधि भी बतलायी है। मनु ने भी कार्षापण के विषय में '**ताम्रिकः कार्षिकः पणः**' शब्दों का उल्लेख कर उसके रचनातत्त्व की ओर संकेत किया है। उसकी पूर्णविधि कौटिल्य ने दी है, जो इस प्रकार है—

(अ) चांदी के सिक्के जिनको कौटिल्य ने 'पण' संज्ञा दी है, शायद वही मनु के अनुसार 'राजतपुराण' है। चांदी से बना होने के कारण संभवतः यही परकाल में रूप्यक और रुपैया का रूप धारण कर गया। कौटिल्य के अनुसार—लवणाध्यक्ष = टकसाल के अध्यक्ष को चाहिए कि वह पण, अर्धपण, पादपण और अष्टभागपण नामक चार

---

१. "**धान्यमाषा दश सुवर्णमाषकः। पञ्च वा गुञ्जाः। ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा। चतुष्कर्षं पलम्।**"

"**अष्टाशीतिगौरसर्षपा रूप्यमाषकः। ते षोडश धरणम्।**"
[प्रक० ३५। अ० १९]

चांदी के सिक्कों को विधिपूर्वक ढलवायें। एक पण १६ माष का होता है। उसमें ११ माष चांदी; ४ माष तांबा; तथा रांगा, लोहा, सीसा या अंजन में से कोई धातु १ माष हो। इसी अनुपात से छोटे सिक्कों में ये धातुएं डालें।

(आ) तांबे के सिक्के को कौटिल्य ने 'माषक' संज्ञा दी है। लेकिन वह भी १६ माषे का है, जिसे मनु ने 'कार्षापण' कहा है। इसके भी चार प्रकार के सिक्के बनते हैं—माषक, अर्धमाषक, पादमाषक (काकणी), अष्टभागमाषक (अर्धकाकणी)। इनमें माषक में ११ माष ताम्बा, ४ माष चांदी, और १ माष लोहा, सीसा, रांगा या अंजन में से कोई एक धातु होती है। इससे छोटे सिक्कों में इसी अनुपात से कम हो जाती है।[1]

पूर्व-मध्यम-उत्तमसाहस की परिभाषा—

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥१३८॥ (८२)

(द्वे शते सार्धे पणानां प्रथमः साहसः स्मृतः) ढाई सौ पण का एक प्रथम 'साहस' माना है (पञ्च 'मध्यमः' विज्ञेयः) पांच सौ पण का 'मध्यम साहस' समझना चाहिए (सहस्रं तु+एव उत्तमः) एक हजार पण का 'उत्तम साहस' होता है ॥ १३८ ॥

अनुशीलन : **पूर्व, मध्यम और उत्तम साहस की सीमा**—कौटिल्य के मतानुसार साहसों की सीमा एक निर्धारित संख्या में नहीं, अपितु एक साहस से दूसरे साहस तक की सारी संख्या उस साहस में परिगणित मानी गई है। उनके मतानुसार—२५० पण तक पूर्वसाहस, २५१ से ५०० पण तक मध्यम साहस, ५०१ से १००० पण तक उत्तम साहस माना जायेगा। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इनको कुछ भेद के साथ इसी प्रकार प्रस्तुत किया है—"४८ से २०० पण तक प्रथम साहस, २०० से ५०० पण तक मध्यम साहस, ५०० से १००० पण तक उत्तम साहस का दण्ड कहलाता है।" दोषानुसार इस अवधि का कोई भी दण्ड हो सकता है।[2]

---

१. **लवणाध्यक्षः चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनामन्यतमाषबीजयुक्तं कारयेत् पणम्, अर्धपणं पादमष्टभागमिति। पादाजीवं ताम्ररूपं माषकमर्धमाषकं काकणीमर्धकाकणीमिति।"** [प्रक० २८ । अ० १२]

२. **अष्टचत्वारिंशत्पणावरः षण्णवतिपरः पूर्वः साहसदण्डः।"............ द्विशतावरः पञ्चशतपरः मध्यमः साहसदण्डः।"........................पंचशतावरः सहस्रपरः उत्तमः साहसदण्डः।"** [प्रक० ७४ । अ० १७]

ऋण पर ब्याज का विधान—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् ।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥१४०॥ (८३)

(वसिष्ठविहिताम्) [दिए हुए ऋण पर] अर्थशास्त्र के विद्वान् द्वारा विहित (वित्तविवर्धिनीम्) धन को बढ़ाने वाली (वृद्धिम्) वृद्धि अर्थात् ब्याज को (सृजेत्) ले, किन्तु (वार्धुषिकः) ब्याज लेने वाला मनुष्य (शते अशीति-भागम्) सौ पर अस्सीवां भाग अर्थात् सवा रुपया सैकड़ा ब्याज (मासात्) मासिक (गृह्णीयात्) ग्रहण करे अर्थात् इससे अधिक ब्याज न ले [यह अधिक से अधिक की सीमा है] ॥ १४० ॥ *

'सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे ।" (सं० वि० १७६ में टिप्पणी)

अनुशीलन : इस श्लोक में 'वसिष्ठ' शब्द को देखकर यह भ्रम होता है कि यह कोई वसिष्ठ नाम का व्यक्ति हुआ है और उसने ब्याज लेने की व्यवस्था निर्धारित की है, मनु ने उसी को यहां प्रामाणिक मानकर उद्धृत किया है। अनेक टीका-कार इस भ्रान्ति के शिकार हुए हैं और उन्होंने इसको 'नाम' मानकर 'वसिष्ठ ऋषि' यह अर्थ कर दिया है। इस शब्द का यहाँ 'अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान्' अर्थ है। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियां हैं—(१) मनु ने प्रसंगानुसार अन्यत्र भी उस-उस विषय के ज्ञाता विद्वानों को मूल्य, शुल्क आदि के निर्धारण में प्रमाण माना है, और स्वयं उनका निर्धा-रण स्वल्परूप में करके शेष उन्हीं पर छोड़ दिया है, जैसे—किराया निर्धारण के लिए ८। १५७ में, शुल्कनिर्धारण के लिए ८। ३९८ में उस विषय के विशेषज्ञों पर ही यह निर्धारण का काम छोड़ा है। इसी प्रकार यहां भी है। इसीलिए इस शब्द का उक्त अर्थ मनु-अभिप्रेत है। ८। १५७ में इस शब्द के पर्यायवाची रूप में **'अर्थदर्शिनः'** शब्द का प्रयोग है। इसका भी भाव वही है। (२) वेदादि में वसिष्ठ शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यथा—ऋ० १. ११२. ९ तथा ७. ३३. १३ में वसिष्ठ शब्द का अर्थ महर्षि दयानन्द ने यही किया है—**"यो वसति धनादि कर्मसु सोऽतिशयस्तम् उत्तमविद्वांसम् ।"** इस आधार पर यहाँ उक्त अर्थ ही समीचीन एवं ग्राह्य है।

अर्थशास्त्रियों द्वारा ब्याज की व्यवस्था के निर्धारण का उल्लेख करते हुए मनु ने ब्याज की यह अधिकतम सीमा निर्धारित की है। इससे अधिक ब्याज ग्रहण नहीं करना चाहिए, इस उल्लेख से मनु का यही अभिप्राय है।

लाभ वाली गिरवी पर ब्याज नहीं—

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।

---

* [प्रचलित अर्थ—वसिष्ठ मुनि द्वारा प्रतिपादित धनवर्धक सूद ले, वह ऋण-द्रव्य का १/८० भाग हो अर्थात् सवा रुपया प्रतिशत मासिक सूद लेना चाहिए ॥ १४० ॥]

न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥१४३॥ (८४)

(सोपकारे) उपकार अर्थात् साथ के साथ लाभ पहुंचाने वाली (आधौ) बंधक रखी धरोहर=गिरवी [जैसे भूमि, घर, गौ आदि] पर (कौसीदीं वृद्धि न तु+एव आप्नुयात्) ब्याज रूप में प्राप्त धनवृद्धि बिल्कुल न ले (च) और (कालसंरोधात्) बहुत समय बीत जाने पर भी (आधेः) उस धरोहर को (न निसर्गः) रखने वाले के अधिकार से छुड़ाया नहीं जा सकता है अर्थात् रखने वाले की ही वह वस्तु रहेगी (न विक्रयः) न दूसरे को बेचा जा सकता है ॥ १४३ ॥

धरोहर-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ (उन पर ऋण-ब्याज आदि की व्यवस्था)—

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥१४४॥(८५)

(बलात्) गिरवी को रखने वाला व्यक्ति जबरदस्ती (आधिः न भोक्तव्यः) किसी की धरोहर=गिरवी को उपयोग में न लाये (भुञ्जानः) यदि वह उस वस्तु को उपभोग में लाता है तो (वृद्धिम्+उत्सृजेत्) ब्याज को छोड़ देवे,अथवा (एनं मूल्येन तोषयेत्) धरोहर रखने वाले व्यक्ति को उसका मूल्य देकर संतुष्ट करे (अन्यथा) ऐसा न करने पर (आधिः+स्तेनः भवेत्) 'धरोहर का चोर' कहलाएगा अर्थात् चोर के दण्ड का भागी होगा ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥१४५॥ (८६)

(आधिः) धरोहर=गिरवी (च) और (उपनिधिः) मुहरबन्द दी हुई अमानत (उभौ) ये दोनों (काल+अत्ययम्) समय की सीमा के (न अर्हतः) योग्य नहीं हैं अर्थात् इन पर कोई समय की सीमा लागू नहीं होती कि इतने दिनों के पश्चात् ये जब्त हो जायेंगी (तौ) ये (दीर्घकालम्+अवस्थितौ) लम्बे समय तक रहने के बाद भी (अवहार्यौ भवेताम्) लौटाने योग्य होती हैं ॥ १४५ ॥

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥१४६॥ (८७)

(संप्रीत्या भुज्यमानानि) परस्पर प्रेमपूर्वक उपभोग में लायी जाती हुई वस्तुएं (धेनुः) गौ (वहन्) बोझ या सवारी आदि ढोने के लिए (उष्ट्रः) ऊंट (अश्वः) घोड़ा (च) और (यः) जो (दम्यः) हल आदि में जोता जाने

वाला बैल आदि (प्रयुज्यते) उपभोग में लाया जाता है, वह (कदाचन न नश्यन्ति) कभी भी अपने पूर्व स्वामी के स्वामित्व से नष्ट नहीं होते, प्रयोग करने वाले के नहीं होते ॥ १४६ ॥

दुगुने से अधिक मूलधन न लेने का आदेश—

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता ।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥ (८८)

(सकृत्+आहृता) एकबार लिए ऋण पर (कुसीदवृद्धिः) ब्याज की वृद्धि (द्वैगुण्यं न+अत्येति) मूलधन दुगुने से अधिक नहीं होनी चाहिए। (धान्ये) अन्नादि धान्य (सदे) वृक्षों के फल (लवे) ऊन (वाह्ये) भारवाहक पशु बैल आदि (पञ्चतां न+अतिक्रामति) मूल से पांच गुने से अधिक नहीं होने चाहिएँ ॥ १५१ ॥

"सवा रुपये सैंकड़े से अधिक चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे, जब दूना धन आ जाये उस से आगे कौड़ी न लेवे न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उस का धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे"। (सं० वि० १७६ में टिप्पणी)

कौन-कौन से ब्याज न ले—

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् ।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ १५३ ॥ (८९)

(अतिसांवत्सरीं वृद्धिं न हरेत्) एक वर्ष से अधिक समय का ब्याज एक बार में न ले (च) और (अदृष्टां पुनः न हरेत्) किसी कारण से एक बार छोड़े हुए ब्याज को फिर न मांगे (चक्रवृद्धिः) ब्याज पर लगाया हुआ ब्याज (कालवृद्धिः) मासिक, त्रैमासिक या ब्याज की किश्त देने के लिए निश्चित किये गये काल पर ब्याज लेकर अगले ब्याज की दर को बढ़ा देना (कारिता) कर्जदार की विवशता, विपत्ति आदि के कारण दबाव देकर शास्त्र में निश्चित सीमा से अधिक लिखाया या बढ़ाया गया ब्याज (कायिका) ब्याज के रूप में शरीर से बेगार करवाना या शरीर से काम कराके ब्याज उगाहना, ये ब्याज भी न ले ॥ १५३ ॥

पुनः ऋणपत्रादि लेखन—

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम् ।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥१५४॥(९०)

(यः) जो कर्जदार (ऋणं दातुम्+अशक्तः) निर्धारित समय पर ऋण न लौटा सकता हो और (पुनः क्रियां कर्तुम्+इच्छेत्) फिर आगे भी क्रिया=उस ऋण को जारी रखना चाहता हो तो (सः) वह (निर्जितां वृद्धि दत्त्वा) उस समय तक के ब्याज को देकर (करणं परिवर्तयेत्) 'लेन-देन का कागज' नया लिख दे ॥ १५४ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।
यावती संभवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥ (९१)

(अदर्शयित्वा) यदि कर्जदार ब्याज न दे सके तो (तत्र+एव हिरण्यं परिवर्तयेत्) ब्याज को मूलधन में जोड़कर सारे को मूलधन मानकर नया कागज लिख दे (यावती वृद्धिः संभवेत्) उस पर फिर जितना ब्याज बनेगा (तावतीं दातुम्+अर्हति) उतना उसे देना होगा ॥ १५५ ॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।
अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥ (९२)

(चक्रवृद्धिं समारूढः) उपर्युक्त [८।१५५] प्रकार से वार्षिक ब्याज को मूलधन में जोड़कर चक्रवृद्धि ब्याज लेने वाला व्यक्ति (देश-काल-व्यवस्थितः) देश और काल-व्यवस्था में बन्धकर ब्याज ले [देशव्यवस्था अर्थात् स्थान या देश की उपयुक्त व्यवस्था जैसे नकद राशि पर दुगुने से अधिक न ले; व्यापारिक अन्न, फल आदि पर पांच गुने से अधिक न ले; और सवा रुपये सैकड़े की अधिकतम सीमा तक जितना ब्याज जिस स्थान या देश में लिया जाता है उस व्यवस्था के अनुसार (८।१४०, १५१)। कालव्यवस्था—वर्ष के निर्धारित समय के बाद ही सूद को मूलधन में जोड़ना, पहले नहीं] (८।१५५) (देशकालौ अतिक्रामन्) देश, काल की व्यवस्था को भंग करने पर (तत् फलं न अवाप्नुयात्) ब्याज लेने वाला उस ब्याज को लेने का हकदार नहीं होता ॥ १५६ ॥

समुद्रयानों का किराया-भाड़ा निर्धारण—

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७ ॥ (९३)

(समुद्रयानकुशलाः) समुद्रपार देशों तक व्यापार करने में चतुर और (देशकालार्थदर्शिनः) देश, काल के अनुसार अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान् (यां वृद्धिं स्थापयन्ति) जिस ब्याज या भाड़े का निश्चय करें (सा तत्र+अधिगमं प्रति) वही ब्याज या भाड़ा लाभप्राप्ति के लिए ठीक है [ऐसा समझना चाहिए] ॥ १५७ ॥

जमानती सम्बन्धी विधान—

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः।
अदर्शयन्स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥ (९४)

(यः मानवः) जो व्यक्ति (यस्य) जिस कर्जदार का (इह दर्शनाय) महाजन के सामने या न्यायालय के सामने उपस्थित करने का (प्रतिभूः तिष्ठेत्) जमानती बने (अदर्शयन्) उस कर्जदार को उपस्थित न कर सकने पर (तस्य ऋणम्) उसका लिया हुआ कर्ज (स्वधनात् प्रयच्छेत्) जमानती अपने धन से दे ॥ १५८ ॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥१५९॥ (९५)

(प्रातिभाव्यम्) जमानत के रूप में स्वीकार किया गया धन (वृथा-दानम्) व्यर्थ में देने के लिए कहा गया दान, या व्यर्थ अथवा कुपात्र को कहा गया दान (आक्षिकम्) जूआ-सम्बन्धी धन (च) और (यत् सौरिकम्) जो शराब-व्यय सम्बन्धी धन (च) तथा (दण्ड-शुल्क-अवशेषम्) राजा की ओर से दण्ड के रूप में किया गया जुर्माने का धन और कर, चुंगी आदि का धन (पुत्रः न दातुम्+अर्हति) पुत्र को नहीं देना चाहिए ॥ १५९ ॥

दर्शनप्रतिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥ (९६)

(दर्शन-प्रातिभाव्ये तु) कर्जदार का उपस्थित करने का जमानती होने में तो (पूर्वचोदितः विधिः स्यात्) पहले [८।१५९ में] कही हुई विधि लागू होगी किन्तु (दान-प्रतिभुवि प्रेते) ऋण आदि देने का जमानती होकर [कि अगर कर्जदार नहीं देगा तो मैं दूंगा] पुनः जमानती के मर जाने पर (दायादान्+अपि दापयेत्) राजा जमानत के धन को उसके वारिस पुत्र आदिकों से भी दिलवाये ॥ १६० ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम्।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥ (९७)

(अदातरि पुनः विज्ञातप्रकृतौ) अदाता जमानती की प्रतिज्ञा की ऋणदाता को जानकारी होने की स्थिति में अर्थात् यदि जमानती ने ऋण देने की जमानत नहीं ली है किन्तु केवल ऋणी को ऋणदाता के सामने नियत समय पर उपस्थित करने की जमानत ली है, और जमानती की इस प्रतिज्ञा को ऋणदाता जानता भी है ऐसे (प्रतिभुवि प्रेते पश्चात्) जमानती

के मर जाने के बाद (दाता केन हेतुना ऋणं परीप्सेत्) ऋणदाता किस कारण अर्थात् आधार पर [उसके पुत्रादि से] ऋण प्राप्त करने की इच्छा करेगा ? अर्थात् वह उसके पुत्र आदि से ऋण प्राप्त करने का हकदार नहीं है ॥ १६१ ॥

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः ।
स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥१६२॥ (९८)

(चेत्) यदि (प्रतिभूः निरादिष्टधनः) ऋणी ने अपने जमानती को धन सौंप रखा हो (च) और (अलंधनः स्यात्) ऋणी ने जमानती से ऋण-दाता को वह धन लौटा देने की आज्ञा न दी हो तो ऐसी स्थिति में (निरा-दिष्टः) वह आज्ञा न दिया हुआ जमानती अथवा मरने पर जमानती का पुत्र (तत् स्वधनात्+एव दद्यात्) [ऋणदाता के मांगने पर] उसका धन अपने धन में से ही लौटा देवे (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥१६२॥

आठ प्रकार के व्यक्तियों से लेन-देन अप्रामाणिक है—

मत्तोन्मत्तार्ताध्याधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्धयति ॥१६३॥ (९९)

(मत्तः) नशे में ग्रस्त (उन्मत्तः) पागल (—आर्तः) शारीरिक रोगी (—आधि) मानसिक रूप से दुःखी या विपत्तिग्रस्त (—अधीनैः) अधीन रहनेवाले नौकर आदि से (बालेन) नाबालिग से (वा) अथवा (स्थविरेण) बहुत बूढ़े से (च) और (असंबद्धकृतः) सम्बद्ध व्यक्ति के पीछे से किसी अन्य व्यक्ति से किया गया (व्यवहार) लेन-देन (न सिद्धयति) प्रामाणिक अर्थात् मानने योग्य नहीं होता ॥ १६३ ॥

शास्त्र और नियमविरुद्ध लेन-देन अप्रामाणिक—

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ।
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥१६४॥(१००)

(भाषा) कोई भी बात या पारस्परिक प्रतिज्ञा (चेत्) यदि (धर्मात्) धर्मशास्त्र अर्थात् कानून में (नियतात् व्यावहारिकात्) निश्चित व्यवहार से (बहिः भाष्यते) बाह्य अर्थात् विरुद्ध की हुई है (यद्यपि प्रतिष्ठिता स्यात्) चाहे वह लेख आदि द्वारा प्रमाणित भी हो तो भी (सत्या न भवति) सत्य =प्रामाणिक या मान्य नहीं होती ॥ १६४ ॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।

यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥१६५॥ (१०१)

(योग+आधमन—विक्रीतम्) छल-कपट से रखी हुई धरोहर और बेची हुई वस्तु (योगदान—प्रतिग्रहम्) छल-कपट से दी गयी और ली गई वस्तु (वा) अथवा (यत्र अपि+उपधिं पश्येत्) जिस-किसी भी व्यवहार में छल-कपट दिखायी पड़े (तत् सर्वं विनिवर्तयेत्) उस सब को रद्द या अमान्य घोषित कर दे ॥ १६५ ॥

कुटुम्बार्थं लिए गये धन का कुटुम्बी लौटायें—

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं कृतो व्ययः ।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥१६६॥ (१०२)

(कुटुम्बार्थं व्ययः कृतः) यदि किसी व्यक्ति ने परिवार के लिए ऋण लेकर खर्च किया हो और (यदि ग्रहीता नष्टः स्यात्) यदि ऋण लेने वाले की मृत्यु हो गई हो तो (तत्) वह ऋण (बान्धवैः) उसके पारिवारिक सम्बन्धियों को (विभक्तैः+अपि) चाहे वे अलग-अलग भी क्यों न हो गये हों (स्वतः) अपने धन में से (दातव्यम् स्यात्) देना चाहिए ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि यं व्यवहारं समाचरेत् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥१६७॥(१०३)

(अधि+अधीनः+अपि) कोई अधीनस्थ व्यक्ति [पुत्र, पत्नी आदि] भी यदि (कुटुम्बार्थे) परिवार के भरण-पोषण के लिए (स्वदेशे वा विदेशे वा) स्वदेश वा विदेश में (यं व्यवहारम्+आचरेत्) जिस लेन-देन के व्यवहार को कर लेवे (ज्यायान्) घर का बड़ा=मुखिया आदमी (तं न विचालयेत्) उस व्यवहार को टालमटोल न करे अर्थात् उसे स्वीकार करके चुकता कर दे ॥ १६७ ॥

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् ।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ १७८ ॥
(१०४)

(राजा) राजा (मिथः विवदतां नृणाम्) परस्पर झगड़ते हुए मनुष्यों के (साक्षि-प्रत्ययसिद्धानि कार्याणि) साक्षी और लेख आदि प्रमाणों से प्रमाणित मुकद्दमों को (अनेन विधिना) इस उपर्युक्त [८।९ से ८।१७७] विधि से (समतां नयेत्) सबसे बराबर न्याय करता हुआ निर्णय करे ॥ १७८ ॥

(२) धरोहर रखने के विवाद का निर्णय [१०५—१२०]

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।

महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः ॥ १७९ ॥ (१०५)

(बुधः) बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह (कुलजे) कुलीन (वृत्त-सम्पन्ने) अच्छे आचरण वाले (धर्मज्ञे) धर्मात्मा (सत्यवादिनि) सत्यवादी (महापक्षे) विस्तृत व्यापार या बहुत परिवार वाले (आर्ये धनिनि) श्रेष्ठ धनवान् व्यक्ति के यहां (निक्षेपं निक्षिपेत्) धरोहर रखे ॥ १७९ ॥

यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥ (१०६)

(यः) जो धरोहर रखने वाला (मानवः) मनुष्य (यम्+अर्थम्) जिस धन को (यस्य हस्ते) जिस किसी के हाथ में (यथा निक्षिपेत्) जैसे अर्थात् मुहरबन्द या बिना मुहरबन्द, साक्षियों के सामने या एकान्त में, जैसी धन की मात्रा अवस्था आदि के रूप में रखे (सः) वह धन (तथा+एव) वैसी स्थिति के अनुसार ही (ग्रहीतव्यः) वापिस लेना चाहिए क्योंकि (यथा दायः तथा ग्रहः) जैसा देना वैसा ही लेना होता है [तुलनार्थं द्रष्टव्य ८।१९५]
॥ १८० ॥

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥ १८१ ॥
(१०७)

(यः) जो धरोहर रखने वाला (निक्षेप्तुः निक्षेपम्) धरोहर रखाने वाले के द्वारा अपनी धरोहर के (याच्यमानः) मांगने पर (न प्रयच्छति) नहीं लौटाता है तो [धरोहर रखाने वाले के द्वारा न्यायालय में प्रार्थना करने पर] (तत् निक्षेप्तुः+असन्निधौ) धरोहर रखाने वाले की अनुपस्थिति में या परोक्षरूप से (प्राड्विवाकेन सः याच्यः) न्यायाधीश उससे धरोहर मांगे [८।१८२] अर्थात् धरोहर लौटाने के लिये उससे पूछताछ आदि करे।
॥ १८१ ॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥ (१०८)

(साक्षी+अभावे) दिये गये धरोहर-धन को सिद्ध करने के लिए यदि साक्षी न हों [तो उसकी जांच-पड़ताल का एक उपाय यह है कि राजा] (वयः-रूप-समन्वितैः) समयानुसार अवस्था और विविध रूप बनाने की कला में चतुर (प्रणिधिभिः) गुप्तचरों के द्वारा (अपदेशैः) विभिन्न बहानों एवं तरीकों से (तत्त्वतः) जो नकली प्रतीत न हों अर्थात् ऐसी स्वा-

भाविक पद्धति से (तस्य) उस अभियोगी के यहां (हिरण्यं संन्यस्य) स्वर्ण आदि धरोहर आदि का धन रखवाकर फिर मांगे ॥ १८२ ॥

अनुशीलन : हिरण्य से विशेष अभिप्राय—

'हिरण्य' का प्रसिद्ध अर्थ स्वर्ण है। किसी भी अतिमूल्यवान् वस्तु को भी 'हिरण्य' कहा जाता है। यहां 'हिरण्य' रखकर परीक्षा करने की विधि बड़ी मनोवैज्ञानिक है। यतोहि लालची व्यक्ति महंगी वस्तु पर अधिक लालच प्रकट करेगा, जिससे उसकी भावना प्रकट हो जायेगी कि इसने इस प्रकार का अपराध किया है अथवा नहीं।

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् ।
न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥ (१०९)

(सः) वह धरोहर लेने वाला अभियोगी व्यक्ति [अनेक बार, विभिन्न प्रकार के उपायों से परीक्षा करने के पश्चात्] (यदि यथान्यस्तं यथाकृतं प्रतिपद्येत्) यदि रखी हुई धरोहर को ईमानदारी से ज्यों का त्यों वापिस कर देता है तो (यत् परैः+अभियुज्यते) जो दूसरों के द्वारा उस पर अभियोग लगाया गया है (तत्र न किंचित् विद्यते) उसमें कुछ सच्चाई नहीं है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १८३ ॥

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥
(११०)

(यदि तु) और अगर (तेषां तत् हिरण्यम्) उन गुप्तचरों द्वारा रखी गई स्वर्ण आदि धरोहर को (यथाविधि) ज्यों का त्यों (न दद्यात्) न लौटावे तो (उभौनिगृह्य) धरोहर रखने वाले तथा गुप्तचरों द्वारा रखी गयी उन दोनों धरोहरों को अपने वश में करके (दाप्यः स्यात्) धरोहर रखने वाले को दण्डित करे (इति धर्मस्य धारणा) ऐसा धर्मानुसार दण्ड विधान है। १८४॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥ (१११)

(नित्यम्) कभी भी (निक्षेप+उपनिधो) बिना मुहरबन्द=गिरवी धरोहर और मुहरबन्द धरोहर (अनन्तरे प्रति) देने वाले से भिन्न निकट-तम व्यक्ति को [चाहे वे पुत्र आदि ही क्यों न हों] (न देयौ) नहीं देनी चाहियें (तो) ये (विनिपाते नश्यतः) देने वाले के मर जाने पर नष्ट हो जाती हैं अर्थात् लौटानी नहीं पड़तीं (तु) और (अनिपाते) जीवित रहने पर (अनाशिनौ) कभी नष्ट नहीं होतीं ॥ १८५ ॥

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥१८६॥(११२)

(मृतस्य अनन्तरे प्रति) धरोहर देने वाले के मरजाने पर उसके वारिसों को (यः स्वयम्+एव दद्यात्) जो व्यक्ति स्वयं ही धरोहर लौटा दे तो (सः) उस व्यक्ति पर (न राज्ञा) न तो राजा को (न निक्षेप्तुः बन्धुभिः) और न धरोहर रखाने वाले के उत्तराधिकारी बान्धवों को (नियोक्तव्य): किसी प्रकार का दावा या संदेह करना चाहिए ॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम्।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥१८७॥ (११३)

(तम्+अर्थम्) यदि उस व्यक्ति के पास कुछ धन रह भी गया है तो उस धन को (अच्छलेन) छलरहित होकर (प्रीतिपूर्वकम्+एव) प्रेमपूर्वक ही (अनु+इच्छेत्) लेने की इच्छा करे (वा) और (तस्य वृत्तं विचार्य) उसके भलेपन को ध्यान में रखते हुए [कि उसने स्वयं ही कुछ धन लौटा दिया] (साम्ना+एव परिसाधयेत्) शान्तिपूर्वक या मेल-जोल से ही धन-प्राप्ति के काम को सिद्ध करले ॥ १८७ ॥

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने।
समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥(११४)

(एषु सर्वेषु निक्षेपेषु) उपर्युक्त सब प्रकार के बिना मुहरबन्द निक्षेपों में (परिसाधने) विवादों का निर्णय करने के लिए (विधिः स्यात्) यह विधि [८।१८२ आदि] कही गयी है और (समुद्रे) मोहरबन्द धरोहरों में (यदि तस्मात् न हरेत्) यदि उसमें से मुहर को तोड़कर रखने वाला कुछ नहीं लेता है तो (किञ्चित् न+आप्नुयात्) वह किसी दोष का भागी नहीं होता ॥ १८८ ॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥१८९॥ (११५)

(तस्मात्) रखे हुए धरोहर में से (यदि सः किञ्चन न संहरति) यदि धरोहर लेने वाला कुछ नहीं लेता है और धरोहर (चौरैः हृतम्) चोरों के द्वारा चुरा ली जाये (जलेन+ऊढम्) जल में बह जाये (वा) या (अग्निना एव दग्धम्) आग से ही जल जाये तो (न दद्यात्) धरोहर लेने वाला धरोहर को न लौटाये ॥ १८९ ॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥१९१॥(११६)

(यः) जो (निक्षेपं न+अर्पयति) धरोहर को वापिस नहीं लौटाता (च) और (यः) जो (अनिक्षिप्य याचते) बिना धरोहर रखे झूठ ही मांगता है (तौ+उभौ) वे दोनों प्रकार के व्यक्ति (चौरवत् शास्यौ) चोर के समान दण्ड के भागी हैं (वा) अथवा (तत् समं दमं दाप्यौ) बताये गये धन के बराबर अर्थदण्ड के द्वारा दण्डनीय हैं ॥ १९१ ॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥
(११७)

(यः कश्चित् नरः) जो कोई मनुष्य (उपधाभिः) छल-कपट या जालसाजी से (परद्रव्यं हरेत्) दूसरों का धन हरण करे (सः) राजा उसे (ससहायः) उसके सहायकों सहित (प्रकाशम्) जनता के सामने (विविधैः वधैः हन्तव्यः) विविध प्रकार के वधों [कोड़े या बेंत मारना, हाथ-पैर काटना आदि] से दण्डित करे ॥ १९३ ॥

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥१९४॥ (११८)

(कुलसन्निधौ) साक्षियों के सामने (येन) जिसने (यः च यावान् निक्षेपः कृतः) जो वस्तु और जितना धरोहर के रूप में रखा है (सः) वह (तावान्+एव विज्ञेयः) उतना ही समझना चाहिए अर्थात् धरोहर घटती या बढ़ती नहीं है (विब्रुवन्) उसके विरुद्ध कहने वाला भी (दण्डम्+अर्हति) दण्ड का भागी होता है ॥ १९४ ॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा ।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१९५॥ (११९)

(येन मिथः दायः कृतः) जिस व्यक्ति ने बिना साक्षियों के परस्पर ही सहमति से धरोहर या धन दिया है (वा) अथवा (मिथः एव गृहीतः) उसी प्रकार एकान्त में ग्रहण किया है उन्हें (मिथः एव प्रदातव्यः) उसी प्रकार एकान्त में लौटा देना चाहिए (यथा दायः तथा ग्रहः) क्योंकि जैसा देना वैसा ही लेना होता है [तुलनार्थं द्रष्टव्य ८ । १८०] ॥ १९५ ॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च ।

राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥१९६॥ (१२०)

(एवम्) इस प्रकार [८ । १७९ से ८ । १९५ तक] (निक्षिप्तस्य) धरोहर के रूप में रखे गये (च) और (प्रीत्या+उपनिहितस्य धनस्य) प्रेमपूर्वक उपनिधि आदि के रूप में रखे गये धन का (न्यासधारिणम् अक्षिण्वन्) जिससे धरोहर रखने वाले को किसी प्रकार की हानि न हो ऐसे (राजा विनिर्णयं कुर्यात्) राजा निर्णय करे ॥ १९६ ॥

(३) तृतीय विवाद 'अस्वामिविक्रय' का निर्णय—१२१ – १२७

दूसरे की वस्तु बेच देना—

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥१९७॥(१२१)

(यः) जो मनुष्य (अस्वामी) किसी वस्तु का स्वामी नहीं होता हुआ भी (स्वामी+असंमतः) उस वस्तु के असली स्वामी की आज्ञा लिए बिना (परस्य स्वं विक्रीणीते) दूसरे की सम्पत्ति को बेच देता है (अस्तेनमानिनम्) चोर होते हुए भी स्वयं को चोर न समझने वाले (स्तेनं तम्) उस चोर व्यक्ति की (साक्ष्यं न नयेत) साक्षी या बातों को प्रामाणिक न माने ॥१९७॥

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥१९८॥(१२२)

(अवहार्यः सान्वयः एव भवेत्) यदि इस प्रकार [८ । १९७] सम्पत्ति को बेचने वाला वंश से स्वामी का उत्तराधिकारी हो तो (षट्शतं दमम्) राजा उस पर छह सौ पण दण्ड करे और यदि वह (निरन्वयः) स्वामी के वंश का न हो, तथा (अनपसरः) या कोई जबरदस्ती उस सम्पत्ति पर अधिकार करने वाला हो तो वह (चौरकिल्विषं प्राप्तः स्यात्) चोर के दण्ड को [८ । ३०१–३४३] प्राप्त करने योग्य होगा ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥१९९॥ (१२३)

(अस्वामिना) वास्तविक स्वामी के बिना (यः तु दायः वा विक्रयः कृतः) जो कुछ भी देना या बेचना किया जाये (व्यवहारे यथा स्थितिः) व्यवहार के नियम के अनुसार (सः तु अकृतः विज्ञेयः) उस कार्य को 'न किया हुआ' ही समझना चाहिए ॥ १९९ ॥

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।

आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥२००॥ (१२४)

(यत्र सम्भोगः दृश्यते) जहां किसी वस्तु का उपभोग किया जाना देखा जाये (आगमः क्वचित् न दृश्यते) किन्तु उसका आगम=आने का साधन या स्रोत न दिखाई पड़े (तत्र) वहां (आगमः कारणम्) आगम= वस्तु की प्राप्ति के स्रोत या साधन के होने का प्रमाण मानना चाहिए (संभोगः न) उपभोग करना उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं है (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है। अर्थात्—किसी वस्तु के उपभोग करने से कोई व्यक्ति उसका स्वामी नहीं बन जाता अपितु 'उचित प्राप्ति' को सिद्ध करने पर ही उसे उस वस्तु का स्वामी माना जा सकता है। २०० ॥

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥२०१॥ (१२५)

(यः) जो व्यक्ति (किञ्चित् विक्रयात्) किसी वस्तु को बेचकर (धनं गृह्णीयात्) धन प्राप्त करना चाहे तो वह (कुलसन्निधौ) साक्षियों या कुल के लोगों के बीच में (विशुद्धं क्रयेण हि) उस बेची जाने वाली वस्तु की खरीददारी को विशुद्ध प्रमाणित करके ही (न्यायतः धनं लभते) न्यायानुसार धन प्राप्त करने का अधिकारी होता है अर्थात् जिस वस्तु को वह बेच रहा है वह विशुद्ध रूप से उसकी है या उसने कानूनी तौर पर खरीद रखी है, यह बात सिद्ध करने पर ही वह उस बेची हुई वस्तु के धन को प्राप्त करने का अधिकारी है, अन्यथा नहीं। जो उसकी विशुद्ध खरीदारी को प्रमाणित नहीं कर सकता, वह न उस वस्तु को बेचने का हकदार है और न उसके विक्रय के धन को प्राप्त करने का ॥ २०१ ॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः ।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥२०२॥ (१२६)

(अथ मूलम्+अनाहार्यम्) अगर कोई वस्तु न लेने योग्य अर्थात् अवैध सिद्ध होती है अर्थात् मूलरूप से वह कहां से आयी है और किस की है यह पता न हो और खरीददार ने उस वस्तु की (प्रकाश-क्रय-शोधितः) लोगों के सामने शुद्ध रूप से खरीददारी की है, तो ऐसी स्थिति में उस अवैध वस्तु का खरीददार (राज्ञा अदण्ड्यः मुच्यते) राजा के द्वारा दण्डनीय नहीं होता, राजा उसे छोड़ दे, और (नाष्टिकः धनं लभते) जिसका वह धन मूलरूप से है, उसे लौटा दे ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।

न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥२०३॥ (१२७)

(अन्येन अन्यत् संसृष्टरूपम्) एक वस्तु में उससे मिलते-जुलते रङ्ग-रूप वाली कम कीमत वाली या खराब वस्तु मिलाकर (न विक्रयम्+अर्हति) नहीं बेची जा सकती (च) और (न असारम्) न बेकार वस्तु (न न्यूनम्) न तोल में कम (न दूरेण तिरोहितम्) न दूर से अस्पष्ट दिखने वाली वस्तु को बेचना प्रामाणिक है ॥ २०३ ॥

अनुशीलन : इस प्रकार से वस्तुओं का बेचना भी दूसरे की वस्तु बेचने के समान दण्डनीय है। और इस प्रकार मिलावट या धोखा करने वाला व्यक्ति भी चोर के समान दण्डनीय होता है [१९७-१९८] या ६। २८६-२८७ के अनुसार दोष देखकर दण्ड दे।

(४) चतुर्थ विवाद 'सामूहिक व्यापार' का निर्णय [१२८-१२९]

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥२१०॥ (१२८)

[अपने धनव्यय के अनुसार] (सर्वेषां मुख्याः अर्धिनः) सब साझीदारों में जो मुख्य हैं, वे कुल आय के आधे भाग को लें (अपरे अर्धिनः तत अर्धेन) दूसरे नंबर के साझीदार उनसे आधा भाग ग्रहण करे (तृतीयिनः तृतीयांशाः) तीसरे नम्बर के साझीदार उन मुख्यों से एक तिहाई भाग लें (च) और (चतुर्थांशाः पादिनः) चौथे हिस्से के हिस्सेदार एक चौथाई हिस्सा लें। इस प्रकार साझे का व्यापार करें ॥ २१० ॥

सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः।
अनेन विधियोगेन कर्त्तव्यांशप्रकल्पना ॥२११॥ (१२९)

(इह) इस संसार में (संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिः मानवैः) मिल-जुलकर अपने काम करने वाले मनुष्यों को (अनेन विधियोगेन) इस विधि के अनुसार (अंशप्रकल्पना कर्त्तव्या) आपस के भाग का बंटवारा करना चाहिए अर्थात् जिसका जितना साझे का अंश है तदनुसार ही लाभांश प्राप्त करना चाहिए ॥ २११ ॥

(५) पञ्चम विवाद 'दिये पदार्थ को न लौटाना' का निर्णय— (१३०-१३१)

दान की हुई वस्तु को लौटाना—

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम्।

पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥२१२॥ (१३०)

(येन) जिसने (कस्मैचित् याचते) किसी चंदा, दान आदि मांगने वाले को (धर्मार्थं धनं दत्तं स्यात्) धर्मकार्य के लिए धन दिया हो (च) और (पश्चात्) बाद में (तथा तत् न स्यात्) उस याचक ने जैसा कहा था वह काम नहीं किया हो तो (तस्य तत् न देयं भवेत्) उसको वह धन देने योग्य नहीं रहता अर्थात् वह धन उससे वापिस ले ले ॥ २१२ ॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥२१३॥ (१३१)

(पुनः) वापिस मांगने पर भी (दर्पात् वा लोभेन) अभिमान या लालचवश (यदि तत् संसाधयेत्) फिर भी उस धन को वह याचक मनमाने काम में लगाये अर्थात् वापिस न करे तो (राज्ञा) राजा (तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः) उसके चोरीरूप अपराध की निवृत्ति के लिए (सुवर्णं दाप्यः स्यात्) एक 'सुवर्ण' [८।१३४] के दण्ड से दण्डित करे, और धन भी दिलवाये ॥ २१३ ॥

(६) षष्ठ विवाद 'वेतन-आदान' का निर्णय—(१३२—१३४)

वेतन देने, न देने का विवाद—

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥ (१३२)

(एषा) ये [८।२१२–२१३] (दत्तस्य) दिये हुए दान को (यथावत्+अनपक्रिया) ज्यों की त्यों न लौटाने की क्रिया (धर्म्या) धर्म के अनुसार (उदिता) कही ।

(अतः+ऊर्ध्वम्) इसके बाद अब (वेतनस्य+अनपक्रियाम्) वेतन न देने के विषय का (प्रवक्ष्यामि) वर्णन करूंगा ।। २१४ ॥

भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥२१५॥ (१३३)

(यः) जो (भृतः) सेवक (अनार्तः) रोगरहित होते हुए भी (यथा+उदितं कर्म) यथा निश्चित काम को (दर्पात्) अहंकार के कारण (न कुर्यात्) न करे (सः अष्टौ कृष्णलानि दण्ड्यः) राजा उस पर आठ 'कृष्णल' [७।१३४] दण्ड करे (च) और (अस्य वेतनं न देयम्) उसे उस समय का वेतन न दे ॥ २१५ ॥

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः ।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥ (१३४)

यदि सेवक (स्वस्थः सन्) स्वस्थ रहता हुआ (यथाभाषितम्+आदितः कुर्यात्) जैसा पहले कहा था या निश्चय हुआ था उसके अनुसार ठीक-ठीक काम करता रहे तो (सः) वह (आर्तः तु) बीमार होने पर भी (तत् दीर्घस्य कालस्य+अपि वेतनं लभेत) उस लम्बे समय के वेतन को पाने का अधिकारी होता है ॥ २१६ ॥

(७) सप्तम विवाद 'प्रतिज्ञा विरुद्धता' का निर्णय—[१३५ – १३८]

कृत-प्रतिज्ञा से फिर जाना—

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥ (१३५)

(एषः) यह [८।२१५–२१६] (**वेतन+अदानकर्मणः**) वेतन न देने का (धर्मः) नियम (अखिलेन+उक्तः) पूर्णरूप से अर्थात् सभी के लिए कहा ।

(अतः ऊर्ध्वम्) इसके बाद अब (समयभेदिनाम्) की हुई प्रतिज्ञा या व्यवस्था को तोड़ने वालों के लिए (धर्मम्) विधान (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा ॥ २१८ ॥

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥ (१३६)

(यः) जो (नरः) मनुष्य (ग्राम-देश-संघानाम्) गांव, देश या किसी समुदाय=कम्पनी आदि से (सत्येन संविदं कृत्वा) सत्यवचनपूर्वक प्रतिज्ञा, व्यवस्था, ठेका या इकरार करके (लोभात् विसंवदेत्) फिर लोभ के कारण उसे भंग कर देवे (तं राष्ट्रात् विप्रवासयेत्) राजा उसे राष्ट्र से बाहर निकाल दे ॥ २१९ ॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।
चतुः सुवर्णान्षण्निष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥ २२० ॥ (१३७)

(च) और (एनं समयव्यभिचारिणम्) इस प्रतिज्ञा या व्यवस्था को भंग करने वाले को [अपराध के स्तरानुसार] (निगृह्य) पकड़कर (चतुः सुवर्णान्) चार 'सुवर्ण' [८।१३४] (षट् निष्कान्) छह 'निष्क' [८।१३७] (राजतं शतमानम्) चाँदी का 'शतमान' [८।१३७] (दापयेत्) दण्ड दे ।

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥ (१३८)

(धार्मिकः पृथिवीपतिः) धार्मिक राजा (ग्राम-जाति-समूहेषु) गाँव, वर्ण और समुदाय-सम्बन्धी विषयों में (समय-व्यभिचारिणाम्) प्रतिज्ञा या व्यवस्था का भंग करने वालों पर (एतत्) यह उपर्युक्त [८।२१९–२२०] (दण्डविधिम्) दण्ड का विधान (कुर्यात्) लागू करे ॥ २२१ ॥

(८) अष्टम विवाद 'क्रय-विक्रय' का निर्णय—[१३९ – १४१]

खरीद-बिक्री का विवाद—

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत् ।
सोऽन्तर्दशाहात्तद् द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥२२२॥ (१३९)

(किंचित् क्रीत्वा) किसी वस्तु को खरीदकर (वा) अथवा (विक्रीय) बेचकर (यस्य) जिस व्यक्ति को (इह+अनुशयः भवेत्) मन में पश्चात्ताप अनुभव हो (सः) वह (अन्तर्दशाहात्) दश दिन के भीतर (तत् द्रव्यम्) उस यथावत् वस्तु को (दद्यात्) लौटा दे (वा) अथवा (आददीत एव) लौटा ले ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥२२३॥ (१४०)

(तु) परन्तु (दश+अहस्य परेण) दश दिन के बाद (न दद्यात्) न तो वापिस दे (अपि न दापयेत्) और न वापिस ले इस अवधि के बीतने पर (आददानः) यदि कोई वापिस ले (च+एव) या (ददत्) वापिस दे तो (राज्ञा षट्शतानि दण्ड्यः) राजा उस पर छः सौ पण [८।१३६] का जुर्माना करे ॥ २२३ ॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ।
तमनेन विधानेन धर्म्ये पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥ (१४१)

(यस्मिन् यस्मिन् कार्ये कृते) जिस-जिस कार्य के करने पर (यस्य) जिस व्यक्ति को (इह+अनुशयः भवेत्) दिल में पश्चात्ताप अनुभव हो (तम्) उस व्यक्ति को राजा (अनेन विधानेन) इस उक्त [८।२२२—२२७] विधान के अनुसार (धर्म्ये पथि निवेशयेत्) धर्मयुक्त मार्ग पर स्थापित करे ॥ २२८ ॥

(६) नवम विवाद पालक-स्वामी' का निर्णय—(१४२ – १४५)

पशु-स्वामी और ग्वालों का विवाद—

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे।
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥ (१४२)

अब मैं (पशुषु) पशुओं के विषय में (स्वामिनां च पालानां व्यतिक्रमे) पशु-मालिकों और चरवाहों में मतभेद हो जाने पर जो झगड़ा खड़ा हो जाता है (विवादम्) उस विवाद को (धर्मतत्त्वतः) धर्मतत्त्व के अनुसार (यथावत्) ठीक-ठीक (सम्प्रवक्ष्यामि) कहूँगा— ॥ २२९ ॥

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥ २३० ॥ (१४३)

(दिवा पाले वक्तव्यता) [स्वामी द्वारा पशु चरवाहे को सौंप दिये जाने पर] दिन में चरवाहे पर बुराई या दोष आयेगा [यदि पशु कोई नुकसान करता है या पशु का नुकसान होता है तो] (रात्रौ तद्गृहे स्वामिनि) रात को स्वामी के घर में पशुओं को सौंप देने पर स्वामी पर दोष आयेगा (अन्यथा) इसके अतिरिक्त (योगक्षेमे चेत् तु) यदि दिन-रात पूर्णतः पशु-सुरक्षा की जिम्मेदारी चरवाहे पर हो तो उस स्थिति में (पालः वक्तव्यताम्+इयात्) चरवाहा ही बुराई या दोष का भागी माना जायेगा ॥ २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम्।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ॥ २३१ ॥ (१४४)

(यः तु गोपः क्षीरभृतः) जो चरवाहा स्वामी से वेतन न लेकर दूध लेता हो (सः भृत्यः दशतः वराम्) वह नौकर प्रथम दश गायों में जो श्रेष्ठ गाय हो उसका दूध (गोस्वामी+अनुमतेः दुह्यात्) गोस्वामी की अनुमति लेकर दुह लिया करे (अभृते पाले सा भृतिः स्यात्) भरण—पोषण का व्यय न लेने पर यह दूध ही चरवाहे का पारिश्रमिक है ॥ २३१ ॥

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥ (१४५)

(नष्टम्) यदि कोई पशु खो जाये (कृमिभिः विनष्टम्) कीड़ों के पड़ने से मरजाये (श्वहतम्) कुत्ते खा जायें (विषये मृतम्) विपत्ति में फंसकर या ऊंचे-नीचे स्थानों में गिरने से मरजाये (पुरुषकारेण हीनम्) चरवाहे के द्वारा पुरुषार्थ न करने के कारण या उपेक्षा के कारण पशु नष्ट हो जावे तो (पालः एव प्रदद्यात्) चरवाहा ही उस पशु का देनदार है ॥ २३२ ॥

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥२३३॥ (१४६)

(विघुष्य तु चौरैः हृतम्) यदि पशु को जबरदस्ती चोर ले जायें (च) और (यदि देशे च काले स्वामिनः स्वस्य शंसति) यदि चरवाहा देश-काल के अनुसार शीघ्र ही अपनी ओर से स्वामी को इसकी सूचना दे देता है तो (पालः दातुं न अर्हति) चरवाहा उस पशु का देनदार नहीं होता ॥ २३३ ॥

कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् ।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत् ॥२३४॥ (१४७)

(पशुषु मृतेषु) पशुओं के स्वयं मरजाने पर चरवाहा उस पशु के (कर्णौ) दोनों कान (चर्म) चमड़ा (बालान्) पूँछ आदि के बाल (बस्तिम्) मूत्रस्थान (स्नायुम्) नसें (रोचनाम्) चर्बी (अङ्कानि दर्शयेत्) इन चिह्नों को दिखा दे और (स्वामिनां दद्यात्) स्वामी को उसकी लाश सौंप दे ॥ २३४ ॥

अनुशीलन : चिह्नों के परिगणन से अभिप्राय—श्लोक में परिगणित चिह्नों को दिखाने का यह अभिप्राय है कि उन्हें देखकर स्वामी परीक्षण से यह समझले कि पशु स्वाभाविक मौत से मरा है। किसी लालच या बदले की भावना के कारण इसे विष आदि से मारा नहीं गया।

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ।
यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्विषं भवेत् ॥२३५॥(१४८)

(अजा+अविके) बकरी और भेड़ (वृकैः संरुद्धे) भेड़ियों के द्वारा घेर लिए जाने पर (पाले तु अनायति) यदि चरवाहा उन्हें बचाने के लिए यत्न करने न आये तो (यां प्रसह्य वृकः हन्यात्) जिस बकरी या भेड़ को आक्रमण करके जबरदस्ती भेड़िया मार जाये तब (पाले तत् किल्विषं भवेत्) चरवाहे पर उसका दोष होगा अर्थात् वही उसका देनदार होगा ॥ २३५ ॥

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्विषी ॥२३६॥ (१४९)

(तासां चेत्+अवरुद्धानाम्) चरवाहे ने यदि घेरकर बकरियों और भेड़ों को संभाल रखा है और उनके (वने मिथः चरन्तीनाम्) वन में झुण्ड बनाकर चरते समय (याम्+उत्प्लुत्य वृकः हन्यात्) जिस बकरी या भेड़ को एकाएक उछलकर भेड़िया मार जाये तो (तत्र पालः न किल्विषी) वहाँ चरवाहा दोषी नहीं होता अर्थात् देनदार नहीं होता ॥ २३६ ॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः ।
शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥२३७॥ (१५०)

पशुओं के बैठने व घूमने-फिरने के लिए (ग्रामस्य समन्तात्) गांव के चारों ओर (धनुःशतम्) १०० धनुष अर्थात् चार सौ हाथ तक (वा) अथवा (त्रयः शम्यापाताः) तीन बार छड़ी फेंकने से जितनी दूर जाये वहां तक (अपि तु) और (नगरस्य त्रिगुणः) नगर में इससे तीन गुना (परीहारः) भूखण्ड (स्यात्) होना चाहिए ॥ २३७ ॥

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥२३८॥ (१५१)

(तत्र) उस पशुस्थान के पास (यदि अपरिवृतं धान्यं पशवः विहिंस्युः) यदि बिना घेरा या बाड़ बांधे अन्नों को पशु नष्ट कर दें तो (नृपतिः) राजा (तत्र) उस विषय में (पशुरक्षिणां दण्डं न प्रणयेत्) चरवाहों को दण्ड न दे ॥ २३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।
छिद्रं न वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥२३९॥ (१५२)

(तत्र) उस पशुस्थान में (याम्+उष्ट्रः न विलोकयेत्) जिससे ऊंट उसके ऊपर से धान्य को न खा सके इतनी ऊंची (वृतिं कुर्यात्) बाड़ या घेरा बनाये (च) और उसमें (श्व-सूकर-मुख+अनुगम्) कुत्ते तथा सूअरों का मुंह न जा सके ऐसे (सर्वं छिद्रं वारयेत्) सब तरह के छिद्रों को न छोड़े या बन्द कर दे ॥ २३९ ॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।
सपालः शतदण्डार्हो विपालान्वारयेत्पशून् ॥२४०॥ (१५३)

(परिवृते) बाड़ से युक्त (पथि) पशुओं के आवागमन के रास्ते में (क्षेत्रे) खेतों में (अथवा) या (ग्राम+अन्तीये) गांव या नगर के समीप वाले पशुस्थानों से पशुओं द्वारा नुकसान पंहुचाने पर (सपालः शतदण्ड+अर्हः) चरवाहा सौ पण दण्ड का [८ । १३६] भागी है (विपालान् पशून् वारयेत्) किन्तु यदि वे पशु यों ही घूमने वाले अर्थात् बिना पालक के हों तो उन्हें केवल वहां से हटा दे ॥ २४० ॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥२४१॥ (१५४)

(अन्येषु क्षेत्रेषु तु पशुः) उपर्युक्त श्लोक [८।२४०] में वर्णित खेत आदि भिन्न स्थानों में यदि पशु नुकसान करदें तो (सपादं पणम्+अर्हति) सवा पण दण्ड होना चाहिए [चरवाहा या मालिक जिसकी देखरेख में वह नुकसान हुआ है उसको] (सर्वत्र तु) जहां अधिक या पूरा खेत ही नष्ट कर दिया हो तो (क्षेत्रिकस्य सदः देयः) उस खेत वाले को पूरा हर्जाना देना होगा (इति धारणा) ऐसी नियम की व्यवस्था है ॥ २४१ ॥

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥२४४॥ (१५५)

(धार्मिकः पृथिवीपतिः) धार्मिक राजा (स्वामिनां पशूनां च पालानां व्यतिक्रमे) स्वामी, पशु और चरवाहा इनमें कोई मतभेद या झगड़ा उपस्थित हो जाने पर (एतत् विधानम्+आतिष्ठेत्) उपर्युक्त [८।२२९-२४३] विधान के अनुसार निर्णय करे ॥ २४४ ॥

(१०) सीमा-सम्बन्धी विवाद (१५६–१७१) और उसका निर्णय—

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥२४५॥ (१५६)

(द्वयोः ग्रामयोः) दो गांवों या दो समूहों का (सीमां प्रति विवादे समुत्पन्ने) सीमा-सम्बन्धी झगड़ा या मुकद्दमा खड़ा हो जाने पर (ज्येष्ठे मासि) ज्येष्ठ के महीने में (सेतुषु सुप्रकाशेषु) सीमा-चिह्नों के स्पष्ट दीखने के बाद (सीमां नयेत्) सीमा का निर्णय करे [यह समय उन विवादों के लिए है जिनका वर्षा आदि अन्य कालों में निर्णय न हो सके] ॥ २४५ ॥

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥२४६॥ (१५७)
गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।
शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥२४७॥ (१५८)

(च) और सीमा को निश्चित करने के लिए राजा (सीमावृक्षान् कुर्वीत) सीमा को बतलाने के चिह्नरूप वृक्षों को लगवाये—(न्यग्रोध) बड़ (+अश्वत्थ) पीपल (—किंशुकान्) ढाक (शाल्मलीन्) सेमल (साल-तालान्) साल और ताड़वृक्ष (च) और (क्षीरिणः पादपान्) दूध वाले अन्य वृक्षों

को [जैसे—गूलर, पिलखन आदि] (गुल्मान्) झाड़वाले पौधों (विविधान् वेणून्) विविध प्रकार के बांसवृक्ष (शमी-वल्ली-स्थलानि) सेम की बेल तथा अन्य भूमि पर फैलने वाली लताएं (सरान्) सरकंडे या मूंज के झाड़ (च) और (कुब्जकगुल्मान्) मालती पौधे के झाड़ों को लगवाये (तथा सीमा न नश्यति) इस प्रकार करने से सीमा नष्ट नहीं होती—सुरक्षित रहती है ।। २४६—२४७ ।।

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च ।।२४८।। (१५६)

(तडागानि) तालाब (उदपानानि) कूएं (वाप्यः) बावड़ियां (प्रस्र-वाणि) नाले (च) तथा (देवतायतनानि) देवस्थान=यज्ञशालाएं आदि (सीमासन्धिषु कार्याणि) सीमा के मिलने के स्थानों पर बनवाने चाहिएं ।। २४८ ।।

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ।।२४९।। (१६०)

अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्मकपालिकाः ।
करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा बालुकास्तथा ।।२५०।।(१६१)

यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ।
तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ।।२५१।।(१६२)

राजा (लोके) संसार में (सीमाज्ञाने) सीमा के विषय में (नृणाम्) मनुष्यों का (नित्यं विपर्ययं वीक्ष्य) सदैव मतभेद पाया जाता है, इस बात को ध्यान में रखता हुआ (अन्यानि उपच्छन्नानि सीमालिङ्गानि कारयेत्) दूसरे गुप्त सीमाचिह्नों को भी करवा दे; [जैसे—] (अश्मनः) पत्थर (अस्थीनि) हड्डियां (गोवालान्) गौ आदि पशुओं के बाल (तुषान्) तुस= चावलों के छिलके आदि (भस्म) राख (कपालिकाः) खोपड़ियां (करीषम्) सूखा गोबर (+इष्टक) ईंटें (+अंगारान्) कोयले (शर्करा) पत्थर की रोड़ियां=कंकड़ (तथा) तथा (वालुकाः) बालू रेत (च) और (यानि एवं प्रकाराणि) जितने भी इस प्रकार के पदार्थ हैं जिन्हें (कालात् भूमिः न भक्षयेत्) बहुत समय तक भूमि अपने रूप में न मिला सके (तानि) उनको (अप्रकाशानि) गुप्तरूप से अर्थात् जमीन में दबाकर (सीमायां कारयेत्) सीमास्थानों पर रखवादे ।। २४९—२५१ ।।

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।

पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥ (१६३)

(राजा) राजा (विवदमानयोः) सीमा के विषय में लड़ने वालों की (एतैः लिङ्गैः) इन [८। २४६--२५१] चिह्नों से (च) तथा (पूर्वभुक्त्या) पहले जो उसका उपभोग कर रहा हो, इस आधार पर (च) और (सततम्+उदकस्य+आगमेन) निरन्तर जल के प्रवाह के आगमन के आधार पर [कि पानी किस ओर से आता है आदि] (सीमां नयेत्) सीमा का निर्णय करे ॥ २५२ ॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥(१६४)

(यदि लिङ्गानाम्+अपि दर्शने) यदि सीमाचिह्नों के देखने पर भी (संशय एव स्यात्) संदेह रह जाये तो (साक्षीप्रत्यय एव) साक्षियों के प्रमाण से (सीमावाद-विनिर्णयः स्यात्) सीमाविषयक विवाद का निर्णय करे ॥ २५३ ॥

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।
प्रष्टव्याः सीमालिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥२५४॥ (१६५)

राजा (ग्रामीयककुलानां च तयोः विवादिनोः समक्षम्) गाँवों के कुलीन पुरुषों और उन वादी-प्रतिवादियों के सामने (सीम्नि) सीमा-स्थान पर (साक्षिणः) साक्षियों से [८। ६२-६३] (सीमालिङ्गानि प्रष्टव्याः) सीमा-चिह्नों को पूछे ॥ २५४ ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।
निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥२५५॥(१६६)

राजा के द्वारा (पृष्टाः) पूछने पर अर्थात् जांच-पड़ताल करने पर (सीम्नि निश्चयम्) सीमा-निश्चय के विषय में (ते समस्ताः यथा ब्रूयुः) वे सब—साक्षी और गाँव के उपस्थित कुलीन पुरुष जैसे एकमत होकर कहें—स्वीकार कर लें (तथा सीमां निबध्नीयात्) राजा उसी प्रकार सीमा को निर्धारित करदे (च) और (तान् सर्वान् एव नामतः) उन उपस्थित सभी साक्षियों एवं पुरुषों के नामों को भी लिखकर रख ले [जिससे पुनः विवाद उपस्थित होने पर यह ज्ञात हो सके कि किन-किन लोगों के समक्ष या गवाही से यह निर्णय हुआ था] ॥ २५५ ॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥२५६॥ (१६७)

(साक्षी+अभावे) यदि सीमा-विषय में साक्षियों का भी अभाव हो (तु) तो (सामन्तवासिनः चत्वारः ग्रामाः) समीपवर्ती चार गांव के प्रतिष्ठित व्यक्ति (राजसन्निधौ) राजा या न्यायाधीश के सामने (प्रयताः) पक्षपात-रहितभाव से (सीमाविनिर्णयं कुर्युः) सीमा का निर्णय करें अर्थात् सीमा निर्णय के विषय में अपना मत दें ॥ २५८ ॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥ (१६८)

(क्षेत्र-कूप-तडागानाम्+आरामस्य) खेत, कूआं तालाब, बगीचा (च) और (गृहस्य) घर की (सीमा-सेतु-विनिर्णयः) सीमा के चिह्न का निर्णय (सामन्त-प्रत्ययः ज्ञेयः) उस गांव के प्रतिष्ठित-धार्मिक निवासियों की साक्षियों के आधार पर करना चाहिए ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।
सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥२६३॥ (१६९)

(नृणां सेतौ विवदताम्) दो ग्रामवासियों में परस्पर सीमासम्बन्धी विवाद उपस्थित होने पर (सामन्ताः चेत् मृषा ब्रूयुः) गांव के निवासी यदि झूठ या गलत कहें तो (राज्ञा) राजा (पृथक्-पृथक् सर्वे) उनमें से झूठ कहने वाले प्रत्येक को (मध्यमसाहसम् दण्ड्याः) 'मध्यमसाहस' [८ । १३८] का दण्ड दे ॥ २६३ ॥

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥२६४॥ (१७०)

(भीषया) यदि कोई भय दिखाकर (गृहं तडागम्+आरामं वा क्षेत्रं हरन्) घर, तालाब, बगीचा अथवा खेत को लेले, तो राजा उस पर (शतानि पञ्च दण्ड्यः) पाँच सौ पणों का दण्ड करे (अज्ञानात् द्विशतः दमः स्यात्) यदि अनजाने में अधिकार करले तो दो सौ पणों का दण्ड दे और उस अधिकृत वस्तु को भी लौटाये ॥ २६४ ॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥ (१७१)

(सीमायाम्+अविषह्यायाम्) चिह्नों एवं साक्षियों आदि उपर्युक्त [८ । २४५–२६३] उपायों से सीमा के निर्धारित न हो सकने पर (धर्मवित् राजा स्वयम् एव) धर्म का ज्ञाता राजा स्वयं ही (एतेषाम्+उपकारात्)

वादी-प्रतिवादियों के उपकार अर्थात् हितों को ध्यान में रखकर (भूमिं प्रदिशेत्) भूमि-सीमा को निश्चित करदे (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रव्यवस्था है ॥ २६५ ॥

(११) दुष्ट या कटुवाक्य बोलने-सम्बन्धी विवाद [१७२ – १७५] और उसका निर्णय—

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥(१७२)

(एषः) यह [८ । २४५–२६५] (सीमा-विनिर्णये) सीमा के निर्णय करने के विषय में (धर्मः) न्यायविधान (अखिलेन+अभिहितः) पूर्णरूप से कहा ।

(अतः+ऊर्ध्वम्) इसके बाद अब (वाक्-पारुष्य-विनिर्णयम्) कठोर और दुष्टवचन बोलने पर निर्णय (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा—॥ २६६ ॥

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च ।
वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम् ॥२७३॥ (१७३)

कोई मनुष्य किसी मनुष्य के (श्रुतम्) विद्या (देशम्) देश (जातिम्) वर्ण (च शारीरम् एव कर्म) और शरीर-सम्बन्धी कर्म के विषय में (दर्पात्) घमण्ड में आकर (वितथेन ब्रुवन्) झूठी निन्दा अथवा गलत बात से अपमानित करे, उसे (द्विशतं दमं दाप्यः) दो सौ पण दण्ड देना चाहिए ॥ २७३ ॥

काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि यथाविधम् ।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥२७४॥(१७४)

किसी (काणम्) काने को (अपि वा) अथवा (खञ्जम्) लंगड़े को (वा) अथवा (तथाविधम्+अपि) इसी प्रकार के अन्य विकलांगों को (तथ्येन+अपि ब्रुवन्) वास्तव में वैसा होते हुए भी किसी को काना, लंगड़ा आदि कहने पर (कार्षापणावरं दण्डं दाप्यः) कम से कम एक कार्षापण दण्ड करना चाहिए ॥ २७४ ॥

अनुशीलन : अन्यत्र विधान से पुष्टि —मनु ने ४ । १४१ में विकलांग व्यक्तियों को कटुवचन या आक्षेपयुक्त वचन कहने का स्पष्टतः निषेध किया है । यहां उस विधान के विपरीत आचरण करने वालों के लिए दण्ड का विधान है ।

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः ॥२७५॥ (१७५)

(मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्) माता, पिता, पत्नी, भाई, बेटा, गुरु इनको (आक्षारयन्) दोष लगाकर निन्दा करने पर (च) और (गुरोः) गुरु को (पन्थानम्+अददत्) रास्ता न देने पर (शतं दाप्यः) सौ पण दंड होना चाहिए ॥ २७५ ॥

अनुशीलन : अन्यत्र विधान से पुष्टि—मनु ने ४ । १७९–१८० में इन व्यक्तियों से किसी प्रकार का विवाद, लड़ाई-झगड़ा न करने का विधान किया है। उस विधान को भंग करके कटुवचन या आक्षेपयुक्त वचन कहने पर यह दण्ड-विधान है।

(१२) दण्ड से घायल करने या मारने सम्बन्धी विवाद [१७६–१७९] और उसका निर्णय—

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥२७८॥ (१७६)

(एषः) यह [८।२६७—२७७] (तत्त्वतः) ठीक-ठीक (वाक्पारुष्यस्य) कठोर वचन या दुष्ट वचन बोलने का (दण्डविधिः) दण्डविधान (प्रोक्तः) कहा (अतः+ऊर्ध्वम्) इसके पश्चात् अब (दण्डपारुष्यनिर्णयम्) कठोर दंड से घायल करना या मारना अथवा डंडे से कठोरतापूर्वक मारपीट करने पर निर्णय को (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा ॥ २७८ ॥

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ।
यथा यथा महद् दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥२८६॥ (१७७)

(मनुष्याणां च पशूनाम्) मनुष्यों और पशुओं पर (दुःखाय प्रहृते सति) दुःख देने के लिए दण्ड से प्रहार करने पर (यथा यथा महत् दुःखम्) जैसा-जैसा अधिक कष्ट हो (तथा तथा दण्डं कुर्यात्) उसी के अनुसार अधिक-कम दण्ड करे ॥ २८६ ॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥२८७॥ (१७८)

(अंग+अवपीडनायाम्) किसी अंग के टूटने, कटने आदि पर (तथा) और (व्रण+शोणितयोः) घाव करने तथा रक्त बहाने पर (समुत्थानव्ययं दाप्यः) जब तक रोगी पहले जैसी अवस्था के रूप में ठीक न हो जाय तब

तक सम्पूर्ण औषध आदि का व्यय मारने वाले से दिलवाये (अथापि वा) और साथ ही (सर्वदण्डम्) उसे पूर्ण दण्ड भी दे ॥ २८७ ॥

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥२८८॥ (१७९)

(यः) जो कोई (यस्य) जिस किसी के (ज्ञानतः अपि वा अज्ञानतः) जानकर अथवा अनजाने में (द्रव्याणि हिंस्यात्) वस्तुओं को नष्ट कर दे तो (सः) वह अपराधी (तस्य तुष्टिम्+उत्पादयेत्) उसके मालिक को वस्तु या धन आदि देकर संतुष्ट करे (च) तथा (तत् समम् राज्ञे दद्यात्) उसके बराबर दण्ड रूप में राजा को भी दे ॥ २८८ ॥

(१३) चोरी का विवाद (१८० –२०६) और उसका निर्णय

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः ।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥ (१८०)

(एषः) यह [८ । २७९–३००] (दण्डपारुष्यनिर्णयः) दण्डे से कठोर मारपीट का निर्णय (अखिलेन+अभिहितः) पूर्णरूप से कहा ।

(अतः) इसके पश्चात् अब (स्तेनस्य दण्डविनिर्णये) चोर के दण्ड का निर्णय करने की (विधिं प्रवक्ष्यामि) विधि कहूंगा— ॥ ३०१ ॥

चोरों के निग्रह से राष्ट्र की वृद्धि—

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥ (१८१)

(नृपः) राजा (स्तेनानां निग्रहे) चोरों को रोकने के लिए (परमं यत्नम्+आतिष्ठेत्) अधिक से अधिक यत्न करे, क्योंकि (स्तेनानां निग्रहात्) चोरों पर नियन्त्रण होने से (अस्य) इस राजा के (यशः च राष्ट्रं वर्धते) यश और राष्ट्र की वृद्धि होती है ॥ ३०२ ॥

चोरों से प्रजा की रक्षा श्रेष्ठ कर्त्तव्य है—

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।
सत्रं हि वर्धते तस्य सर्वदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥ (१८२)

(यः नृपः अभयस्य हि दाता) जो राजा प्रजाओं को अभय प्रदान करने वाला होता है अर्थात् जिस राजा के राज्य में प्रजाओं को चोर आदि से किसी प्रकार का भय नहीं होता (सः सततं पूज्यः) वह सदैव पूजित होता है —प्रजाओं की ओर से उसे सदा आदर मिलता है, और (तस्य) उसका (अभयदक्षिणं सत्रं हि) अभय की दक्षिणा देने वाला यज्ञ-रूपी राज्य (सदैव वर्धते) सदा बढ़ता जाता है ॥ ३०३ ॥

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥ (१८३)

(धर्मेण भूतानि रक्षन्) धर्मपूर्वक=न्याय पूर्वक प्रजाओं की रक्षा करता हुआ (च) और (वध्यान् घातयन्) दण्डनीय या वध के योग्य लोगों को दण्ड या वध करता हुआ (राजा) राजा (अहः+अहः सहस्र-शत-दक्षिणैः यज्ञैः यजते) यह समझो कि प्रतिदिन हजारों-सैंकड़ों दक्षिणाओं से युक्त यज्ञों को करता है अर्थात् इतने बड़े यज्ञों जैसा पुण्यकार्य करता है ॥ ३०६ ॥

प्रजा की रक्षा किये विना कर लेनेवाला राजा पापी होता है—

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
प्रतिभागं च दण्डं च सः सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥ (१८४)

(यः पार्थिवः) जो राजा (अरक्षन्) प्रजाओं की बिना रक्षा किये उनमें (बलिम्) छठा भाग अन्नादि (करम्) टैक्स (शुल्कम्) महसूल (प्रतिभागम्) चुंगी (च) और (दण्डम्) जुर्माना (आदत्ते) ग्रहण करता है (सः सद्यः नरकं व्रजेत्) वह शीघ्र ही दुःख को प्राप्त होता है अर्थात् प्रजाओं का ध्यान न रखने के कारण उनके असहयोग से किसी-न-किसी कष्ट से आक्रान्त हो जाता है ॥ ३०७ ॥

अनुशीलन : अन्न के छठे भाग को 'बलि' कहते हैं, प्रतिमास, छठे मास या वार्षिक रूप में लिया जाने वाला टैक्स 'कर', व्यापारियों से लिया जाने वाला महसूल 'शुल्क', फल, शाक आदि पर लिया जाने वाला शुल्क 'प्रतिभाग' तथा अपराध में किया जाने वाला जुर्माना 'दण्ड' कहलाता है।

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥ (१८५)

(अरक्षितारम्) प्रजाओं की रक्षा न करने वाले और (बलिषड्भाग-हारिणम्) 'बलि' के रूप में छठा भाग ग्रहण करने वाले (तं राजानम्) ऐसे

राजा को (सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्+आहुः) सब प्रजाओं की सारी बुराइयों को ग्रहण करने वाला कहा है अर्थात् सभी प्रजाएँ ऐसे राजा की सभी प्रकार से बुराइयां करती हैं ॥ ३०८ ॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥ (१८६)

(अनपेक्षितमर्यादम्) शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार न चलने वाले (नास्तिकम्) वेद और ईश्वर में अविश्वास करने वाले (विप्रलुम्भकम्) लोभ आदि के वशीभूत (अरक्षितारम्) प्रजाओं की रक्षा न करने वाले, और (अत्तारम्) कर आदि का धन प्रजाओं के हित में न लगाकर स्वयं खा जाने वाले (नृपम्) राजा को (अधोगतिं विद्यात्) नीच समझना चाहिए अथवा यह समझना चाहिए कि उसकी शीघ्र ही अवनति या पतन हो जायेगा ॥ ३०९ ॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥३१०॥ (१८७)

इसलिए राजा (निरोधनेन) निरोध=कैद में बंद करना (बन्धेन) बन्धन=हथकड़ी, बेड़ी आदि लगाना (च) और (विविधेन वधेन) विविध प्रकार के वध=ताड़ना, अंगच्छेदन, मारना आदि (त्रिभिः न्यायैः) इन तीन प्रकार के उपायों से (प्रयत्नतः) यत्नपूर्वक (अधार्मिकं निगृह्णीयात्) चोर आदि दुष्ट अपराधी को वश में करे ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥३११॥ (१८८)

(हि) क्योंकि (पापानां निग्रहेण) पापी=दुष्टों को वश में करने और दण्ड देने से (च) तथा (साधूनां संग्रहेण) श्रेष्ठ लोगों की सुरक्षा करने से (नृपाः) राजा लोग (द्विजातयः+इव+इज्याभिः सततं पूयन्ते) जैसे द्विजवर्ण वाले व्यक्ति यज्ञों से पवित्र होते हैं ऐसे ही पवित्र अर्थात् पुण्यवान् और निर्मल यशस्वी होते हैं ॥ ३११ ॥

चोर की स्वयं प्रायश्चित्त की विधि—

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता ।
आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥३१४॥ (१८९)

[यदि चोर चोरी करने के बाद स्वयं उस अपराध को अनुभव कर लेता है तो उसके प्रायश्चित्त और उससे मुक्ति के लिए] (स्तेनेन) चोर को

चाहिए कि वह (मुक्तकेशेन धावता) बाल खोलकर दौड़ता हुआ (तत् स्तेयम्+आचक्षाणेन) उसने जो चोरी की है उसको कहता हुआ 'कि मैंने अमुक चोरी की है, अमुक चोरी की है,' आदि (राजा गन्तव्यः) राजा के पास जाना चाहिए, और कहे कि (एवंकर्मा+अस्मि) 'मैंने ऐसा चोरी का काम किया है' 'मैं अपराधी हूं (मां शाधि) मुझे सजा दीजिए ।। ३१४ ।।

अनुशीलन : प्रतीत होता है कि यह उस समय की स्वयं प्रायश्चित्त करने की परम्परा थी। चोर चोरी करने के पश्चात् यदि स्वयं यह अनुभव करता है कि मैंने यह बुरा कार्य किया है और पकड़े जाने से पूर्व स्वयं ही उसका प्रायश्चित्त करना चाहता है तो उसका यह तरीका है। सार्वजनिक रूप से अपने आपको चोर कहने पर और अपने आपको चोर के रूप में सबके तथा राजा के सामने प्रदर्शित करने पर बहुत बड़ा प्रायश्चित्त हो जाता है। स्वयं इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति द्वारा पुनः अपराध करने की संभावना नहीं रहती। और लोग भी यह मान लेते हैं कि जब इसने स्वयं ही सार्वजनिक रूप से अपने आपको चोर घोषित करके अपने अपराध को स्वीकार कर लिया है और प्रायश्चित्त कर रहा तो इसे और दण्ड देने की आवश्यकता नहीं। इस श्लोक से तथा ८। ३१६ से यह ध्वनित होता है कि स्वयं इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति को राजा को क्षमा कर देना चाहिए। इस सबके बाद वह व्यक्ति दोषमुक्त मान लिया जाता है।

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वाऽपि खादिरम् ।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ।। ३१५ ।। (१९०)

(स्कन्धेन मुसलम् अपि वा खादिरं लगुडम्) चोर को कन्धे पर मुसल अथवा खैर का दंड, (उभयतः तीक्ष्णां शक्तिम्) दोनों ओर से तेज धारवाली बरछी (वा) अथवा (आयसं दण्डम् एव) लोहे का दण्ड ही रखकर [राजा के पास जाना चाहिए और कहे कि 'मैं चोर हूं, मुझे दण्ड दीजिए'] ।। ३१५ ।।

अनुशीलन : इस श्लोक का पूर्व श्लोक के साथ सम्बन्ध है। ऊपर के श्लोक में दी हुई व्यवस्था के साथ इस श्लोक में कहे हुए विकल्पों में से चुनकर किसी एक व्यवस्था के अनुसार चोर को प्रायश्चित्त करना है।

दोषी को दण्ड न देने से राजा पापभागी होता है—

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ।।३१६।। (१९१)

(शासनात्) सजा पाकर (वा) या (विमोक्षात्) [स्वयं प्रायश्चित्त

करने के बाद] राजा के द्वारा क्षमा कर दिये जाने पर (स्तेनः) चोर (स्तेयात् विमुच्यते) चोरी के अपराध से मुक्त हो जाता है (तम् अशासित्वा तु) चोर को दण्ड न देने पर (राजा स्तेनस्य किल्विषम् आप्नोति) राजा को चोर की निन्दा=बुराई मिलती है अर्थात् फिर प्रजाएं उस चोर के स्थान पर राजा को अधिक दोष देती हैं ॥ ३१६ ॥

अनुशीलन : (१) **रामायण में उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक**—यह श्लोक तथा ८। ३१८ वां श्लोक, दोनों कुछ पाठान्तर से वाल्मीकि रामायण में उद्धृत मिलते हैं। बालि का वध करने पर बालि राम पर अधर्मपूर्वक वध करने का आक्षेप लगाता है। राम बालि के आक्षेपों का उत्तर देते हुए अपने आचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनु के निम्न श्लोकों को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं।

यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन श्लोकों के उद्धरण से मनुस्मृति का रचना-काल रामायण से पूर्व सिद्ध होता है। रामायण से पूर्व मनुस्मृति श्लोकबद्ध रूप में थी, यह रामायण में पठित 'श्लोकौ' शब्दों से ज्ञात होता है—"**श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चरित्रवत्सलौ। गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया॥**" (किष्कि० १८। ३०)। उद्धृत श्लोक निम्न प्रकार हैं—

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥
शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्विषम्॥ (किष्कि० १८।३१-३२)

(२) मनुस्मृति में 'किल्विषम्' 'दुष्कृतम्' 'एनः' 'पापम्' 'अधर्म' आदि शब्द स्थान-स्थान पर आते हैं। वहां इनसे ऐसे 'पाप' का अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए जो किसी दूसरे के किये का दूसरे को लग जाये। जहां-जहां ८। १३, १३५, १९८, ८। ३१६—३१७ आदि श्लोकों में इस शैली में वाक्यप्रयोग है या इस शब्द का प्रयोग है, वहां इसका अर्थ 'निन्दा' 'दोष' 'अधर्म' या 'बुराई' है। निरुक्तकार ने इसी अर्थ को व्युत्पत्ति से पुष्ट किया है—"**किल्बिषम्=किल्भिदम्, कीर्त्तिमस्य भिनत्तीति।** अर्थात् जो कीर्त्ति का नाश करे वह 'किल्विष'=बदनामी, बुराई या दोष है। '**किल श्वैत्ये**' धातु से '**किलेर्बुक् च**' (उणादि० १। ५०) सूत्र से 'टिषच्' प्रत्यय के योग से 'किल्विष' शब्द सिद्ध होता है। अन्य स्थानों पर इसके पर्यायवाची रूप में भी ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो उपर्युक्त अर्थों को पुष्ट करते हैं, जैसे—'मलहारकम्' [८। ३०८], एनस्' [२।२; ८। १९], 'अधर्मः' [८। १८] आदि। ८। १९ में 'एनः' शब्द निन्दा अर्थ में प्रयुक्त है।

पापियों के संग से पाप—

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी।

गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्विषम् ॥३१७॥ (१६२)

(भ्रूणहा अन्नादे मार्ष्टि) भ्रूणहत्या करने वाला उसके यहां भोजन करने वाले को भी निन्दा का पात्र बना देता है अर्थात् जैसे भ्रूणहत्यारे को बुराई मिलती है वैसे ही उसके यहां अन्न खाने वाले को भी उसके कारण बुराई मिलती है (अपचारिणी भार्या पत्यौ) व्यभिचारी स्त्री की बुराई उसके पति को मिलती है (शिष्य: गुरौ) बुरे शिष्य की बुराई उसके गुरु को मिलती है (च) और (याज्य:) यजमान की बुराई उसके यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् गुरु को मिलती है (स्तेन: किल्विषं राजनि) इसी प्रकार दण्ड न देने पर चोर की बुराई=निन्दा राजा को मिलती है ॥ ३१७ ॥

राजाओं से दण्ड प्राप्त करके निर्दोषता—

राजभि: कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवा: ।
निर्मला: स्वर्गमायान्ति सन्त: सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥ (१६३)

(मानवा: पापानि कृत्वा) मनुष्य पाप=अपराध करके (राजभि: कृतदण्डा: तु) पुन: राजाओं से दण्डित होकर अर्थात् राजा द्वारा दिये गये दण्डरूप प्रायश्चित्त को करके (निर्मला:) पवित्र=दोषमुक्त होकर (स्वर्गम्+आयान्ति) सुख को प्राप्त करते हैं (यथा सुकृतिन: सन्त:) जैसे अच्छे कर्म करने वाले श्रेष्ठ लोग सुखी रहते हैं अभिप्राय यह है कि प्रायश्चित्त करने पर उस पापरूप अपराध के संस्कार क्षीण हो जाते हैं और दोषी होने की भावना नहीं रहती, उससे तथा पुन: श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्ति होने से मनुष्य सन्तों की तरह मानसिक शान्ति-सुख को प्राप्त करते हैं ॥ ३१८ ॥

अनुशीलन : स्वर्ग शब्द का अर्थ 'सुख' है। द्रष्टव्य ६।७९ पर अनुशीलन।

विभिन्न चोरियों की दण्डव्यवस्था—

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च या प्रपाम् ।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥३१९॥ (१६४)

(य: तु) जो व्यक्ति (कूपात्) कूए से (रज्जुं घटं हरेत्) रस्सी या घड़ा चुरा ले (च) और (य:) जो (प्रपां भिद्यात्) प्याऊ को तोड़े (स:) वह (माषं दण्डं प्राप्नुयात्) एक सोने का 'माषा' दण्ड का भागी होगा (च) तथा (तत् तस्मिन् समाहरेत्) वह सब सामान वहां लाकर दे ॥ ३१९ ॥

धान्यं दशभ्य: कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वध: ।

शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२० ॥ (१९५)

(दशभ्यः कुम्भेभ्यः अधिकं धान्यं हरतः) दश कुम्भ=बड़े घड़ों से अधिक धान्य=अन्नादि चुराने पर (वधः) चोर को शारीरिक दण्ड मिलना चाहिए (शेषे तु) दश कुम्भ तक धान्य चुराने पर (एकादशगुण दाप्यः) ग्यारह गुना जुर्माना करना चाहिए (तस्य तत् धनं च) और उस व्यक्ति का वह धन वापिस दिलवा दे ॥ ३२० ॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥ (१९६)

(तथा) इसी प्रकार (धरिममेयानाम्) धरिम=काँटे से, मेय=तोले जाने वाले (सुवर्ण-रजत+आदीनाम्) सोना, चाँदी आदि पदार्थों के १०० पल से अधिक चुराने पर (च) और (उत्तमानां वाससाम्) उत्तम कोटि के कपड़े (शतात्+अभ्यधिके) सौ से अधिक चुराने पर (वधः) शारीरिक दण्ड से दण्डित करे ॥ ३२१ ॥

पंचाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥ (१९७)

(पंचाशतः तु+अभ्यधिके) [उपर्युक्त ८ । ३२१ वस्तुओं के] पचास से अधिक सौ तक चुराने पर (हस्तच्छेदनम्+इष्यते) हाथ काटने का दण्ड देना चाहिए (शेषे तु) पचास से कम चुराने पर राजा (मूल्यात् एकादशगुणं दण्डं प्रकल्पयेत्) मूल्य से ग्यारह गुना दण्ड करे और वह वस्तु वापिस दिलवाये ॥ ३२२ ॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः ।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥(१९८)

(कुलीनानां पुरुषाणाम्) कुलीन पुरुषों (च) और (विशेषतः नारीणाम्) विशेषरूप से स्त्रियों का (हरणे) अपहरण करने पर (च) तथा (मुख्यानाम् एव रत्नानाम्) मुख्य हीरे आदि रत्नों की चोरी करने पर (वधम्+अर्हति) शारीरिक दण्ड [ताड़ना से प्राणवध तक देना] चाहिए ॥ ३२३ ॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥३२४॥ (१९९)

(महापशूनाम्) हाथी, घोड़े आदि बड़े पशुओं के (शस्त्राणाम्) शस्त्रास्त्रों के (च) और (औषधस्य) औषधियों के (हरण) चुराने पर

(कालं च कार्यम् आसाद्य) समय (=परिस्थिति) और चोरी के कार्य की गम्भीरता को देखकर (राजा दण्डं प्रकल्पयेत्) राजा चोर को दण्ड दे॥३२४॥

साहस और चोरी का लक्षण—

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥ (२००)

(अन्वयवत्) वस्तु के स्वामी के सामने (प्रसभं यत् कर्म कृतम्) बलात्कारपूर्वक जो चोरी, डाका, बलात्कार आदि कर्म किया जाता है ('साहसम्' स्यात्) वह साहस=डाका डालना या बलात्कार कार्य कहलाता है (निरन्वयम) स्वामी के पीछे से छुपाकर किसी वस्तु को लेना (च) और (यत् हृत्वा+अपव्ययते) जो किसी वस्तु को [सामने या परोक्ष में] लेकर मुकरना या चुराकर भाग जाना है (स्तेयं भवेत्) वह 'चोरी' कहलाती है ॥ ३३२ ॥

अनुशीलन : साहस और चोरी का लक्षण—कौटिल्य ने मनु के शब्दों को ग्रहण करके अपने अर्थशास्त्र में साहस और चोरी का लक्षण किया है—

"साहसम् अन्वयवत् प्रसभकर्म। निरन्वये स्तेयम् अपव्ययने च।"
[प्र० ७४। अ० १७]

डाकू, चोरों के अंगों का छेदन—

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥ (२०१)

(स्तेनः) चोर (यथा) जिस प्रकार (येन येन+अङ्गेन) जिस-जिस अङ्ग से (नृषु) मनुष्यों में (विचेष्टते) विरुद्ध चेष्टा करता है (अस्य तत्-तत्+एव) उस-उस अंग को (प्रत्यादेशाय) सब मनुष्यों को शिक्षा के लिए (पार्थिवः हरेत्) राजा हरण अर्थात् छेदन करदे ॥ ३३४ ॥
(स० प्र० १७२)

माता-पिता, आचार्य आदि सभी राजा द्वारा दण्डनीय हैं—

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥३३५॥ (२०२)

(पिता आचार्यः सुहृत् माता भार्या पुत्रः पुरोहितः) चाहे पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो (यः स्वधर्मे न तिष्ठति) जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता (राज्ञः अदण्ड्यः नाम न) वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता अर्थात् [illegible]

तब किसी का पक्षपात न करे किन्तु यथोचित दण्ड देवे ॥ ३३५ ॥
(स० प्र० १७)

अपराध करने पर राजा को साधारण जन से सहस्रगुणा दण्ड हो—

कार्षापणं भवेद्दण्डयो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्डयः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥ (२०३)

(यत्र) जिस अपराध में (अन्यः प्राकृतः जनः) साधारण मनुष्य पर (कार्षापणं दण्डयः भवेत्) एक पैसा दण्ड हो (तत्र) उसी अपराध में (राजा सहस्रं दण्डयः भवेत्) राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्रगुणा दण्ड होना चाहिए※ ।

मंत्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात सौ गुणा, और उससे भी न्यून को छः सौ गुणा, इसी प्रकार उत्तर-उत्तर अर्थात् जो एक छोटे से छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है उसको आठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिए। क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें; जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में आ जाती है, इसलिए राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्यपर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए ॥ ३३६ ॥ (स० प्र० १७२)

※ (इति धारणा) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है ।

उच्चवर्ण के व्यक्तियों को अधिक दण्ड दे—

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥ (२०४)

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥३३८॥ (२०५)

वैसे ही (तत् दोषगुणवित् हि सः) जो कुछ विवेकी होकर (स्तेये) चोरी करे (शूद्रस्य तु अष्टापाद्यम्) उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा (वैश्यस्य तु षोडश+एव) वैश्य को सोलह गुणा (क्षत्रियस्य द्वात्रिंशत्) क्षत्रिय को बत्तीस गुणा (ब्राह्मणस्य चतुः षष्टिः) ब्राह्मण को चौंसठ गुणा (अपि वा शतम्) वा सौ गुणा (वा) अथवा (द्विगुणा चतुः षष्टिः) एक सौ अट्ठाईस गुणा (किल्विषं भवति) दण्ड होना चाहिए अर्थात् जिसका जितना ज्ञान

और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिए ॥ ३३७–३३८ ॥ (स० प्र० १७३)

अनुशीलन : उच्चवर्णानुसार उच्चदण्ड—उच्चवर्णानुसार उच्चदण्ड की व्यवस्था कौटिल्य तक यथावत् प्रचलित रही है। कौटिल्य ने भी अन्य वर्णों की तुलना में अपराध करने पर ब्राह्मण को अधिक दण्ड देने का विधान किया है—

"ब्राह्मणतश्चैषां ज्यैष्ठ्यं नियम्येत।" [प्र० ६६। अ० १०]

=मारना आदि अपराधों में यदि कोई ब्राह्मण सम्मिलित हो तो उसे अन्य वर्णस्थ जनों की अपेक्षा अधिक दण्डित किया जाये।

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम्।
यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥(२०६)

(राजा) राजा (अनेन विधिना) इस उपर्युक्त [८। ३०२–३४२] विधि से (स्तेननिग्रहं कुर्वाणः) चोरों को नियन्त्रित एवं दण्डित करता हुआ (अस्मिन् लोके यशः) इस जन्म में या लोक में यश को (च) और (प्रेत्य) परजन्म में (अनुत्तमं सुखम्) अच्छे सुख को (प्राप्नुयात्) प्राप्त करता है ॥ ३४३ ॥

(१४) साहस=डाका, हत्या आदि बलात्कारपूर्वक किये गये अपराधों का निर्णय—[२०७—२१२]

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥ (२०७)

(ऐन्द्रं स्थानम्) राज्य के अधिकारी धर्म (च) और ❀ (यशः) ऐश्वर्य की (अभिप्रेप्सुः) इच्छा करने वाला (राजा) राजा (साहसिकं नरम्) बलात्कार काम करने वाले डाकुओं को (क्षणम्+अपि न+उपेक्षेत) दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करे ॥ ३४४ ॥ (स० प्र० १७३)

❀ (अक्षयम्+अव्ययम्) न नष्ट होने वाले तथा न कम होने वाले.........

साहसी व्यक्ति चोर से अधिक पापी—

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥३४५॥(२०८)

(वाग्दुष्टात्) दुष्ट वचन बोलने (तस्करात्) चोरी करने (दण्डेन एव हिंसतः) बिना अपराध से दण्ड देने

वाले से भी (साहसस्य कर्त्ता नरः) साहस, बलात्कार काम करने वाला है (पापकृत्तमः विज्ञेयः) वह अतीव पापी, दुष्ट है ॥ ३४५ ॥ (स० प्र० १७३)

डाकू को दण्ड न देने वाला राजा विनाश को प्राप्त करता है—

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥३४६॥ (२०९)

(यः पार्थिवः) जो राजा (साहसे वर्तमानं तु मर्षयति) साहस में वर्तमान पुरुष को न दण्ड देकर सहन करता है (सः आशु विनाशं व्रजति) वह राजा शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है (च) और (विद्वेषम्+अधिगच्छति) राज्य में द्वेष उठता है ॥ ३४६ ॥ (स० प्र० १७३)

मित्र या धन के कारण साहसी को क्षमा न करे—

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥३४७॥(२१०)

(न मित्रकारणात् वा विपुलात् धन+आगमात्) न मित्रता, न पुष्कल धन की प्राप्ति से भी (राजा) राजा (सर्वभूतभय+आवहान् साहसिकान्) सब प्राणियों को दुःख देने वाले साहसिक मनुष्य को (समुत्सृजेत्) बंधन-छेदन किये बिना कभी न छोड़े ॥ ३४७ ॥ (स० प्र० १७३)

आततायी को मारने में अपराध नहीं—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥३५०॥ (२११)

(गुरुं वा बाल-वृद्धौ वा) चाहे गुरु हो, चाहे पुत्र आदिक बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध (ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्) चाहे ब्राह्मण और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो (आततायिनम्+आयान्तम्) जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्तमान, दूसरे को बिना अपराध मारने वाले हैं (अविचारयन्+एव हन्यात्) उनको बिना विचारे मार डालना अर्थात् मारके पश्चात् विचार करना चाहिए ॥ ३५० ॥ (स० प्र० १७३)

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥३५१॥ (२१२)

(आततायिवधे) दुष्ट-पुरुषों के मारने में (हन्तुः कश्चनः दोषः न भवति) हन्ता को पाप नहीं होता (प्रकाशं वा+अप्रकाशम्) चाहे प्रसिद्ध [=सबके सामने] मारे चाहे अप्रसिद्ध [=एकान्त में] (मन्युः तं मन्युं

ऋच्छति) क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है ॥ ३५१ ॥ (स० प्र० १७३)

[१५] स्त्री-संग्रहणसम्बन्धी विवाद [२१३-२२०] तथा उसका निर्णय—

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः ।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥३५२॥ (२१३)

(परदारा+अभिमर्शेषु प्रवृत्तान् नॄन्) [बलात्कार अथवा सहमति-पूर्वक] परस्त्रियों से व्यभिचार करने में संलग्न पुरुषों को (महीपतिः) राजा (उद्वेजनकरैः दण्डैः छिन्नयित्वा) व्याकुलता पैदा करने वाले [नाक, कान, हाथ आदि काटना, दागना आदि] दण्डों से अङ्ग-भंग करके (प्रवासयेत्) देश से निकाल दे ॥ ३५२ ॥

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः ।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥३५४॥ (२१४)

(पूर्वं दोषैः आक्षारितः पुरुषः) जो व्यक्ति पहले परस्त्री-गमन-सम्बन्धी दोषों में अपराधी सिद्ध हो चुका है (रहः परस्य पत्न्या संभाषां योजयन्) यदि वह एकान्त स्थान में पराई स्त्री के साथ कामुक बातचीत की योजना में लगा मिले तो (पूर्वसाहसं प्राप्नुयात्) उसको 'पूर्वसाहस' [८ । १३८] का दण्ड देना चाहिए ॥ ३५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात् किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥३५५॥ (२१५)

(यः तु पूर्वम्+अनाक्षारितः) किन्तु जो पहले ऐसे किसी अपराध में अपराधी सिद्ध नहीं हुआ है, यदि वह (कारणात् अभिभाषेत) किसी उचित कारणवश बातचीत करे तो (किंचित् दोषं न प्राप्नुयात्) किसी दोष का भागी नहीं होता (हि) क्योंकि (तस्य न व्यतिक्रमः) वह कोई मर्यादा-भंग नहीं करता ॥ ३५५ ॥

स्त्रीसंग्रहण की परिभाषा—

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।
सहखट्वासनम् चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥३५७॥ (२१६)

विषयगमन के लिए (उपचारक्रिया) एक-दूसरे को आकर्षित करने के लिए माला, सुगन्ध आदि शृंगारिक वस्तुओं का आदान-प्रदान करना

(केलिः) विलासक्रीड़ाएं=छेड़खानी आदि (भूषणवाससां स्पर्शः) आभूषण और कपड़ों आदि का स्पर्श [शरीर-स्पर्श तो इसमें स्वतः ही परिगणित हो जाता है] (च) और (सह खट्वा+आसनम्) साथ मिलकर अर्थात् सट-कर खाट आदि पर बैठना और साथ सोना, सहवास करना (सर्वं संग्रहणं स्मृतम्) ये सब बातें 'संग्रहण'=विषयगमन में मानी गयी हैं ॥ ३५७ ॥

दम्भपूर्वक व्यभिचार में प्रवृत्त होने पर स्त्री को दण्ड—

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥ (२१७)

(या तु स्त्री) जो स्त्री (ज्ञाति-गुण-दर्पिता) अपनी जाति, गुण के घमण्ड से (भर्तारं लङ्घयेत्) पति को छोड़ व्यभिचार करे (ताम्) उसको (बहुसंस्थिते संस्थाने श्वभिः राजा खादयेत्) बहुत स्त्री और पुरुषों के सामने जीती हुई कुत्तों से राजा कटवाकर मरवाडाले ॥ ३७१ ॥ (स० प्र० १७४)

दम्भपूर्वक व्यभिचार में प्रवृत्त होने वाले पुरुष को दण्ड—

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥ (२१८)

(पापं पुमांसम्) उसी प्रकार अपनी स्त्री को छोड़के परस्त्री या वेश्यागमन करे उस पापी को (आयसे तप्त शयने) लोहे के पलंग को अग्नि से तपा लाल कर उस पर सुलाके * जीते को (तत्र पापकृत् दह्येत) बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म करदेवे ॥ ३७२ ॥ (स० प्र० १७४)

* (काष्ठानि अभ्यादध्युः) लोग उस पर लकड़ियां रख दें (च) और……

अनुशीलन : (१) ३७१—३७२ श्लोक 'प्रसंगविरोध' के आधार पर प्रक्षेपान्तर्गत इसलिए नहीं कहला सकते क्योंकि इनमें 'स्त्रीसंग्रहण' से सम्बन्धित विशेष स्थितियों की विशेष दण्ड-व्यवस्था है। अपने रूपसौन्दर्य एवं उच्चता के आधार पर अपने जीवनसंगी का तिरस्कार करते हुए दम्भपूर्वक जब कोई स्त्री या पुरुष पर-पुरुष-गमन या परस्त्रीगमन करे तो उनके लिये यह दण्डव्यवस्था है।

(२) यह दण्डव्यवस्था अत्यन्त कठोर है। वह इसलिये कि दंभी व्यक्ति अपने दंभ में आकर बलात् सभी मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है और अपने हठ पर अडिग रहता है। ऐसे व्यक्ति व्यवस्थाओं को बड़ी लापरवाही से भङ्ग करते हैं और अन्य सम्बद्ध व्यक्तियों का तिरस्कार करते हैं, अतः इनके लिए यह सार्वजनिक रूप से कठोर दण्ड-व्यवस्था विहित की है। महर्षि दयानन्द ने इस सम्बन्ध में स० प्र० में प्रश्नोत्तर रूप में प्रकाश डाला है, जो विवेचन की दृष्टि से उद्धरणीय है—

"(प्रश्न) जो राजा वा रानी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे तो उसको कौन दण्ड देवे ?

(उत्तर) सभा, अर्थात् उनको तो प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिये।

(प्रश्न) राजादि उन से दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे ?

(उत्तर) राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। जब उसी को दण्ड न दिया जाय और वह ग्रहण न करे तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे ? और जब सब प्रजा और प्रधान-राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें तो अकेला राजा क्या कर सकता है ? जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्याय-धर्म को डुबाके सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जायें, अर्थात् उस श्लोक के अर्थ का स्मरण करो कि न्याययुक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है जो उसका लोप करता है उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा ?

(प्रश्न) यह कड़ा दण्ड होना उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य किसी अङ्ग का बनाने हारा वा जिलानेवाला नहीं है, ऐसा दण्ड नहीं देना चाहिए।

(उत्तर) जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं वे राजनीति को नहीं समझते, क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़कर धर्ममार्ग में स्थित रहेंगे। सच पूछो तो यही है कि एक राई भर भी यह दण्ड सब के भाग में न आवेगा। और जो सुगम दण्ड दिया जाय तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगें। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो वह क्रोड़ों गुणा अधिक होने से क्रोड़ों गुणा कठिन होता है क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी देना पड़ेगा अर्थात् जैसे एक को मनभर दण्ड हुआ और दूसरे को पाव भर तो पाव भर अधिक एक मन दण्ड होता है तो प्रत्येक मनुष्य के भाग में आध पाव बीस सेर दण्ड पड़ा, तो ऐसे सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं ? जैसे एक को मन और सहस्र मनुष्यों को पाव-पाव दण्ड हुआ तो ६। सवा छः मन मनुष्य-जाति पर दण्ड होने से अधिक और यही कड़ा तथा वह एक मन दण्ड न्यून और सुगम होता है।"

पांच महा-अपराधियों को वश में करने वाला राजा इन्द्र के समान प्रभावी—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥३८६॥ (२१९)

(यस्य) जिस राजा के राज्य में (स्तेनः न+अस्ति) न चोर (न+अन्यस्त्रीगः) न परस्त्रीगामी (न दुष्टवाक्) न दुष्ट वचन का बोलने हारा (न साहसिकदण्डघ्नौ) न साहसिक डाकू और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भंग करने वाला है (सः राजा शक्रलोकभाक्) वह राजा अतीव श्रेष्ठ है ॥ ३८६ ॥ (स० प्र० १७३)

अनुशीलन : महर्षि ने यहां 'शक्रलोकभाक्' पद का अभिप्रायार्थ ग्रहण किया है। जिन टीकाकारों ने 'शक्रलोक भाक्' का 'इन्द्रलोक में जाने वाला' या 'स्वर्ग में जाने वाला' अर्थ किया है वह उचित नहीं है। इस पद का अर्थ है कि वह राजा 'इन्द्र पद का अधिकारी' अर्थात् इन्द्र के समान श्रेष्ठ और शक्तिशाली राजा माना जाता है, वह इन्द्र के समान प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली हो जाता है। अगले श्लोक से भी इस अर्थ की पुष्टि हो जाती है।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके।
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥३८७॥ (२२०)

(स्वके विषये) अपने राज्य में (एतेषां पञ्चानां निग्रहः) इन पांचों प्रकार के व्यक्तियों पर काबू रखने वाला (राज्ञः) राजा (सजात्येषु साम्राज्यकृत्) सजातीय अन्य राजाओं में साम्राज्य करने वाला अर्थात् राजाओं में शिरोमणि बन जाता है (च एव) और (लोके यशस्करः) लोक में यश प्राप्त करता है ॥ ३८७ ॥

ऋत्विज और यजमान द्वारा एक-दूसरे को त्यागने पर दण्ड—

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥३८८॥ (२२१)

(यः याज्यः) जो यजमान (कर्मणि शक्तं च अदुष्टम्) काम करने में समर्थ और श्रेष्ठ (ऋत्विजम्) पुरोहित को (त्यजेत्) छोड़ दे (च) और (याज्यं ऋत्विजः त्यजेत्) ऐसे ही यजमान को पुरोहित छोड़दे तो (तयोः) उन दोनों को (शतं-शतं दण्डः) सौ सौ पण दण्ड करना चाहिए ॥ ३८८ ॥

माता-पिता-स्त्री-पुत्र को छोड़ने पर दण्ड—

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति।
त्यजन्नपतितानेतान्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥३८९॥ (२२२)

(न माता न पिता न स्त्री न पुत्रः त्यागम्+अर्हति) न माता, न पिता, न स्त्री और न पुत्र त्यागने योग्य होते हैं (अपतितान् एतान् त्यजन्) अपतित अर्थात् निर्दोष होते हुए जो इनको छोड़े तो (राज्ञा षट् शतानि दण्ड्यः) राजा के द्वारा उस पर छः सौ पण दंड किया जाना चाहिए ॥३८९॥

अनुशीलन : ३८८ और ३८९ श्लोक विषयविरोध के अन्तर्गत आते हुए भी प्रक्षिप्त प्रतीत नहीं होते। इन्हें स्थानभ्रष्ट समझना चाहिए, क्योंकि (१) इनका मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है और न ये किसी अन्य आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, (२) इस अध्याय में इनसे सम्बन्धित प्रसंग भी है। प्रतीत होता है कि ये श्लोक

चौथे विवाद 'मिलकर उन्नति या व्यापार करना' (८। २०६-२११) विषय से खण्डित होकर स्थानभ्रष्ट हुए हैं।

व्यापार में शुल्क एवं वस्तुओं के भावों का निर्धारण—

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत्॥ ३९८॥ (२२३)

(शुल्कस्थानेषु कुशलाः) शुल्क लेने के स्थानों के शुल्कव्यवहार में चतुर (सर्वपण्यविचक्षणाः) सब बेचने योग्य वस्तुओं के मूल्य-निर्धारित करने में चतुर व्यक्ति (यथापण्यं अर्घं कुर्युः) बाजार के अनुसार जो मूल्य निश्चित करें (ततः) उसके लाभ में से (नृपः विंशं हरेत्) राजा बीसवां भाग कर-रूप में प्राप्त करे॥ ३९८॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः॥ ३९९॥ (२२४)

(राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि) राजा के प्रसिद्ध बरतन (च) और (यानि प्रतिषिद्धानि) जिन वस्तुओं का देशान्तर में ले जाना निषिद्ध घोषित कर दिया है (लोभात् तानि निर्हरतः) लोभवश उन्हें देशान्तर में ले जाने वाले का (नृपः) राजा (सर्वहारं हरेत्) सर्वस्व हरण करले॥ ३९९॥

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्॥ ४००॥ (२२५)

(शुल्कस्थानं परिहरन्) चुंगी के स्थान को छोड़कर दूसरे रास्ते से सामान ले जाने वाला (अकाले) असमय में अर्थात् रातादि में गुप्तरूप से (क्रयविक्रयी) सामान खरीदने और बेचने वाला (च) और (संख्याने मिथ्यावादी) माप-तौल में झूठ बतलाने वाला, इनको (अष्टगुणम्+अत्ययं दाप्यः) मूल्य के आठ गुने दण्ड से दण्डित करे॥ ४००॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ॥ ४०१॥ (२२६)

(आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयौ+उभौ) वस्तुओं के आने, जाने, रखने का स्थान, लाभवृद्धि तथा हानि (सर्वपण्यानां विचार्य) खरीद-बेचने की वस्तुओं से सम्बन्धित सभी बातों पर विचार करके (क्रयविक्रयौ कारयेत्) राजा मूल्य निश्चित करके वस्तुओं का क्रयविक्रय करावे॥ ४०१॥

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्ष पक्षेऽथवा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥ (२२७)

(पञ्चरात्रे-पञ्चरात्रे) पांच-पांच दिन (अथवा) या (पक्षे पक्षे गते) पन्द्रह-पन्द्रह दिन के पश्चात् (नृपः) राजा (एषां प्रत्यक्षम्) व्यापारियों के सामने (अर्घसंस्थापनं कुर्वीत) मूल्य का निर्धारण करे ॥ ४०२ ॥

तुला एवं मापकों की छह महीने में परीक्षा—

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥ (२२८)

(तुलामानम्) तराजू (च) और (प्रतीमानम्) प्रतिमान=बाट (सर्वं सुलक्षितं स्यात्) सब ठीक-ठीक रखने चाहिएं और (षट्सु-षट्सु च मासेषु) छः-छः महीने में (पुनः+एव परीक्षयेत्) इनकी परीक्षा राजा करावे ॥ ४०३ ॥ (द० ल० सं० २०)

"मनुस्मृति में तो प्रतिमा शब्द करके रत्ती, छटांक, पाव, सेर और पंसेरी आदि तोल के साधनों का ग्रहण किया है क्योंकि तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतीमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इनकी परीक्षा राजा लोग छठे-छठे मास अर्थात् छः छः महीने में एक बार किया करें कि जिससे उनमें कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट-बढ़ न कर सकें और कदाचित् कोई करे तो उसको दण्ड देवें।" (ऋ० भा० भू० ३०३–३०४)

"पक्ष-पक्ष में वा मास-मास में अथवा छटवें छटवें मास तुला की राजा परीक्षा करे............तथा प्रतिमान अर्थात् प्रतिमा की परीक्षा अवश्य करे। राजा जिससे कि अधिक, न्यून प्रतिमा अर्थात् दुकान के बाट जितने हैं, उन्हीं का नाम प्रतिमा है।"

(द० शा० सं० ५० एवं ऋ० प० वि० ११)

नौका-व्यवहार में किराया आदि की व्यवस्थाएं—

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥ (२२९)

(यानं तरे पणम्) नाव से पार उतारने में खाली गाड़ी का एक पण किराया ले (पौरुषः तरे) एक पुरुष द्वारा ढोये जाने वाले भार पर (अर्ध-पणम्) आधा पण किराया ले (च) और (पशुः पादम्) पशु आदि को पार करने में चौथाई पण (च) तथा (योषित् रिक्तकः पुमान् पाद+

अर्धम्) स्त्री और खाली मनुष्य से एक पण का आठवाँ भाग किराया लेवे ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥४०५॥ (२३०)

(भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं सारतः दाप्यानि) वस्तुओं से भरी हुई गाड़ियों को पार उतारने का किराया उनके भारी और हल्केपन के अनुसार देवे (रिक्तभाण्डानि) खाली बर्तन (च अपरिच्छदाः पुमांसः) और निर्धन व्यक्ति (यत् किंचित्) इनका थोड़ा सा किराया ले लेवे ॥ ४०५ ॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥ (२३१)

(दीर्घ+अध्वनि) नदी का लम्बा रास्ता पार करने के लिए (यथा देशम्) स्थान के अनुसार [तेज बहाव, मन्द प्रवाह, दुर्गम स्थल आदि] (यथाकालम्) समय के अनुसार [सर्दी, गर्मी, रात्रि आदि] (तरः भवेत्) किराया निश्चित होना चाहिए (तत् नदीतीरेषु विद्यात्) यह नियम नदी-तट के लिए समझना चाहिए (समुद्रे नास्ति लक्षणम्) समुद्र में यह नियम नहीं है अर्थात् समुद्र में वहाँ की स्थिति के अनुसार किराया निश्चित करना चाहिए ॥ ४०६ ॥

"जो लम्बे मार्ग में समुद्र की खाड़ियां वा नदी तथा बड़े नदों में जितना लम्बा देश हो उतना कर स्थापन करे और महासमुद्र में निश्चित कर स्थापन नहीं हो सकता किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलाने वाले दोनों लाभयुक्त हों वैसी व्यवस्था करे।" (स० प्र० १७५)

यन्नावि किंचिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः ।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥ ४०८ ॥ (२३२)

(दाशानाम् अपराधतः) मल्लाहों की गलती से (नावि यत् किंचित् विशीर्येत) नाव में जो कुछ यात्रियों को हानि हो जाये (तत्+दाशैः+एव) उसे मल्लाहों ने (समागम्य स्वतोंशतः दातव्यम्) मिलकर अपने-अपने हिस्से में से पूरा करना चाहिए ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥४०९॥ (२३३)

(एषः) यह [८।४०४–४०८] (नौयायिनां व्यवहारस्य निर्णयः उक्तः) नाविकों के व्यवहार का निर्णय कहा है (दाशापराधतः तोये) मल्लाहों के अपराध से जल में नष्ट हुए सामान के मल्लाह देनदार हैं (दैविके निग्रहः नास्ति) दैवी विपत्ति के कारण [आंधी, तूफान आदि से] हुई हानि के मल्लाह देनदार नहीं हैं ॥ ४०९ ॥

अनुशीलन : श्लोक ३८८ से ४०९ श्लोकों में से ३९०–३९५ विभिन्न आधारों के अनुसार प्रक्षिप्त हैं। शेष श्लोकों ३८८, ३८९, ३९६, ३९८, ४०६, ४०८, ४०९ में कोई प्रक्षेप की प्रवृत्ति नहीं है और ये सर्वसामान्य विधान हैं। इनका मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है, शैली भी मनुसम्मत है। अतः प्रसंगानुकूल न होने पर भी हमने इन्हें प्रक्षिप्त घोषित नहीं किया। प्रतीत होता है कि ये स्थानभ्रष्ट हो गये हैं। इन सभी श्लोकों में जो विषय है वह 'मिलकर उन्नति या व्यापार करना' [८।२०६–२११] विषय से सम्बन्धित है, अतः ये उसी प्रसंग से खण्डित हुए ज्ञात होते हैं।

**इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत हिन्दीभाषा-भाष्यसमन्वितायाम्
'अनुशीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
राजधर्मात्मकोऽष्टमोऽध्यायः ॥**

अथ नवमोऽध्यायः

(हिन्दीभाष्य-'अनुशीलन'समीक्षाभ्यां सहितः)

(राजधर्मान्तर्गत व्यवहारनिर्णय)

[९ । १ से ९ । ६६ तक]

(१६) स्त्री-पुरुष-धर्मसम्बन्धी विवाद और उसका निर्णय

(९ । १ से ३९ तक)

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः ।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥ (१)

[अब मैं] (धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः) धर्ममार्ग पर चलने वाले (स्त्रियाः च पुरुषस्य एव) स्त्री-पुरुष के (संयोगे च विप्रयोगे) संयोगकालीन=साथ रहने तथा वियोगकालीन=अलग रहने के (शाश्वतान् धर्मान् वक्ष्यामि) सदैव पालन करने योग्य धर्मों=कर्त्तव्यों को कहूंगा—॥ १ ॥

(स्त्री-पुरुष के संयोगकालीन दैनिक कर्त्तव्य)

स्त्री के प्रति कर्त्तव्यपालन न करने वाले पिता, पति, पुत्र निन्दा के पात्र—

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥ (२)

(काले) विवाह की अवस्था में (अदाता) कन्या को न देने वाला अर्थात् विवाह न करने वाला (पिता वाच्यः) पिता निन्दनीय होता है (च) और (अनुपयन् पतिः) [विवाह-पश्चात् ऋतुकाल के अनन्तर] संगम न करने वाला पति निन्दनीय होता है (भर्तरि मृते) पति की मृत्यु होने के बाद (मातुः+अरक्षिता पुत्रः वाच्यः) माता की [भरण-पोषण आदि से] रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय होता है ॥ ४ ॥

थोड़े से कुसंग से भी स्त्रियों की रक्षा अवश्य करें—

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥ (३)

(सूक्ष्मेभ्य: प्रसंगेभ्य: अपि) थोड़े कुसंग के अवसरों से भी (स्त्रियः विशेषत: रक्ष्या:) स्त्रियों की विशेषरूप से रक्षा करनी चाहिए (हि) क्योंकि (अरक्षिता:) अरक्षित स्त्रियां (द्वयो: कुलयो: शोकम्+आवहेयु:) दोनों कुलों=पति तथा पिता के कुलों को शोकसंतप्त कर देती हैं ।। ५ ।।

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ।। ६ ।। (४)

(सर्ववर्णानाम् इमम् उत्तमं धर्मं पश्यन्त:) सब वर्णों के इस पूर्वोक्त श्रेष्ठ धर्म को देखते हुए (दुर्बला: भर्तार: अपि) दुर्बल पति भी (भार्यां रक्षितुं यतन्ते) कुसंगों से अपनी स्त्री की रक्षा करने के लिए यत्न करते हैं ।। ६ ।।

स्त्री पर ही परिवार की प्रतिष्ठा निर्भर—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति ।। ७ ।। (५)

(प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि) प्रयत्नपूर्वक अपनी स्त्री की कुसंगत से रक्षा करता हुआ अर्थात् संरक्षण में रखता हुआ व्यक्ति ही (स्वां प्रसूतिम्) अपनी सन्तान (चरित्रम्) आचरण (कुलं च आत्मानम्+एव) कुल और अपनी (च) तथा (स्वं धर्मम्) अपने धर्म की (रक्षति) रक्षा करता है अर्थात् स्त्री के कुसंग में पड़ जाने से सब ही कुछ बिगड़ जाता है, क्योंकि स्त्री ही सुख और धर्म का आधार है [९।२८] ।। ७ ।।

जाया का लक्षण—

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ।। ८ ।। (६)

(पति: भार्यां संप्रविश्य) पति वीर्यरूप में स्त्री में प्रवेश करके (गर्भ: भूत्वा+इह जायते) गर्भ बनकर सन्तानरूप से संसार में उत्पन्न होता है (जायाया: तत्+हि जायात्वम) स्त्री का यही जायापन=स्त्रीपन है (यत्) जो (अस्यां पुन: जायते) इस स्त्री में सन्तानरूप से पति पुन: उत्पन्न होता है ।। ८ ।।

अनुशीलन : जाया शब्द की सिद्धि और इसमें ब्राह्मण आदि के प्रमाण—'जाया' शब्द **जनी प्रादुर्भावे** (दिवा०) धातु से **'जनेर्यक्'** (उणादि ४।१११) सूत्र से 'यक्' प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होने से सिद्ध होता है। **'जायते यस्यां सा जाया' अथवा 'जायन्ते यस्याम् अपत्यानि सा जाया=पत्नी'**—जिसमें सन्तान

उत्पन्न होती है वह 'जाया' कहलाती है। इस श्लोक में जाया की परिभाषा दी हुई है। यह परिभाषा पर्याप्त प्रचलित रही है। यथावत् भाव ऐतरेय ब्राह्मण ७। १३ की परिभाषा में द्रष्टव्य है—

(क) "पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते, तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।"

(ख) "आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते।" (गो० ब्रा० पू० १। २)

(ग) निरुक्त में भी पुत्र को पति का आत्मारूप बताया है—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥ [निरु० ३।१।४]

जैसा पति वैसी सन्तान—

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः॥ ९॥ (७)

(स्त्री यादृशं हि भजते) स्त्री जैसे पति का सेवन करती है (तथाविधं सुतं सूते) उसी प्रकार की सन्तान को उत्पन्न करती है (तस्मात्) इसलिए (प्रजाविशुद्ध्यर्थम्) सन्तान की शुद्धि के लिए (प्रयत्नतः स्त्रियं रक्षेत्) प्रयत्नपूर्वक स्त्री की कुसंग से रक्षा करे॥ ९॥

स्त्रियों की रक्षा बलपूर्वक नहीं हो सकती—

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम्॥ १०॥ (८)

(कश्चित्) कोई भी व्यक्ति (प्रसह्य) जबरदस्ती या दबाव के साथ (योषितः परिरक्षितुं न शक्तः) स्त्रियों की कुसंगों से रक्षा नहीं कर सकता (तु) किन्तु (एतैः+उपाययोगैः) इन आगे कहे उपायों में लगाने से (ताः परिरक्षितुं शक्याः) उनकी रक्षा की जा सकती है—॥ १०॥

स्त्रियों को गृह एवं धर्मकामों में व्यस्त रखें—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे॥ ११॥(९)

(एनाम्) अपनी स्त्री को (अर्थस्य संग्रहे च व्यये) धन की संभाल और उसके व्यय की जिम्मेदारी में, (शौचे) घर एवं घर के पदार्थों की शुद्धि में, (धर्मे) धर्मसम्बन्धी [६। ९३] अनुष्ठान=अग्निहोत्र, संध्या, स्वाध्याय आदि में, (अन्नपक्त्याम्) भोजन पकाने में, (च) और (परि-

णाह्यस्य वेक्षणे) घर की सभी वस्तुओं की देखभाल में (नियोजयेत्) लगायें ॥ ११ ॥

स्त्रियां आत्मनियन्त्रण से ही बुराइयों से बच सकती हैं—

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥१२॥ (१०)

क्योंकि (आप्तकारिभिः पुरुषैः) विश्वसनीय पिता, माता पति आदि पुरुषों द्वारा (गृहे रुद्धाः) घर में रोककर रखी हुई अर्थात् निगरानी में रखी जाती हुई स्त्रियां भी (असुरक्षिताः) असुरक्षित हैं=बुराइयों से बच नहीं पातीं (याः तु) जो तो (आत्मानम् आत्मना रक्षेयुः) अपनी रक्षा स्वयं करती हैं (ताः सुरक्षिताः) वस्तुतः वही [बुराई से] सुरक्षित रहती हैं ॥ १२ ॥

स्त्रियों के दूषण में छः कारण—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥ (११)

(पानम्) मद्य, भांग आदि मादक द्रव्यों का पीना, (दुर्जनसंसर्गः) दुष्टपुरुषों का संग, (पत्या च विरहः) पति-वियोग, (अटनम्) अकेली जहां-तहां व्यर्थ पाखंडी आदि के दर्शन-मिस से फिरती रहना, (च) और (स्वप्नः+अन्यगेहवासः) पराये घर में जाके शयन करना वा वास (षट् नारीसन्दूषणानि) ये छः स्त्री को दूषित करने वाले दुर्गुण हैं ॥ १३ ॥
(स० प्र० ११२)

सन्तानोत्पत्ति-सबन्धी धर्म—

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥ (१२)

(एषा) यह [९ । १–२४] (स्त्रीपुंसयोः नित्यं शुभा) स्त्री-पुरुषों के लिये सदा शुभ=कल्याणकारी (लोकयात्रा उदिता) लोकव्यवहार कहा, अब (प्रेत्य च इह सुखोदर्कान्) परजन्म और इस जन्म में परिणाम में सुखदायक (प्रजाधर्मान् निबोधत) सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी धर्मों को सुनो ॥ २५ ॥

स्त्रियां घर की लक्ष्मी हैं—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥ (१३)

हे पुरुषो ! (प्रजनार्थं महाभागाः) सन्तानोत्पत्ति के लिए महा-भाग्योदय करने हारी (पूजार्हाः) पूजा के योग्य (गृहदीप्तयः) गृहाश्रम को प्रकाशित करती, सन्तानोत्पत्ति करने-कराने हारी (गेहेषु स्त्रियः) घरों में स्त्रियाँ हैं वे (श्रियः) श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं (विशेषः कश्चन न अस्ति) क्योंकि लक्ष्मी, शोभा, धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ॥ २६ ॥ (सं० वि० १४६)

अनुशीलन : **स्त्रियाँ लक्ष्मी रूप हैं**—मनु ने जो स्थान तथा महत्त्व स्त्रियों को दिया है वही समस्त प्राचीन साहित्य में है। इन भावों की तुलना की दृष्टि से निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(क) "**श्रियं वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः**" (शत० १३।२।६।७)

(ख) "**गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा**" (शत० ३।३।१।१०)

स्त्रियां लोकयात्रा का आधार हैं—

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥ (१४)

हे पुरुषो ! (अपत्यस्य उत्पादनम्) अपत्यों की उत्पत्ति (जातस्य परिपालनम्) उत्पन्न का पालन करने आदि (लोकयात्रायाः प्रत्यहम्) लोक-व्यवहार को नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है (स्त्री निबन्धनं प्रत्यक्षम्) उसका निबन्ध करने वाली प्रत्यक्ष स्त्री है ॥ २७ ॥ (सं वि० १४६)

घर का सुख स्त्री पर निर्भर है—

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥ (१५)

(अपत्यम्) सन्तानोत्पत्ति (धर्मकार्याणि) धर्म-कार्य (उत्तमा शुश्रूषा रतिः) उत्तम सेवा और रति (तथा आत्मनः च पितॄणां ह स्वर्गः) तथा अपना और पितरों का जितना सुख है वह सब (दाराधीनः) स्त्री ही के आधीन होता है ॥ २८ ॥ (सं० वि० १४६)

अनुशीलन : 'पितॄणाम्' का यहां 'पिता–पितामह–प्रपितामह आदि वयोवृद्ध आदि व्यक्ति' यह अर्थ है। इस विषय पर विस्तृत समीक्षा २।१५१ [२।१७६] और ३।८२ पर देखिए।

पुत्र पर अधिकार के सम्बन्ध में आख्यान—

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥ (१६)

(सद्भिः च पूर्वजः महर्षिभिः) श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा प्राचीन महर्षियों ने (पुत्रं प्रति) पुत्र के विषय में जो (विश्वजन्यं पुण्यम् उदितम्) सर्वजनहितकारी और पुण्यदायक विचार कहा (इमम् उपन्यासं निबोधत) इस 'शिक्षाप्रद विचार' को सुनो—॥ ३१ ॥

पुत्र पर अधिकार-सम्बन्धी मतान्तर—

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि ।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥ (१७)

('भर्तुः पुत्रम्' विजानन्ति) 'स्त्री के पति का ही पुत्र होता है' ऐसा माना जाता है (भर्तरि तु श्रुतिद्वैधम्) किन्तु पति के विषय में दो विचार हैं—(केचित् उत्पादकम् आहुः) कुछ लोग पुत्र उत्पन्न करने वाले को ही पुत्र का हकदार कहते हैं (अपरे क्षेत्रिणं विदुः) दूसरे कुछ लोग क्षेत्र अर्थात् स्त्री के स्वामी को पुत्र का हकदार मानते हैं [चाहे उत्पादक कोई भी हो] ॥ ३२ ॥

स्त्री-पुरुष की क्षेत्र और बीज रूप में तुलना—

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥३३॥ (१८)

(नारी क्षेत्रभूता स्मृता) स्त्री को खेत के तुल्य माना है और (पुमान् बीजभूतः स्मृतः) पुरुष को बीज के तुल्य माना है (क्षेत्र-बीज-समायोगात्) खेत और बीज अर्थात् स्त्री और पुरुष के मिलने से (सर्वदेहिनां सम्भवः) सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥ ३३ ॥

परस्त्री में पुत्रोत्पत्ति करने पर पुत्र पर स्त्री का या स्त्री-स्वामी का अधिकार—

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥ (१९)

[९।३३ की व्यवस्था में] (ये+अक्षेत्रिणः बीजवन्तः) जो क्षेत्र-रहित हैं और बीज वाले हैं (परक्षेत्रप्रवापिणः) तथा दूसरे के क्षेत्र में अर्थात् परस्त्री में बीज को बोते हैं=सन्तान उत्पन्न करते हैं (ते वै) निश्चय से (क्वचित्) कहीं भी (जातस्य सस्यस्य फलं न लभन्ते) उत्पन्न हुये अन्न, सन्तान आदि के फल को नहीं प्राप्त करते अर्थात् उस सन्तान पर स्त्री के पति का अधिकार होता है, बीज बोने वाले का नहीं ॥ ४९ ॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥ (२०)

क्योंकि (क्षेत्रिणां तथा बीजिनाम्) खेतवालों अर्थात् परपुरुष से सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्रियों में और बीजवालों अर्थात् परक्षेत्र अर्थात् परस्त्री में संतान उत्पन्न करने वालों में (फलं तु अनभिसंधाय) फल के लेने के विषय में बिना निश्चय हुए 'कि इस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला अन्न, सन्तान आदि फल किसका होगा' बीज-वपन करने पर (प्रत्यक्षं क्षेत्रिणाम्+अर्थः) वह स्पष्टरूप से क्षेत्रस्वामी का फल या उपलब्धि होती है; अर्थात् वह सन्तान स्त्री की ही होती है, क्योंकि (बीजात् योनिः गरीयसी) ऐसी स्थिति में बीज से योनि बलवती होती है ॥ ५२ ॥

समझौतापूर्वक पुत्रोत्पत्ति में पुत्र पर स्त्री-पुरुष दोनों का समानाधिकार—

क्रियाऽभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥ (२१)

(यत्) परन्तु यदि (क्रिया+अभ्युपगमात्) परस्पर मिलकर यह निश्चय करके कि इससे प्राप्त फल 'अमुक का' या दोनों का होगा [जैसे कि विवाह या नियोग में किया जाता है], इस समझौते के साथ (एतत् बीजार्थं प्रदीयते) जो खेत बीज बोने के लिये दिया जाता है अर्थात् स्त्री यदि समझौते के साथ किसी के लिए सन्तान उत्पन्न करती है तो उस अवस्था में (इह तस्य) इस लोक में उसके (बीजी च क्षेत्रिकः+एव भागिनौ दृष्टौ) बीजवाला और खेतवाला दोनों ही फल के अधिकारी देखे गये हैं ॥ ५३ ॥

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥५६॥ (२२)

(एतत्) [यह ९।३१-५५] (बीजयोन्योः सारफल्गुत्वम्) बीज और योनि की प्रधानता और अप्रधानता (वः प्रकीर्तितम्) तुमसे मैंने कही ।

(अतः परम्) इसके बाद अब मैं (आपदि योषितां धर्मम्) आपत्काल में [सन्तानाभाव में] स्त्रियों के धर्म को प्रवक्ष्यामि कहूँगा—॥ ५६ ॥

बड़ी भाभी को गुरु-पत्नी के समान, छोटी को पुत्रवधू के समान माने—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥५७॥ (२३)

(ज्येष्ठस्य भ्रातुः या भार्या) बड़े भाई की जो पत्नी होती है (सा

अनुजस्य गुरुपत्नी) वह छोटे भाई के लिए गुरुपत्नी के समान होती है (तु या यवीयसः भार्या) और जो छोटे भाई की पत्नी है (सा ज्येष्ठस्य स्नुषा) वह बड़े भाई के लिए पुत्रवधू के समान (स्मृता) कही गयी है, अर्थात् भाइयों को भाई की पत्नी में उक्त प्रकार की पवित्र भावना रखनी चाहिए ॥ ५७ ॥

उनके साथ गमन में पाप—

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥५८॥ (२४)

(ज्येष्ठः यवीयसः भार्याम्) बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ और (यवीयान्+अग्रज-स्त्रियम्) छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ (अनापदि) आपत्तिकाल [=सन्तानाभाव] के बिना (नियुक्तौ+अपि गत्वा) नियोग-विधिपूर्वक भी यदि संभोग करें तो वे (पतितौ भवतः) पतित माने जाते हैं ॥ ५८ ॥

सन्तानाभाव में नियोग से सन्तानप्राप्ति—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥५९॥ (२५)

(सन्तानस्य परिक्षये) पति से सन्तान न होने पर अथवा किसी भी प्रकार से सन्तान का अभाव होने पर (सम्यक् नियुक्तया स्त्रिया) ठीक-ढंग से [परिवार और समाज में विवाहवत् प्रसिद्धिपूर्वक] नियोग के लिए नियुक्त स्त्री को (देवरात् वा सपिंडात् वा) देवर—स्वजातीय या अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष से अथवा पति की छः पीढ़ियों में पति के छोटे या बड़े भाई से (ईप्सिता प्रजा अधिगन्तव्या) इच्छित सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए अर्थात् जितनी सन्तान अभीष्ट हो उतनी प्राप्त करले ॥ ५९ ॥

"सपिंड अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई, अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए। परन्तु जो वह मृतस्त्री-पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

"मनुजी ने लिखा है कि (सपिण्ड) अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ

पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए। परन्तु जो वह मृतस्त्री पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है। और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे। जो आपत्काल अर्थात् सन्तानों की होने की इच्छा न होने में बड़े भाई की स्त्री से छोटे का और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर भी पुन: वे नियुक्त आपस में समागम करें तो पतित हो जायें। अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है, इसके पश्चात् समागम न करें।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

अनुशीलन : (१) **नियोग की विधि**—नियोग के लिए 'नियुक्त करना' या 'नियोग की विधि' से अभिप्राय यह है कि जैसे समाज और परिवार में प्रसिद्धिपूर्वक विवाह होता है, उसी प्रकार नियोग भी होता है। इन्हीं के समक्ष पुत्र आदि प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चय होते हैं। उस निश्चय के अनुसार चलना 'विधि' है और अन्यथा चलना 'विधि का त्याग' है। ऋषि दयानन्द ने इसी बात को प्रश्नोत्तररूप में स्पष्ट किया है—

"(प्रश्न) नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिए ?

(उत्तर) जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग। जिस प्रकार विवाह में भद्रपुरुषों की अनुमति और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है वैसे नियोग में भी। अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो तब अपने कुटुम्ब में पुरुष-स्त्रियों के सामने 'हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिए करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें तो पापी और जाति वा राज्य के दण्डनीय हों। महीने में एक बार गर्भाधान का काम करेंगे, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्य्यन्त पृथक् रहेंगे।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

(२) **देवर शब्द का अर्थ**—

मनुस्मृति या वैदिक साहित्य में देवर शब्द का प्रचलित—'पति का छोटा भाई' अर्थ न होकर विस्तृत अर्थ है। निरुक्त में 'देवर' शब्द की निरुक्ति निम्न दी है—

"**देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते** ॥" (३। १५)

अर्थात्—"देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो। जिससे नियोग करे उसी का नाम देवर है।" (म० दयानन्द, स० प्र० ११६)

आजकल यह केवल पति के छोटे भाई के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस रूढ़ि का कारण सम्भवतः यह है कि स्त्री के विधवा हो जाने पर अधिकतर मृत-पति के छोटे भाई से ही उसका सम्बन्ध कर दिया जाता है। यह नियोगविधि का ही एक परिवर्तित

रूप है। इस परम्परा से प्राचीन काल में नियोगप्रथा के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं।

(३) वेदों में नियोग का विधान—

(क) उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥
ऋ० । मं० १० । सू० १८ । मं० ८॥

अर्थ—"(नारि) विधवे तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के बाकी पुरुषों में से (अभि जीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो, और (उदीर्ष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुम विधवा के पुनः पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्युः) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरी होगी। ऐसे निश्चययुक्त (अभि सम्बभूथ) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे।"
(स० प्र० चतुर्थ समु०)

(ख) (प्रश्न) नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी ?

(उत्तर) जीते भी होता है—

अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥ ऋ० मं० १० । सू० १०॥

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे ! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति की आशा मत कर। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहे। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी ! आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड़ के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिए।

जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री ने किया और जैसा व्यास जी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के मरजाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की। इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण है।" (स० प्र० चतुर्थ० समु०)

नियोग से पुत्र-प्राप्ति के बाद शरीर-सम्बन्ध नहीं—

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम्॥ ६२ ॥(२६)

(यथाविधि) विधि अनुसार (विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु) विधवा में नियोग के उद्देश्यपूर्ण हो जाने पर फिर (गुरुवत् च स्नुषावत् च

परस्परं वर्तयाताम्) बड़े भाई तथा छोटे भाई की स्त्री से क्रमशः गुरुपत्नी तथा पुत्रवधू के समान [९।५७] परस्पर बर्ताव करें ॥ ६२ ॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषाग-गुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥(२७

(नियुक्तौ यौ) नियोग के लिए नियुक्त बड़ा या छोटा भाई यदि (विधिं हित्वा) नियोग की विधि=व्यवस्था [समाज या परिवार में किये गये पूर्व निश्चयों] को छोड़कर (कामतः वर्तेयाताम्) काम के वशीभूत होकर संभोगादि करें (तु) तो (तौ+उभौ) वे दोनों (स्नुषाग-गुरुतल्पगौ पतितौ स्याताम्) पुत्रवधूगमन और गुरुपत्नीगमन के अपराधी माने जायेंगे [९।५८] ॥ ६३ ॥

सगाई के बाद पति की मृत्यु होने पर अन्य विवाह का विधान—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥ (२८

(वाचा सत्ये कृते) वाग्दान=सगाई करने के बाद [और विवाह से पूर्व] (यस्याः कन्यायाः पतिः म्रियेत) जिस कन्या का पति मर जाये (ताम्) उस कन्या को (निजः देवरः) पति का छोटा भाई (अनेन विधानेन विन्देत) विवाह-विधान से प्राप्त कर ले ॥ ६९ ॥

"जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाये तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है।" (श्लोक की दूसरी पंक्ति उद्धृत करके यह उल्लेख है (स० प्र० ११७)

अनुशीलन : श्लोक की मौलिकता का आधार—यह श्लोक संकेतित [९।५६, १०३] विषय से सम्बद्ध है। विषयानुसार इसमें आपत्कालीन स्थिति में स्त्री का कर्त्तव्य विहित किया है।

स्त्री को जीविका देकर पुरुष प्रवास में जाये—

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः ।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥ (२९)

(कार्यवान् नरः) किसी आवश्यक कार्य के लिए परदेश में जाने वाला मनुष्य (भार्यायाः वृत्तिं विधाय प्रवसेत्) अपनी पत्नी की भरण-पोषण व जीविका देकर परदेश में जाये (हि) क्योंकि (अवृत्तिकर्षिता स्थितिमती-अपि स्त्री) जीविका के अभाव से पीड़ित हो शुद्ध आचरण वाली स्त्री भी (प्रदुष्येत्) दूषित हो सकती है ॥ ७४ ॥

अथवा अनिन्दित कलाओं से स्त्री जीविका कमाये—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥ (३०)

(वृत्तिं विधाय प्रोषिते) जीविका का प्रबन्ध करके पति के परदेश जाने पर (नियमम्+आस्थिता जीवेत्) स्त्री अपने पातिव्रत्य नियमों का पालन करती हुई जीवनयात्रा चलाये (अविधाय+एव तु प्रोषिते) यदि पति बिना जीविका का प्रबन्ध किये परदेश चला जाये तो (अगर्हितैः शिल्पैः जीवेत्) अनिन्दित शिल्पकार्यों [सिलाई करना, बुनना, कातना आदि] को करके अपनी जीवनयात्रा चलाये ॥ ७५ ॥

पति की प्रतीक्षा की अवधि और उसके पश्चात् नियोग—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥७६॥(३१)

विवाहित स्त्री (नरः धर्मकार्यार्थं प्रोषितः) जो विवाहित पति धर्म के लिए परदेश गया हो तो (अष्टौ समाः) आठ वर्ष (विद्यार्थं वा यशः+अर्थं षट्) विद्या और कीर्ति के लिए गया हो तो छः (कामार्थं त्रीन् तु वत्सरान्) धनादि कामना के लिए गया हो तो तीन वर्ष तक (प्रतीक्ष्यः) बाट देखके पश्चात् नियोग करके सन्तोत्पत्ति कर ले । जब विवाहित पति आवे तब नियुक्त पति छूटजावे ॥ ७६ ॥ (स० प्र० ११९)

अनुशीलन : नियोगव्यवस्था प्राचीनपरम्परागत एवं कौटिल्य द्वारा उसका समर्थन—आचार्य कौटिल्य तक नियोग व्यवस्था प्रचलित एवं मान्यता प्राप्त रही है । उन्होंने प्र० ६० । अ० ४ में कारण प्रदर्शनपूर्वक विभिन्न नियोगों का विधान किया है [विस्तृत विवेचन भूमिका में 'नियोग-मान्यता' पर द्रष्टव्य है] ।

पुरुष दूसरी स्त्री से सन्तानप्राप्ति कब करे—

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥ (३२)

(वन्ध्या+अष्टमे) वंध्या हो तो आठवें [विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री का गर्भ न रहे] (मृतप्रजाः तु दशमे) सन्तान होकर मरजायें तो दशवें (स्त्रीजननी एकादशे अब्दे) जब-जब हो तब-तब कन्या ही होवें, पुत्र न हो तो ग्यारहवें वर्ष तक (तु) और (अप्रियवादिनी) जो अप्रिय बोलने वाली हो तो (सद्यः) सद्यः उस स्त्री को छोड़कर (अधिवेद्या) दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करलेवे ॥ ८१ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

उत्तम वर मिलने पर कन्या का विवाह शीघ्र करदें—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥ ८८॥ (३३)

यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो (उत्कृष्टाय+अभिरूपाय सदृशाय वराय) अति उत्कृष्ट, शुभगुण, कर्म, स्वभाव वाले कन्या के सदृश रूप-लावण्य आदि गुणयुक्त वर ही को चाहें (ताम् अप्राप्तां कन्याम्+अपि) वह कन्या माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो तथापि (तस्मै दद्यात्) उसी को कन्या देना, अन्य को न देना कि जिससे दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें॥ ८८॥ (सं० वि० १०२)

गुणहीन पुरुष से विवाह न करें—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ ८९॥ (३४)

(कामम्) चाहे (आमरणात्) मरणपर्यन्त (कन्या) कन्या (गृहे) पिता के घर में (तिष्ठेत्) बिना विवाह के बैठी भी रहे (तु) परन्तु (गुणहीनाय) गुणहीन असदृश दुष्टपुरुष के साथ (एनां कर्हिचित् न प्रयच्छेत्) कन्या का विवाह कभी न करे॥ ८९॥ (सं० वि० १०२)

पूना-प्रवचन में इस श्लोक को उद्धृत करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—"इसी प्रकार मनु जी कहते हैं कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रखो, परन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो।" (पृ० २१)

"चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यंन्त कुमार रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध-गुण-कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए।" (स० प्र० ८३)

कन्या स्वयंवर विवाह करे—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ ९०॥ (३५)

(कुमारी) कन्या (ऋतुमती सती) रजस्वला हो जाने पर (एतस्मात् कालात्+ऊर्ध्वम्) इस समय के बाद (त्रीणि वर्षाणि+उदीक्षेत) तीन वर्ष तक विवाह की प्रतीक्षा करे, तदनन्तर (सदृशं पतिं विन्देत) अपने योग्य पति का वरण करे॥९०।

'जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे तब रजस्वला होने के दिन

से तीन वर्ष छोड़के चौथे वर्ष में विवाह करे।" (सं० वि० १०२,सं० प्र० ८३)

स्वयंवर विवाह में पाप नहीं—

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥९१॥ (३६)

(अदीयमाना) पिता आदि अभिभावक के द्वारा विवाह न करने पर (यदि स्वयं भर्तारम्+अधिगच्छेत्) जो कन्या यदि स्वयं पति का वरण करले तो (किंचित् एनः न अवाप्नोति) वह कन्या किसी पाप की भागी नहीं होती (च) और (न सा यम् अधिगच्छति) न उसे कोई पाप होता है जिस पति को यह वरण करती है ॥ ९१ ॥

स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनी–

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥९६॥ (३७)

(प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः) गर्भधारण करके सन्तानों की उत्पत्ति करने के लिए स्त्रियों की रचना हुई है (च) और (सन्तानार्थं मानवाः) सन्तानार्थ गर्भाधान करने के लिए पुरुषों की रचना हुई है [दोनों एक दूसरे के पूरक होने के कारण] (तस्मात्) इसलिए (श्रुतौ) वेदों में (साधारणः धर्मः) साधारण से साधारण धर्मकार्य का अनुष्ठान भी (पत्न्या सह+उदितः) पत्नी के साथ करने का विधान किया है ॥ ९६ ॥

अनुशीलन : प्रत्येक धर्मकार्य पत्नी को सहभागिनी बनाकर करें—
मनु ने इस श्लोक में पत्नी को पुरुष की पूरक और अर्धांगिनी का रूप माना है, और प्रत्येक धर्मकार्य उसके साथ हुए बिना पूर्ण नहीं माना गया है। समस्त प्राचीन साहित्य में पत्नी की यही मान्य स्थिति रही है। जब पत्नी को पुरुष का अर्धभाग रूप ही मान लिया तो दोनों की स्थिति समान है। उसमें कोई पक्षपात की भावना नहीं है—

(क) "अर्धो वा ह् वा एष आत्मनो यज्जाया, तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति, अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते, तर्हि हि सर्वो भवति।" (शत० ५। २। १। १०)

(ख) "अथो अर्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी" (तैत्ति० ३। ३। ५)

पति-पत्नी आमरण साथ रहें—

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥ (३८)

(आमरणान्तिकः) मरणपर्यन्त (अन्योन्यस्य+अव्यभिचारः भवेत्)

पति-पत्नी में परस्पर किसी भी प्रकार के धर्म का उल्लंघन और विच्छेद न हो पाये (समासेन) संक्षेप में (स्त्रीपुंसयोः) स्त्री-पुरुष का (एषः परः धर्मः ज्ञेयः) यही साररूप मुख्य धर्म है ॥ १०१ ॥

बिछुड़ने के अवसर न आने दें—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥ (३९)

(कृतक्रियौ स्त्रीपुंसौ) विवाहित स्त्री-पुरुष (नित्यं तथा यतेयाताम्) सदा ऐसा यत्न करें कि (यथा तौ) जिस किसी भी प्रकार से (तौ) वे (इतरेतरम्) एक-दूसरे से (वियुक्तौ न+अभिचरेताम्) अलग न होवें= सम्बन्धविच्छेद न हो पाये ॥ १०२ ॥

[१७] दायभाग विवाद-वर्णन [९ । ४० -- ८४]

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥ (४०)

(एषः) यह [९।१ से १०२ पर्यन्त] (स्त्रीपुंसयोः) स्त्री-पुरुष के (रतिसंहितः धर्मः) रति=स्नेह या संयोग सहित [वियोगकाल के भी] धर्म (च) और (आपदि+अपत्यप्राप्तिः) आपत्काल में नियोगविधि से सन्तान-प्राप्ति [९।५९-६३] की बात (वः उक्तः) तुमसे कही ।
(दायभागं निबोधत) दायभाग का विधान सुनो—॥ १०३ ॥

अलग होते समय दायभाग का बराबर विभाजन—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥ (४१)

(पितुः च मातुः ऊर्ध्वम्) पिता और माता के मरने के पश्चात् (भ्रातरः समेत्य) सब भाई एकत्रित होकर (पैतृकं रिक्थं समं भजेरन्) पैतृक सम्पत्ति को बराबर-बराबर बांट लें (जीवतोः ते हि अनीशाः) माता-पिता के जीवित रहते हुए वे उस धन के अधिकारी नहीं हो सकते हैं । ॥ १०४ ॥

सम्मिलित रहने पर विभाजन का दूसरा विकल्प—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥ (४२)

[अथवा सम्मिलित रूप में रहना हो तो] (पित्र्यं धनम्+अशेषतः

ज्येष्ठः एव तु गृह्णीयात्) पिता के सारे धन को बड़ा पुत्र ही ग्रहण करले (शेषाः) और बाकी सब भाई (यथा+एव पितरम्) जैसे पिता के साथ रहते थे (तथा तम्+उपजीवेयुः) उसी प्रकार बड़े भाई के साथ रहकर जीवन चलावें ॥ १०५ ॥

अनुशीलन : यहां पहले पिता के धन का विभाजन वर्णित किया है। मातृधन का विधान १९२ से है।

बड़े भाई का छोटों के प्रति कर्त्तव्य—

पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातृन्यवीयसः।
पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥ (४३)

[सम्मिलित रहते हुए] (ज्येष्ठः) बड़ा भाई (यवीयसः भ्रातृन्) अपने छोटे भाइयों को (पिता+इव पुत्रान्) जैसे पिता अपने पुत्रों का पालन पोषण करता है ऐसे (पालयेत्) पाले (च) और (ज्येष्ठे भ्रातरि) छोटे भाई बड़े भाई में (धर्मतः) धर्म से (पुत्रवत्+अपि वर्तेरन्) पुत्र के समान वर्ताव करें अर्थात् उसे पिता के समान मानें ॥ १०८ ॥

छोटों का बड़े भाई के प्रति कर्त्तव्य—

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्सः संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥११०॥(४४)

किन्तु (यः ज्येष्ठः) जो बड़ा भाई (ज्येष्ठवृत्तिः स्यात्) बड़ों अर्थात् पिता आदि के समान बर्ताव करने वाला हो तो (सः पिता+इव, सः माता+इव संपूज्यः) वह पिता और माता के समान माननीय है (यः तु) और जो (अज्येष्ठवृत्तिः स्यात्) बड़ों अर्थात् पिता आदि के समान बर्ताव करने वाला न हो तो (सः तु बन्धुवत्) वह केवल भाई या मित्र की तरह ही मानने योग्य होता है ॥ ११० ॥

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया ॥ १११ ॥ (४५)

(एवम्) इस प्रकार (सह वसेयुः) सब भाई साथ मिलकर [९।१०५–११०] रहें (वा) अथवा (धर्मकाम्यया) धर्म की कामना से (पृथक्) अलग-अलग [९।१०४] रहें। (पृथक् धर्मः विवर्धते) पृथक्-पृथक् रहने से धर्म का [सबके द्वारा अलग-अलग पञ्चमहायज्ञ आदि करने के कारण] विस्तार होता है (तस्मात्) इस कारण (पृथक् क्रिया धर्म्या) पृथक् रहना भी धर्मानुकूल है ॥ १११ ॥

इकट्ठे रहकर अलग होने पर 'उद्धार' अंश का विभाजन—

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥ (४६)

[सम्मिलित रहते हुए अगर बड़े भाई छोटों का पालन-पोषण करें तो उसके बाद अलग होते हुए] (ज्येष्ठस्य विंशः उद्धारः) पिता के धन में से बड़े भाई का बीसवां भाग 'उद्धार' [=अतिरिक्त भागविशेष] होता है (च) और (सर्वद्रव्यात् यत् वरम्) सब पदार्थों में से जो सबसे श्रेष्ठ पदार्थ हो वह भी (ततः+अर्धम्) बड़े के 'उद्धार' से आधा उद्धार (मध्यमस्य) मझले भाई का अर्थात् चालीसवां भाग (तुरीयं तु यवीयसः स्यात्) चौथाई भाग अर्थात् अस्सीवां भाग सबसे छोटे भाई का 'उद्धार' होना चाहिए ॥ ११२ ॥

अनुशीलन : (१) **उद्धार-भाग का विभाजन**—'उद्धार' पैतृक सम्पत्ति में से पृथक् किये गये उस भाग को कहते हैं जिसका लाभ बड़े भाई को मिलता है, १०५—१११ श्लोकों की अनुवृत्ति के अनुसार यह 'उद्धार' तभी मिल सकता है जब बड़ा छोटों को पितृवत् पालन-पोषण करके बड़ा करे।

समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—मान लिया कि पैतृक सम्पत्ति ९६० रुपये है। उसमें बड़े भाई का बीसवां भाग (९६०÷२०=४८) ४८ रु० 'उद्धार' निकलेगा, मझले भाई का चालीसवां भाग (९६०÷४०=२४) २४ रु० होगा, छोटे भाई का अस्सीवां भाग (९६०÷८०=१२) १२ रु० 'उद्धार' होगा। 'उद्धार' का 'धन' बंटने के बाद शेष धन को सभी भाई बराबर बांट लेंगे, यथा –४८+२४+१२=८४, ९६०—८४=८७६, ८७६÷३=२९२, इस प्रकार २९२-२९२ रु० प्रत्येक के हिस्से में आये। इस विधि से बड़े भाई को २९२+४८=३४० रु०, उसमें मझले भाई को २९२+२४=३१६ रु० छोटे भाई को २९२+१२=३०४ रु० प्राप्त हुए।

(२) **उद्धार-भाग का विधान क्यों ?**—९। १०४ में पैतृक सम्पत्ति का समान विभाजन बतलाया है। इस श्लोक में उद्धार अंश के विभाजन के बाद समान-भाग का विभाजन है। यह विरोध प्रतीत होता है, किन्तु विरोध है नहीं। यह वर्णन विभाजन के द्वितीय विकल्प [१०५] के प्रसंगान्तर्गत है। यह तभी प्राप्त होता है जब बड़े भाई अपने से छोटों का पालन-पोषण करें। सम्मिलित रहते हुए पिता के समान छोटों के निर्माण में श्रम करें। इसी श्रम के परिणामस्वरूप बड़े को अलग होते समय यह अधिक भाग मिलता है क्योंकि उसने छोटों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाये होते हैं।

एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत् ।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११३ ॥ (४७)

(एवम् समुद्धृत+उद्धारे) इस प्रकार [९। ११२–११३] 'उद्धार' [=अतिरिक्त धनविशेष] के निकालने के बाद (समान्-अंशान् प्रकल्पयेत्) शेष धन को समान भागों में बांट लें (तु उद्धारे+अनुद्धृते) यदि 'उद्धार' पृथक् से नहीं निकालें तो (एषाम् अंशकल्पना इयं स्यात्) उन भाइयों के भाग का बंटवारा इस प्रकार करे ॥ ११६ ॥

सम्मिलित रहकर अलग होते हुए विभाजन की अन्य विधि—

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥११७॥ (४८)

(ज्येष्ठः एक-अधिकं हरेत्) बड़ा भाई 'एक अधिक' अर्थात् दो भाग धन ग्रहण करे (तत्+अनुजः पुत्रः अध्यर्धम्) उससे छोटा भाई डेढ़ भाग ले (यवीयांसः अंशम्+अंशम्) छोटे भाई एक-एक भाग सम्पत्ति का ग्रहण करें (इति धर्मः व्यवस्थितः) यही धर्म की व्यवस्था है ॥ ११७ ॥

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥११८॥(४९)

(भ्रातरः) सब भाई (कन्याभ्यः) अविवाहित बहनों के लिए पृथक् (चतुर्भागम्) पृथक्-पृथक् चतुर्थांश भाग (स्वेभ्यः प्रदद्युः) अपने भागों से देवें (स्वात् स्वात्+अंशात् अदित्सवः) अपने-अपने भाग से चतुर्थांश भाग न देने वाले भाई (पतिताः स्युः) पतित=दोषी और निन्दनीय माने जायेंगे ॥ ११८ ॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥ (५०)

(अजा+अविकम् स+एकशफं विषमम्) बकरी, भेड़, एक खुरवाली घोड़ी आदि के विषम होने पर (न जातु भजेत्) उन्हें [बेचकर धनराशि के रूप में] विभाजित न करें (विषमम् अजाविकं तु) विषम रूप में बचे बकरी-भेड़ आदि पशु (ज्येष्ठस्य+एव विधीयते) बड़े भाई को ही प्राप्त होते हैं ॥ ११९ ॥

पुत्रिका करने का उद्देश्य—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥ (५१)

(अपुत्रः) पुत्रहीन पिता (अस्यां यत्+अपत्यं भवेत् तत् मम स्वधाकरं स्यात्) इस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मुझ वृद्धावस्था

में अन्न-भोजन आदि से पालन-पोषण करने वाला होगा और इस प्रकार सुख देने वाला होगा' (अनेन विधिना सुतां पुत्रिकां कुर्वीत) ऐसा दामाद से कहकर कन्या को 'पुत्रिका' करे ।। १२७ ।।

अनुशीलन : (१) **'स्वधा' का मनुसम्मत अर्थ**—इस श्लोक में टीकाकार 'स्वधा' शब्द का श्राद्ध प्रसंग में पिण्डदान आदि अर्थ करते हैं, यह अर्थ मनु-सम्मत नहीं है। इस भाष्य में दिया गया अर्थ मनुसम्मत एवं प्रामाणिक है। उसमें निम्न प्रमाण एवं युक्तियां हैं—(क) मनु मृतकश्राद्ध नहीं मानते, अतः उस प्रसंग का अर्थ करना ही मनुविरुद्ध है [इसके लिए देखिए विस्तृत व्याख्यान ३। ८१, ८२ और २८४ पर]। (ख) निरुक्तकार ने स्वधा शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—"**स्वधा अन्ननाम**" [२।७] "**स्वधा उदकनाम**" [१।१२], इनसे सिद्ध होता है कि 'स्वधाकार' का अर्थ हुआ 'अन्न-जलादि से पालन पोषण करने वाला इस अर्थ की पुष्टि ३। ८२ से भी हो जाती है। (ग) 'स्व' स्वजनों को भी कहते हैं, **स्वान्=पितृन् दधाति यया क्रियया सा स्वधा'** इस व्युत्पत्ति के आधार पर वृद्धावस्था में अन्न, जल, सेवा-सुश्रूषा आदि से सुख देना ही 'स्वधा' क्रिया कहलायेगी। (घ) पुत्रोत्पत्ति का भी व्यक्ति का यही उद्देश्य होता है कि वह कष्टों से बचाये, सुख दे, वृद्धावस्था में संभाले [द्रष्टव्य ९। १३८ श्लोक एवं उस पर समीक्षा]। (ङ) व्यक्ति को सबसे पहले यही इच्छा होती है कि उसकी सन्तान उसके लिए सुखदायी बने। इसीलिए पुत्रहीन व्यक्ति 'पुत्रिका' की विधि अपनाता है। इस प्रकार 'स्वधाकर' का उपर्युक्त अर्थ ही उपयुक्त है।

(२) **पुत्रिका धर्म**—पुत्रिका करने का अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति का कोई पुत्र न हो किन्तु पुत्री हो, तो वह पुत्री का विवाह करते समय दामाद पक्ष वालों से यह निश्चय कर लेता है कि इससे जो प्रथम पुत्र होगा उसे मैं गोद लूंगा। अर्थात् वह नाना की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा। ऐसे निश्चय को 'पुत्रिकाधर्म' कहते हैं।

पुत्र के अभाव में सारे धन की पुत्री अधिकारिणी—

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥ १३० ॥ (५२)

(यथा+एव आत्मा तथा पुत्रः) जैसी अपनी आत्मा है वैसा ही पुत्र होता है, और (पुत्रेण दुहिता समा) पुत्र जैसी ही पुत्री होती है (तस्याम्+आत्मनि तिष्ठन्त्याम्) उस आत्मारूप पुत्री के रहते हुये (अन्यः धनं कथं हरेत्) कोई दूसरा धन को कैसे ले सकता है? अर्थात् पुत्र के अभाव में पुत्री ही धन की अधिकारिणी होती है ।। १३० ।।

अनुशीलन : पुत्र-पुत्री आत्मारूप—निरुक्तकार ने दायभाग का विश्लेषण करते हुए मनु की मान्यता के अनुरूप पुत्र और पुत्री दोनों को दायभाग का अधिकारी माना है। किसी प्राचीन ग्रन्थ के श्लोकों को उद्धृत करके यास्क ने मनु की

इस मान्यता को निम्न श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया है —

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधि जायसे ।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ [निरु० ३।१।४]

अर्थात्—हे पुत्र ! तू मेरे अंग-अंग से उत्पन्न हुआ है और मेरी आत्मा से प्रकट हुआ है अतः तू पुत्र मेरी आत्मा का ही रूप है । तू सैंकड़ों वर्षों तक जीये ॥ धर्मानुसार पुत्र और पुत्री दोनों का समानभाव से दायभाग में अधिकार होता है— यह मान्यता सृष्टि के आदि में स्वायम्भुव मनु ने व्यक्त की है ।

माता का धन पुत्रियों का ही होता है—

मातुस्तु यौतकं यत् स्यात्कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥(५३)

(मातुः तु यत् यौतकं स्यात्) माता का जो [विवाह आदि के अवसर पर निजी धन के रूप में पिता-भाई से प्राप्त] धन होता है (सः कुमारी-भागः एव) वह कन्या का ही भाग होता है (च) तथा (अपुत्रस्य अखिलं धनं दौहित्रः एव हरेत्) पुत्रहीन नाना के सम्पूर्ण धन को धेवता ही प्राप्त कर लेवे ॥ १३१ ॥

पुत्रिका करने पर पुत्र होने की अवस्था में दायव्यवस्था –

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥१३४।(५४)

(पुत्रिकायां कृतायां तु) 'पुत्रिका' कर लेने के बाद (यदि पुत्रः+अनुजायते) यदि किसी को पुत्र उत्पन्न हो जाये तो (तत्र समः विभागः स्यात्) उस स्थिति में, उन दोनों को [धेवता और निजपुत्र को] धन का समान भाग मिलेगा (हि) क्योंकि (स्त्रियाः ज्येष्ठता न+अस्ति) स्त्री को ज्येष्ठत्व=बड़े पुत्र की भांति 'उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होता । अतः धेवते को भी वह 'उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होगा ॥ १३४ ॥

पुत्र का लक्षण—

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ १३८ ॥ (५५)

(यः) जो (सुतः) पुत्र (पितरम्) माता-पिता को (पुम्नाम्नः नरकात्) 'पुम्=वृद्धावस्था आदि से उत्पन्न होने वाले दुःखों से (त्रायते) रक्षा करता है (तस्मात्) इस कारण से (स्वयंभुवा स्वयमेव पुत्रः इति प्रोक्तः) स्वयंभू ईश्वर ने वेदों में बेटे को 'पुत्र' संज्ञा से अभिहित किया है [द्रष्टव्य

है—'सर्वेषां तु स नामानि.............वेदशब्देभ्य एवादौ..............निर्ममे" १।२१] ॥१३८॥*

अनुशीलन : पुत्र का अर्थ और उद्देश्य—इस श्लोक में मनु ने पुत्र शब्द की परिभाषा दी है। उस पर यहां विस्तार से विचार किया जाता है। इस परिभाषा से यह सिद्ध हो जाता है कि सांसारिक व्यक्तियों का पुत्रप्राप्ति का उद्देश्य यह होता है कि पुत्र, जीवन में, वृद्धावस्था में कष्ट से रक्षा करें और धन-अन्न-जल आदि से पालन-पोषण करें। इस परिभाषा से इस अध्याय में वर्णित उन सभी मान्यताओं का खण्डन हो जाता है जिनमें पिण्डदान श्राद्ध आदि के लिए पुत्रप्राप्ति मानी है। यहां प्रमाणों के साथ पुत्र शब्द का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है—

'पूञ् पवने' (क्र्यादि) धातु से **'पुवो ह्रस्वश्च'** (उणादि ४।१६५) सूत्र से क्त प्रत्यय के योग से पुत्र शब्द सिद्ध होता है। इसकी निरुक्ति करते हुए ऋषि यास्क लिखते हैं—**'पुरु त्रायते' पिपरणाद्वा, पुम्=नरकं ततस्त्रायत इति वा"** (२।११) अर्थात् सभी प्रकार से सुरक्षा करता है, पालन-पोषण करता है अथवा पुम् नरक=कष्ट को कहते हैं, उस वृद्धावस्था आदि के कष्ट से रक्षा करता है, इसलिए बेटे का 'पुत्र' नाम है। नरक किसे कहते हैं, इसका भी निरुक्तकार ने स्पष्टीकरण किया है कहीं किसी को नरक नामक लोकविशेष की भ्रान्ति न हो जाये—**"नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्, नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा"** (१।१०) अर्थात् नरक कष्टपूर्ण गति, अधः-पतन को कहते हैं, इस कष्ट गति में थोड़ा-सा भी सुख-आराम का स्थान नहीं है। इस प्रकार कष्टपूर्ण स्थिति को नरक कहते हैं। पुत्र अपने पिता-माता आदि को उससे बचाता है ४।८८-९० (प्रक्षिप्तसिद्ध) श्लोकों में इक्कीस नरकों की गणना है। वहां 'पुम्' नामक कोई नरक परिगणित नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि 'पुम्' का नरक विशेष अर्थ न होकर 'कष्टपूर्ण' अर्थ ही मनुसम्मत है। तुलनार्थ गोपथब्राह्मण की परिभाषा भी उल्लेखनीय है—

"पुत्रः पुन्नाम नरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रः, तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम्"

नरक कोई पृथक् लोक नहीं होता। इस विषयक विस्तृत अनुशीलन ४।६१ पर द्रष्टव्य है। [महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक को यजु० ८।५ के मन्त्रार्थ के पुत्रार्थप्रसंग में उद्धृत किया है।]

दत्तकपुत्र के दायभाग का विधान—

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः।
स हरेतैव तद्रिक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥ (५६)

(यस्य तु दत्त्रिमः पुत्रः) जिसका 'दत्तक'=गोद लिया हुआ पुत्र (सर्वैः गुणैः उपपन्नः) सभी श्रेष्ठ या वर्णोचित पुत्रगुणों से [९।१३८]

---

* [प्रचलित अर्थ—जिस कारण पुत्र 'पुम्' नामक नरक से पितरों की रक्षा करता है। उस कारण से स्वयं ब्रह्मा ने उसे पुत्र कहा है॥ १३८॥]

सम्पन्न हो, (अन्यगोत्रत: सम्प्राप्त:+अपि) चाहे वह दूसरे वंश का ही क्यों न हो (स: तत् रिक्थं हरेत+एव) वह उस गोद लेने वाले पिता के धन को निश्चित रूप से प्राप्त करता है ॥ १४१ ॥

नियोग से उत्पन्न क्षेत्रज पुत्र के दायभाग का विधान —

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः ।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ १४५ ॥ (५७)

(तत्र नियुक्तायाम्) नियोग के लिए नियुक्त स्त्री में (यथा+औरस: जात: पुत्र:) 'औरस'=वैध पुत्र के समान उत्पन्न हुआ क्षेत्रज पुत्र (हरेत्) पितृधन का भागी होता है; क्योंकि (यत् क्षेत्रिकस्य बीजम्) वह क्षेत्रिक =क्षेत्र स्वामी का ही बीज माना जाता है, यतोहि (स: धर्मत: प्रसव:) वह धर्मानुसार नियोग से [९ । ५९] उत्पन्न होता है ॥ १४५ ॥

धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥१४६॥ (५८)

(मृतस्य भ्रातु:) मरे हुए भाई के (धनं च स्त्रियम्+एव य: बिभृयात्) धन और स्त्री को जो भाई रक्षा करे (स:+अपत्यम्+उत्पाद्य) वह भाई की स्त्री में सन्तान उत्पन्न करके (भ्रातु: तत् धनं तस्यैव दद्यात्) भाई का वह प्राप्त सब धन उस पुत्र को ही दे देवे ॥ १४६ ॥

नियोगविधि के बिना उत्पन्न पुत्र दायभाग का अनधिकारी—

याऽनियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात् ।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥१४७॥ (५९)

(या अनियुक्ता) जो स्त्री नियोगविधि [९ । ५९] के बिना (अन्यत: वा देवरात् अपि) अन्य सजातीय पुरुष से या देवर से भी (पुत्रम् अवाप्नुयात्) पुत्र प्राप्त करे (तम्) उस पुत्र को (कामजं वृथोत्पन्नम् अरिक्थीयम्) 'कामज'=कामवासना के वशीभूत होकर [९ । ५८, ६३] उत्पन्न किया गया, 'वृथोत्पन्न'=व्यर्थ में उत्पन्न और पितृधन का अनधिकारी (प्रचक्षते) कहते हैं ॥ १४७ ॥

अनुशीलन : १४७ श्लोक की प्रसंगसम्बद्धता पर विचार—१४७ वें श्लोक में नियोगविधि को त्यागकर प्राप्त किये गये पुत्र को 'वृथा-उत्पन्न' पुत्र की संज्ञा दी है। यह विधान विवाहित वा विधवा स्त्री के लिए है, अक्षतयोनि के लिए नहीं। अक्षतयोनि स्त्री के लिए इसमें अपवाद है। वह पुनर्विवाह कर सकती है और उससे उत्पन्न होने वाला पुत्र 'वैध' तथा पैत्रिक धन का अधिकारी माना जायेगा। इस भाव के अनुसार इस श्लोक का प्रसंग ९।१७६ से जुड़ता है।

अक्षतयोनि के पुनर्विवाह का विधान—

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागताऽपि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥ (६०)

(सा चेत्+अक्षतयोनिः स्यात्) वह स्त्री यदि 'अक्षतयोनि=जिसका संभोगसम्बन्ध न हुआ हो, ऐसी हो (वा) चाहे वह (गत-प्रत्यागता+अपि) पति के घर गई-आई हुई भी हो, (सा) वह (पौनर्भवेन भर्त्रा) दूसरे पति के साथ (पुनः संस्कारम्+अर्हति) पुनः विवाह कर सकती है ॥ १७६ ॥

"जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहण मात्र संस्कार हुआ हो और संयोग अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए।" (स० प्र० ११२)

अनुशीलन : १७६ श्लोक की मौलिकता एवं प्रसंगसम्बद्धता में युक्तियां—(१) १७६ श्लोक मौलिक है और इसका प्रसंग ९।१४७ से जुड़ता है। १४७ में अनियोगज पुत्र को 'वृथोत्पन्न' कहकर उसे दायभाग का अनधिकारी घोषित किया है किन्तु अक्षतयोनि स्त्री के लिए वह नियम नहीं है, यह दर्शाने के लिए १७६ वां श्लोक अपवादरूप में विहित है। अक्षतयोनि स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है और उससे जो सन्तान उत्पन्न होगी वह 'वैध' एवं दायभाग की अधिकारिणी होगी। यही इस श्लोक का अभिप्राय है। (२) यह श्लोक मौलिक है, प्रक्षिप्त इसलिए नहीं कहला सकता—(क) क्योंकि इसका पूर्वापर प्रक्षिप्त प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह पूर्वापर प्रसंग से भिन्न अपवादात्मक विधान है जिसका १४७ से सम्बन्ध है (ख) पूर्वापर प्रसंग विविध प्रकार के पुत्रों की परिभाषा का है। १७५ वें में 'पौनर्भव' पुत्र की परिभाषा और १७७ में 'स्वयंदत्त' की है। इस श्लोक में पुत्र-परिभाषा-प्रसंग न होकर अपवादात्मक विधान है (ग) इसका १७५ के 'पौनर्भव' शब्द के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसमें पौनर्भव' पुत्र के लिए कहा गया है और इसमें द्वितीय पति के लिए। इस प्रकार यह मौलिक विधान है।

[मातृधन का विभाग]

मातृधन को भाई-बहन बराबर बांट लें—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥१९२॥ (६१)

(जनन्यां संस्थितायां तु) माता के मर जाने पर (सर्वे सहोदराः च सनाभयः भगिन्यः) सब सगे भाई और सब सगी बहनें (मातृकं रिक्थं समं भजेरन्) माता के धन को बराबर-बराबर बांट लें ॥ १९२ ॥

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३ ॥(६२)

(तासां याः दुहितरः स्युः) उन सगी बहनों की जो पुत्रियां हों (तासां अपि यथार्हतः) उनको भी यथायोग्य (प्रीतिपूर्वकं मातामह्याः धनात् किंचित् प्रदेयम्) प्रेमपूर्वक नानी के धन में से कुछ देना चाहिए ॥ १९३ ॥

स्त्रीधन छः प्रकार का—

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥१९४॥(६३)

(स्त्रीधनं षड्विधं स्मृतम्) स्त्रीधन छः प्रकार का माना गया है—१ (अधि+अग्नि) विवाहसंस्कार के समय दिया गया धन, २. (अधि+आवाहनिकम्) पति के घर लायी जाती हुई कन्या को प्राप्त हुआ पिता के घर का धन, ३. (प्रीति कर्मणि च दत्तम्) प्रसन्नता के किसी अवसर पर पति आदि के द्वारा दिया गया धन, ४. (भ्रातृ-मातृ-पितृ-प्राप्तम्) भाई से प्राप्त धन, ५. माता से प्राप्त धन, ६. पिता से प्राप्त धन ॥ १९४ ॥

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥१९५॥(६४)

(यत् अन्वाधेयम्) जो अन्वाधेय अर्थात् विवाह के पश्चात् पिता या पति द्वारा दिया गया है, वह धन (च) और (यत् प्रीतेन पत्या दत्तम्) जो प्रीतिपूर्वक पति के द्वारा दिया गया धन है (वृत्तायाः) स्त्री के मरने पर (पत्यौ जीवति) और पति के जीवित रहते भी (तत्धनं प्रजायाः भवेत्) वह धन सन्तानों का ही होता है ॥ १९५ ॥

ब्राह्मादि विवाहों में स्त्रीधन का अधिकारी पति—

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥ (६५)

(ब्राह्म-दैव-आर्ष-गान्धर्व-प्राजापत्येषु यद् वसु) ब्राह्म, आर्ष, गान्धर्व, प्राजापत्य दि गहों में जो स्त्री को धन प्राप्त हुआ है (अप्रजायाम्+अतीतायाम्) स्त्री के सन्तानहीन मर जाने पर (तत् भर्तुः+एव इष्यते) उस धन पर पति का ही अधिकार माना गया है ॥ १९६ ॥

आसुरादि विवाहों में स्त्रीधन के उत्तराधिकारी—

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥१९७॥ (६६)

(यत् तु अस्याः) और जो इस (आसुरादिषु विवाहेषु दत्तं धनं स्यात्) 'आसुर' आदि विवाहों में दिया गया धन हो (अप्रजायाम्+अतीतायाम्)

स्त्री के निःसन्तान मर जाने पर (तत् मातापित्रोः इष्यते) वह धन स्त्री के माता-पिता का हो जाता है ॥ १९७ ॥

स्त्रियाँ कुटुम्ब से छिपाकर धन न जोड़ें—

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद् बहुमध्यगात् ।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥१९९॥(६७)

(स्त्रियः) स्त्रियाँ (कुटुम्बात् बहुमध्यगात्) बहुत सदस्यों के कुटुम्ब से चुपके से धन ले-लेकर (निर्हारं न कुर्युः) अपने लिए धनसंग्रह और व्यय न करें (च) और (स्वकात् वित्तात् अपि हि) अपने धन में से भी (स्वस्य भर्तुः+अनाज्ञया) अपने पति की आज्ञा के बिना व्यय न करें ॥ १९९ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥२००॥(६८)

(पत्यौ जीवति) पति के जीते हुए (स्त्रीभिः यः अलंकारः धृतः भवेत्) स्त्रियों ने जो आभूषण धारण किये हैं, [पति के मर जाने पर] (दायदाः तं न भजेरन्) माता-पिता के धन के अधिकारी पुत्र आदि [माता के जीवित रहते] उसको न बांटें (भजमानाः ते पतन्ति) यदि वे उन्हें लेते हैं तो 'पतित' कहलाते हैं ॥ २०० ॥

धन के अनधिकारी विकलांग—

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥ (६९)

(क्लीब-पतितौ) नपुंसक, (जाति+अन्ध-बधिरौ) जन्म से अन्धे और बहरे (उन्मत्त-जड़-मूकाः च) पागल, वज्रमूर्ख और गूंगे (च) और (ये केचित् निरिन्द्रियाः) जो कोई किसी इन्द्रिय से पूर्ण विकलांग हैं और असमर्थ हैं (अनंशौ) ये लूले लंगड़े आदि सब धन के हिस्सेदार नहीं होते क्योंकि ये धन की सुरक्षा और उपयोग के अयोग्य होते हैं ॥ २०१ ॥

इन्हें भोजन छादन देते रहें—

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥२०२॥(७०)

किन्तु (मनीषिणा) बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि (सर्वेषाम्+अपि शक्त्या) इन सबको यथाशक्ति (ग्रास+आच्छादनम्) भोजन, वस्त्र आदि (अत्यन्तम्) अनिवार्य रूप से (दातुम्) देना ही (न्याय्यम्) न्यायो-

चित है. (अददत् हि पतितः भवेत्) इस प्रकार न देने वाला 'पतित' माना जायेगा ॥ २०२ ॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥२०३॥ (७१)

(यदि क्लीबादीनां कथंचन दारैः अर्थिता स्यात्) यदि नपुंसक आदि इन पूर्वोक्तों को भी विवाह करने की इच्छा हो तो (तेषाम्+उत्पन्नतन्तूनाम्) इनके उत्पन्न 'क्षेत्रज'=नियोगज पुत्र आदि (अपत्यम्) सन्तान (दायम्+अर्हति) इनके धन को भागी होती है ॥ २०३ ॥

सम्मिलित रहते बड़े भाई के कमाये धन की व्यवस्था—

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥ (७२)

(विद्याधनम् मैत्र्यम् च औद्वाहिकं च माधुपर्किकम्+एव) विद्या के कारण प्राप्त, मित्र से प्राप्त, विवाह में प्राप्त और पूज्यता के कारण आदर सत्कार में प्राप्त (यत् यस्य धनम्) जो जिसका धन है (तत् तस्य+एव भवेत्) वह उसी का ही होता है ॥ २०६ ॥

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किंचिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥२०७॥(७३)

(भ्रातृणां यः तु स्वकर्मणा शक्तः) भाइयों में जो भाई अपने उद्योग से समृद्ध हो और (धनं न ईहेत) पितृधन का भाग न लेना चाहे तो (सः) उसको भी (स्वकात्+अंशात् किंचित् उपजीवनं दत्वा) अपने-अपने पितृ-धन के हिस्सों से कुछ धन देकर (निर्भाज्यः) अलग करना चाहिए, बिल्कुल बिना दिये नहीं ॥ २०७ ॥

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥ (७४)

(पितृधनम् अनुपघ्नन्) पितृ-धन को बिल्कुल भी उपयोग में न लाता हुआ यदि कोई पुत्र (श्रमेण यत्+उपार्जितम्) केवल अपने परिश्रम से धन उपार्जित करे तो (स्वयम्+ईहित-लब्धं तम्) अपने परिश्रम से संचित उस धन में से (दातुम् अकामः) किसी भाई को कुछ न देना चाहे तो (न अर्हति) न देवे अर्थात् देने के लिए वह बाध्य नहीं है ॥ २०८ ॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९ ॥ (७५)

(पिता तु) यदि कोई पिता (अन्+अवाप्तं पैतृकं द्रव्यम्) दायरूप में अप्राप्त पैतृक धन अर्थात् ऐसा धन जो है तो परम्परा से पैतृक, किन्तु किसी कारण से वह उसके पिता के अधिकार में नहीं रहा, इस कारण उसे पैतृक दायभाग के रूप में भी नहीं मिला, उसको (तत्+आप्नुयात्) यदि वह स्वयं अपने परिश्रम या उपाय से प्राप्त करले तो (तत् स्वयम्+अर्जितम् धनम्) उस स्वयं के परिश्रम से प्राप्त किये धन को [जैसे गिरवी रखा हुआ धन] (अकामः) यदि वह न चाहे तो (पुत्रैः सार्धम् न भजेत्) अपने पुत्रों में न बांटे अर्थात् ऐसा धन पिता के द्वारा स्वयं किये हुए धन जैसा है। उसका देना, न देना या विभाजन करना पिता की इच्छा पर निर्भर है। वह जैसा चाहे कर सकता है ॥ २०९ ॥

पुनः एकत्र होकर पृथक् होने पर उद्धार भाग नहीं—

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ।।२१०।।(७६)

सब भाई (विभक्ताः) एक बार विभाग का बंटवारा करके (सहजीवन्तः) फिर सम्मिलित होकर (यदि पुनः विभजेरन्) यदि फिर अलग होना चाहें तो (तत्र समः विभागः स्यात्) उस स्थति में सबको समान भाग प्राप्त होगा (तत्र ज्यैष्ठ्यं न विद्यते) तब उसमें ज्येष्ठ भाई का 'उद्धार' भाग [९ । ११२-११५] नहीं होता ॥ २१० ॥

भाई के मरने पर उसके धन का विभाग—

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।
म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ।।२११।।(७७)

(येषां ज्येष्ठः वा कनिष्ठः) जिन भाइयों में से बड़ा या छोटा भाई अंशप्रदानतः हीयेत) अपने भाग से वंचित रह जाये, (म्रियेत वा अन्यतरः अपि) मर जाये अथवा अन्य किसी गृहत्याग आदि कारण से भाग न लेवें तो (तस्य भागः न लुप्यते) उसका भाग नष्ट नहीं होता अर्थात् उसके पुत्र पत्नी आदि को प्राप्त होता है ॥ २११ ॥

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ।।२१२।। (७८)

[यदि पुत्र, स्त्री आदि न हों तो] (सहिताः सोदर्याः) सभी सगे भाई (च) और (ये संसृष्टाः भ्रातरः) जो सम्मिलित भाई (च) तथा (सनाभयः भगिन्यः) सब सगी बहनें हैं, वे (समेत्य) एकत्रित होकर (तं समं विभजेरन्) उस धन को समान-समान बांट लेवें ॥ २१२ ॥

कर्त्तव्यपालन न करने पर बड़े भाई को उद्धार भाग नहीं—

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातॄन् यवीयसः ।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ २१३॥ (७९)

(यः ज्येष्ठः) जो बड़ा भाई (यवीयसः भ्रातॄन् लोभात् विनिकुर्वीत) छोटे भाइयों को लोभ में आकर ठगे, पूरा भाग न दे तो (सः+अज्येष्ठः) उसे बड़े के रूप में नहीं मानना चाहिए (च) और (अभागः स्यात्) उसे बड़े भाई के नाम का 'उद्धार भाग' [९ । ११२–११५] भी नहीं देना चाहिए (च) और (राजभिः नियन्तव्यः) वह राजा के द्वारा दण्डनीय होता है ॥ २१३ ॥

दायधन से वंचित लोग—

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।
न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४ ॥ (८०)

(विकर्मस्थाः सर्वे+एव भ्रातरः) [जुआ खेलना, चोरी करना, डाका डालना आदि] बुरे कामों में संलग्न रहने वाले सभी भाई (धनं न+अर्हन्ति) धनभाग को प्राप्त करने के अधिकारी नहीं होते (च) और (कनिष्ठेभ्यः अदत्त्वा) छोटे भाइयों को बिना दिये=बिना बांटे (ज्येष्ठः यौतकं न कुर्वीत) बड़ा भाई अपने लिए पितृधन में से अलग से धन न ले ॥ २१४ ॥

पितृ-धन का विषम विभाजन न करे—

भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥ २१५ ॥ (८१)

(अविभक्तानां भ्रातॄणां यदि सह उत्थानं भवेत्) सम्मिलित रूप में रहते हुए सब भाइयों ने यदि साथ मिलकर धन इकट्ठा किया हो तो (पिता) पिता (कथञ्चन पुत्रभागं विषमं न दद्यात्) किसी भी प्रकार पुत्रों के भाग को विषम अर्थात् किसी को अधिक किसी को कम रूप में न बांटे, सभी को बराबर दे ॥ २१५ ॥

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥ (८२)

(विभागात् ऊर्ध्वं जातः तु) धन का बंटवारा करके [पिता की जीवित अवस्था में ही] पुत्रों के अलग हो जाने पर यदि कोई पुत्र उत्पन्न

हो जाये तो (पित्र्यम्+एव धनं हरेत्) वह पिता के धन को ले (वा) अथवा (ये तेन संसृष्टाः स्युः) जो कोई पुत्र पिता के साथ सम्मिलित रूप में रह रहे हों तो (सः तैः सह विभजेत) वह उन सबके समान भाग प्राप्त करे ॥ २१६ ॥

इकलौते सन्तानहीन पुत्र के धन का उत्तराधिकार—

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥ (८३)

(अनपत्यस्य पुत्रस्य दायम्) सन्तानहीन और पत्नीहीन पुत्र के धन को (माता+अवाप्नुयात्) माता प्राप्त करे (च) और (मातरि+अपि वृत्तायाम्) माता मर गई हो तो (पितुः माता धनं हरेत्) पिता की माता अर्थात् दादी उसके धन को ले ले ॥ २१७ ॥

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ।
पश्चाद् दृश्येत यत्किंचित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥(८४)

(सर्वस्मिन् ऋणे च धने) पिता के सारे ऋण और धन का (यथाविधि प्रविभक्ते) विधिपूर्वक बंटवारा हो जाने पर (यत् किंचित् पश्चात् दृश्येत) यदि बाद में कुछ ऋण और धन के शेष रहने का पता लगे तो (तत् सर्वं समतां नयेत्) उस सबको भी समान रूप में बांट लें ॥ २१८ ॥

[१८] द्यूत-सम्बन्धी विवाद का निर्णय [८५ — ६६]

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥ (८५)

(अयम्) यह [६ । १०३ - २१६] (वः) तुमको (विभागः) दायभाग का विधान (च) और (क्षेत्रज+आदीनां पुत्राणां क्रियाविधिः) 'क्षेत्रज' आदि पुत्रों को [६ । १४५ - १४७] धन का भाग देने की विधि (क्रमशः उक्तः) क्रमशः कही ।

अब (द्यूतधर्मं निबोधत) जूआ-सम्बन्धी विधान सुनो—॥ २२० ॥

राष्ट्रघातक जूआ आदि का पूर्ण निवारण—

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥ (८६)

(राजा) राजा (द्यूतम्) जड़ पदार्थों से बाजी लगाकर खेले जाने

वाले 'जूआ' को (च) और (समाह्वयम्+एव) चेतन प्राणियों को दाव पर लगाकर खेले जाने वाले 'समाह्वय' नामक 'जूआ' को [२२३] (राष्ट्रात् निवारयेत्) अपने देश से समाप्त कर दे, क्योंकि (एतौ द्वौ दोषौ) ये दोनों बुराइयां (पृथिवीक्षितां राजान्तकरणौ) राजाओं के राज्य को नष्ट कर देने वाली हैं ॥ २२१ ॥

अनुशीलन : (१) **द्यूत से हानि**—इस श्लोक के भाव को समझने के लिए परवर्ती उदाहरण महाभारत के समय का दिया जा सकता है। द्यूत और समाह्वय के व्यसन के कारण पाण्डवों को अपनी इज्जत और राज्य सब कुछ लुटाना पड़ा था। परिणाम-स्वरूप कौरवों-पाण्डवों में भयंकर महाभारत-युद्ध हुआ, जिसमें कौरवों का विनाश हुआ और पाण्डवों को विभिन्न प्रकार के कष्ट उठाने पड़े।

(२) **वेदों में जूए का निषेध**—वेदों में जूए की तीव्र शब्दों में निन्दा की है और निषेध किया है। ऋक् १०। ३४ सूक्त में जुआरी की दुर्दशा का दयनीय वर्णन है। इस सूक्त के १३ वें मन्त्र में आदेश है—

अक्षैर्मा दीव्यः=जूआ मत खेलो।

जूआ एक तस्करी है—

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद् देवनसमाह्वयौ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥ (८७)

(यत् देवन-समाह्वयौ) ये जो 'जूआ' और 'समाह्वय' हैं (एतत् प्रकाशं तास्कर्यम्) ये प्रत्यक्ष में होने वाली तस्करी=चोरी हैं (नृपतिः) राजा (तयोः प्रतीघाते) इनको समाप्त करने के लिये (नित्यं यत्नवान् भवेत्) सदा प्रयत्नशील रहे ॥ २२२ ॥

द्यूत और समाह्वय में भेद—

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥ (८८)

(अप्राणिभिः यत् क्रियते) बिना प्राणियों अर्थात् जड़ [ताश, पासा, कौड़ी, गोटी आदि] वस्तुओं के द्वारा बाजी लगाकर जो खेल खेला जाता है (लोके तत् 'द्यूतम्' उच्यते) लोक में उसे 'द्यूत'=जूआ कहा जाता है और (यः तु) जो (प्राणिभिः क्रियते) चेतन प्राणियों [मनुष्य, मुर्गा, तीतर, बटेर, घोड़ा आदि] के द्वारा बाजी लगाकर खेला जाता है (सः 'समाह्वयः' विज्ञेयः) उसे 'समाह्वय' कहा जाता है ॥ २२३ ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥ (८९)

(यः) जो मनुष्य (द्यूतं च समाह्वयम्+एव) 'जूआ' और 'समाह्वय' (कुर्यात् वा कारयेत) स्वयं खेले या दूसरों से खिलायें (राजा) राजा (तान् सर्वान्) उन सबको (च) और (द्विजलिङ्गिनः शूद्रान्) कपटपूर्वक द्विजों के वेश धारण करने वाले शूद्रों को (घातयेत्) शारीरिक दण्ड [ताड़ना, अंगच्छेदन] आदि दे ॥ २२४ ॥

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान् पाखण्डस्थांश्च मानवान् ।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥२२५॥(९०)

और (कितवान्) जुआरियों, (कुशीलवान्) असभ्य नाच-गानों से जीविका करने वाले, (क्रूरान्) क्रूर=अत्याचारी आचरण वाले, (पाखण्डस्थान्) ढोंग आदि रचकर रहने वाले, (विकर्मस्थान्) शास्त्रविरुद्ध बुरे कर्म करने वाले, (शौण्डिकान्) शराब बनाने-बेचने वाले (मानवान्) इन मनुष्यों को (पुरात् क्षिप्रं निर्वासयेत्) राजा अपने राज्य से जल्दी से जल्दी बाहर निकाल दे ॥ २२५ ॥

अनुशीलन : **'कुशीलव' का अर्थ**—'कुशीलव' का विग्रह है **'कुत्सितं शीलम् 'कुशीलम्' कुशीलम् अस्य अस्ति सः कुशीलवः"** [मत्वर्थीय 'व' प्रत्यय] अर्थात् जिनका निन्दनीय स्वभाव और चेष्टाएं हैं, असभ्य या भोंडे ढंग के नाच गानों से जीविका करने वाले या राज्य में इस बहाने से कोई अहितकर बात फैलाने वाले व्यक्तियों को 'कुशीलव' कहा जाता है।

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥ (९१)

(एते प्रच्छन्न तस्कराः) ये [९।२२५] छुपे हुए तस्कर=चोर (राष्ट्रे वर्तमानाः) राज्य में रहकर (विकर्मक्रियया) गलत और बुरे कामों को कर-करके (नित्यम्) सदा (राज्ञः) राजाओं और (भद्रिकाः प्रजाः) सज्जन प्रजाओं को (बाधन्ते) हानि और दुःख पहुंचाते रहते हैं ॥ २२६ ॥

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥ (९२)

(एतत् द्यूतम्) यह 'जूआ' (पुराकल्पे महत् वैरकरं दृष्टम्) अब से पहले समय में भी महान् कष्ट एवं शत्रुता पैदा करने वाला देखा गया है (तस्मात्) इसलिए (बुद्धिमान्) बुद्धिमान् मनुष्य (हास्यार्थम्+अपि द्यूतं न

सेवेत) हंसी-मजाक में भी जूआ न खेले ॥ २२७ ॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥ (९३)

(प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा) छुपकर वा सबके सामने (यः नरः तत् निषेवेत) जो मनुष्य 'जूआ' खेले (तस्य दण्डविकल्पः) उसका दण्ड-विधान निश्चित नहीं है (नृपतेः यथेष्टं स्यात्) राजा की इच्छानुसार उसका दण्ड होता है अर्थात् जूआ असह्य दुष्कर्म है [२ १, २२४] उससे होने वाली हानि को देखकर राजा जो भी चाहे अधिक दण्ड दे दे ॥ २२८ ॥

मुकद्दमों के अन्त में उपसंहार

रिश्वत लेकर अन्याय करने वालों को दण्ड—

ये नियुक्तास्तु कार्येण हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥ (९४)

(कार्येषु नियुक्ताः तु ये) मुकद्दमों के कार्यों में राजा द्वारा लगाये गये जो अधिकारी-कर्मचारी (धन+उष्मणा पच्यमानाः) धन की गर्मी अर्थात् रिश्वत आदि के लालच में आसक्त होकर (कार्यिणां कार्याणि हन्युः) वादी-प्रतिवादियों के मुकद्दमों को बिगाड़ें (नृपः) राजा (तान् निःस्वान् कारयेत्) उनकी सारी संपत्ति छीन ले ॥ २३१ ॥

अनुशीलन : मुहावरे का प्रयोग और उसका अर्थ—'धनोष्मणा पच्यमानाः' यह एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है 'धन के लालच में पड़ने वाले लोग' या 'रिश्वत हड़पने वाले'। ऐसे रिश्वतखोर व्यक्तियों की राजा सम्पत्ति छीन ले।

निर्णयों में कपट करने वालों को दण्ड—

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् द्विट्सेविनस्तथा ॥ २३२ ॥ (९५)

(च) और (कूटशासनकर्तॄन्) राजा के निर्णयों को कपटपूर्वक लिखने वाले, (प्रकृतीनां दूषकान्) प्रकृति=प्रजा, मन्त्री, सेनापति आदि को [९। २९४] रिश्वत आदि बुरे कार्यों में फंसाकर बिगाड़ने वाले, (स्त्री-बाल-ब्राह्मणघ्नान् च) स्त्रियों, बच्चों और विद्वानों की हत्या करने वाले, (तथा) तथा (द्विट्–सेविनः) शत्रु से मिलकर उसका भला करने वाले, इनको (हन्यात्) वध से दण्डित करे अर्थात् इनको कठोर से कठोर और कष्टप्रद दण्ड देना चाहिए ॥ २३२ ॥

ठीक निर्णय को किसी दबाव या लालच में आकर न बदले—

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥ २३३ ॥ (९६)

(यत्र क्वचन) जहां किसी मुकद्दमे में (तीरितम्) ठीक निर्णय किया जा चुका हो (च) और (अनुशिष्टं भवेत्) किसी दण्ड का आदेश भी दिया जा चुका हो (धर्मतः तत् कृतं विद्यात्) धर्मपूर्वक किये उस निर्णय को पूरा हुआ जानना चाहिए (तत् भूयः न निवर्तयेत्) उस मुकद्दमे का पुनः निर्णय न करे [यह लोभ या ममत्व आदि के कारण अथवा अकारण निर्णय न बदलने का कथन है, कारण विशेष होने पर तो पुनः निर्णय का कथन किया गया है (८ । ११७; ९ । २३४)] ॥ २३३ ॥

अमात्यों और न्यायाधीशों को अन्याय करने पर दण्ड—

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥ (९७)

(अमात्याः वा प्राड्विवाकः) मन्त्री अथवा न्यायाधीश (यत् कार्यम्+अन्यथा कुर्युः) जिस मुकद्दमे के निर्णय को गलत या अन्यायपूर्वक कर दें तो (तत्) उस मुकद्दमे के निर्णय को (नृपतिः) राजा (स्वयं कुर्यात्) स्वयं करे (च) और (तान्) अन्यायपूर्वक निर्णय करने वाले उन अधिकारियों को (सहस्रं दण्डयेत्) एक हजार पण [८ । १३६] दण्ड से दण्डित करे ॥ २३४ ॥

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥ (९८)

(अवध्यस्य वधे) अदण्डनीय को दण्ड देने पर (नृपतेः) राजा को (यावान्+अधर्मः दृष्टः) जितना अधर्म होना शास्त्र में माना गया है (तावान् वध्यस्य मोक्षणे) उतना ही दण्डनीय को छोड़ने में अधर्म होता है (विनियच्छतः तु धर्मः) न्यायानुसार दण्ड देना ही धर्म है ॥ २४९ ॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥ (९९)

(अयम्) यह [८ । १ से ९ । २४९ तक] (मिथः विवदमानयोः) परस्पर विवाद=झगड़ा करने वाले वादी-प्रतिवादियों के (अष्टादशसु मार्गेषु) अठारह प्रकार के (व्यवहारस्य निर्णयः) मुकद्दमों का निर्णय (विस्तरशः उदितः) विस्तारपूर्वक कहा ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ।
देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥ (१००)

(एवम्) इस पूर्वोक्त कही विधि के अनुसार (धर्म्याणि कार्याणि कुर्वन्) धर्मयुक्त कार्यों को करता हुआ (महीपतिः) राजा (अलब्धान् देशान् लिप्सेत) अप्राप्त देशों को प्राप्त करने की इच्छा करे (च) और (लब्धान् परिपालयेत्) प्राप्त किये देशों का भलीभांति पालन करे ॥२५१॥

राजा द्वारा लोककण्टकों का निवारण—(६।१०१ से १५७ तक)

सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥ (१०१)

राजा (सम्यक् निविष्टदेशः) अच्छे सस्यादिसम्पन्न देश का आश्रय करके (च) और वहां (शास्त्रतः कृतदुर्गः) शास्त्रानुसार विधि [७।६९] से किला बनाकर (कण्टकोद्धरणे) अपने राज्य से कंटकों=प्रजा या शासन को पीड़ित करने वाले लोगों को [२५६–२६०] दूर करने में (नित्यम् उत्तमं यत्नम्+आतिष्टेत्) सदा अधिकाधिक यत्न करे ॥ २५२ ॥

अनुशीलन : **लोककण्टक से अभिप्राय**—समाज की व्यवस्था, सुख, शान्ति में अपराध और नियमविरुद्ध कार्य करके पीड़ा=बाधा पहुंचाने वाले लोग 'लोककण्टक' कहलाते हैं। लोककण्टक शब्द का अर्थ भी यही है—'लोगों को कांटे की तरह चुभकर पीड़ा देने वाले'। इनकी गणना ६।२५६–२६० में की है।

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥ (१०२)

(आर्यवृत्तानां रक्षणात्) श्रेष्ठ आचरण वाले व्यक्तियों की रक्षा करने से (च) और (कण्टकानां शोधनात्) कण्टकों=कष्टदायक दुष्ट व्यक्तियों को दूर करने से (प्रजापालनतत्पराः नरेन्द्राः) प्रजाओं के पालन करने में तत्पर रहने वाले राजा (त्रिदिवं यान्ति) विस्तृत राज्य के उत्तम सुख को भोगते हैं ॥ २५३ ॥

अनुशीलन : **'त्रिदिवं यान्ति' मुहावरा**—'त्रिदिवं यान्ति' यह भी एक मुहावरा है जिसका अर्थ है 'त्रिदिवं प्राप्नुवन्ति'=तीनों लोकों के राज्य को प्राप्त करते हैं अर्थात् उनका राज्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है। यह मुहावरा आजकल भी हिन्दी में इसी अर्थ में प्रचलित है।

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥ (१०३)

(यः तु पार्थिवः) जो राजा (तस्करान् अशासन्) चोर [६।२५५]

आदि को नियन्त्रित-दण्डित न करता हुआ (बलिं गृह्णाति) प्रजाओं से कर आदि ग्रहण करता है (तस्य राष्ट्रं प्रक्षुभ्यते) उसके राष्ट्र में निवास करने वाली प्रजाएं क्षुब्ध होकर विद्रोह कर देती हैं (च) और वह (स्वर्गात् परिहीयते) राज्यसुख से क्षीण हो जाता है ॥ २५४ ॥

अनुशीलन : तस्कर का अर्थ और व्युत्पत्ति—'तस्कर' विशेष रूप से उस चोर को कहते हैं जो प्रकट और गुप्त प्रत्येक प्रकार की चोरी प्रत्यक्ष ठगी, जालसाजी अथवा लूट के रूप में करता है। जो धन को लूटने के लिए हर गलत उपाय को प्रयोग में लाने में विश्वास रखता है। निघंटु ३।२४ में कहा है—"तस्कर: स्तेननाम"=चोर का नाम तस्कर है, कैसा चोर होता है वह? **"तस्करः तत्करो भवति। करोति यत् पापकमिति नैरुक्ताः। तनोतेर्वा स्यात् सन्तकर्मा भवति अहोरात्रकर्मा वा"** [निरु० ३।१४] अर्थात् जो पापकर्मों में लगा रहता है वह तस्कर कहलाता है। चोरी के कार्य का विस्तार करता है अथवा दिन में भी रात में भी समय और परिस्थिति के अनुरूप हर समय किसी न किसी चोरी करने के काम में लगा रहता है।

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम्।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥२५५॥ (१०४)

(यस्य बाहुबलाश्रितम्) जिस राजा के बाहुबल=दण्डशक्ति के सहारे (राष्ट्रं निर्भयं तु भवेत्) राष्ट्र अर्थात् प्रजाएं [चोर आदि से] निर्भय रहती हैं (तस्य तत्) उसका वह राज्य (सिच्यमानः द्रुमः इव) सींचे गये वृक्ष की भाँति (नित्यं वर्धते) सदा बढ़ता रहता है ॥ २५५ ॥

दो प्रकार के तस्कर—

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान्।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥२५६॥ (१०५)

(चारचक्षुः महीपतिः) गुप्तचर ही हैं नेत्र जिसके अर्थात् गुप्तचरों के द्वारा सब प्रजा का काम देखने वाला राजा (प्रकाशान् च+अप्रकाशान् परद्रव्य+अपहारकान्) प्रकट और गुप्त रूप से दूसरों के द्रव्यों को चुराने वाले (द्विविधान् तस्करान् विद्यात्) दोनों प्रकार के चोरों की जानकारी रखे ॥ २५६ ॥

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥२५७॥ (१०६)

(तेषाम्) उन दोनों प्रकार के चोरों में (नानापण्य-उपजीविनः

प्रकाशवञ्चकाः) नाना प्रकार के व्यापारी जो देखते-देखते माप,तोल या मूल्य में हेराफेरी करके ठगते हैं वे 'प्रकट-चोर' हैं (ये) और जो (स्तेन-आटविकादयः) जंगल आदि में छिपे रहकर चोरी करने वाले हैं (ते) वे (प्रच्छन्नवञ्चकाः) 'गुप्तचोर' हैं ॥ २५७ ॥

लोककण्टकों की गणना—

उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥ २५८ ॥ (१०७)

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥ २५९ ॥ (१०८)

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान् ।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ २६० ॥ (१०९)

(उत्कोचकाः) रिश्वतखोर, (औपधिकाः) भय दिखाकर धन लेने वाले (वञ्चकाः) ठग, (कितवाः) 'जूआ' से धन लेने वाले, (मंगलादेश-वृत्ताः) 'तुम्हें पुत्र या धन प्राप्ति होगी' इत्यादि मांगलिक बातों को कहकर धन लूटने वाले, (भद्राः) साधु-संन्यासी आदि भद्ररूप धारण करके धन ठगने वाले, (ईक्षणिकैः सह) हाथ आदि देखकर भविष्य बताकर धन ठगने वाले, (असम्यक् कारिणः महामात्राः) धन, वस्तु आदि लेकर गलत तरीकों से काम करने वाले उच्च राजकर्मचारी [मन्त्री आदि], (चिकित्सकाः) अनुचित मात्रा में धन लेने वाले या अयोग्य चिकित्सक (शिल्पोपचारयुक्ताः) अनुचित मात्रा में धन लेने वाले शिल्पी [चित्रकार आदि], (निपुणाः पण्ययोषितः) धन ठगने में चतुर वेश्याएं (एवम्+आदीन्) इत्यादियों को (च) और (अन्यान्) दूसरे जो (आर्यलिङ्गिनः निगूढचारिणः अनार्यान्) श्रेष्ठों का वेश या चिह्न धारण करके गुप्तरूप से विचरण करने वाले दुष्ट या बुरे व्यक्ति हैं, उनको (प्रकाशान् लोककण्टकान् विजानीयात्) प्रकट लोककण्टक=प्रजाओं को पीड़ित करने वाले चोर समझे ॥ २५८-२६० ॥

अनुशीलन : **औपधिक का अर्थ**—'औपधिक' का अर्थ 'किसी प्रयोजन से कोई जालसाजी रचकर भय दिखाकर धन लूटने वाला व्यक्ति' होता है। आजकल की भाषा में इन्हें ब्लैकमेल (भयादोहन) करने वाले कहते हैं।

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।
चारैश्चानेककसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥ (११०)

(तत् कर्मकारिभिः) जिस विषय में जानकारी प्राप्त करनी है वैसा

ही कर्म करने में चतुर, (गूढैः) गुप्त रहने वाले (सुचारितैः) अच्छे आचरण वाले (अनेक संस्थानैः) अनेक स्थानों में नियुक्त (चारैः) गुप्तचरों के द्वारा (तान् विदित्वा) उन ठगों या लोककण्टकों को मालूम करके (च) और फिर (प्रोत्साद्य) उन्हें पकड़कर (वशम्+आनयेत्) अपने वश में करे, कारागृह में रखे अर्थात् उन पर ऐसा नियन्त्रण रखे कि वे ये काम न कर पायें ॥ २६१ ॥

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥ (१११)

(राजा) राजा (स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः तेषां दोषान्+अभिख्याप्य) जो-जो उन्होंने बुरा काम किया है भलीभांति उनके दोषों को घोषणा करके (सार+अपराधतः) उनके बल और अपराध के अनुसार (सम्यक् शासनं कुर्वीत) न्यायोचित दण्ड से दण्डित करे ॥ २६२ ॥

नहि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥ (११२)

(स्तेनानाम्) प्रकट चोरों, (क्षितौ निभृतं चरताम्) पृथ्वी पर गुप्त-रूप से विचरण करने वाले चोरों या अन्य अपराधियों तथा (पापबुद्धीनाम्) पाप कर्म में बुद्धि रखने वालों के (पापविनिग्रहः) पापों पर रोक (दण्डात् +ऋते नहि कर्तुं शक्यः) दण्ड के बिना नहीं हो सकती, अतः दण्ड देने में कभी प्रमाद या शिथिलता न करे ॥ २६३ ॥

गुप्तचरों द्वारा किन स्थानों से अपराधियों का पता लगाये—

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥ (११३)
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥ (११४)
एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥ (११५)

(सभा-प्रपा+अपूपशाला) सभाओं के आयोजन स्थल, प्याऊ, माल-पूआ आदि बेचने का स्थान [भोजनालय, हलवाइयों की दुकान आदि], वेश-मद्य-अन्न-विक्रयाः) बहुरूपी वेशभूषा, मद्य तथा अनाज बेचने का स्थान [मण्डी आदि], (चतुष्पथाः) चौराहे, (चैत्यवृक्षाः) प्रसिद्धवृक्ष जहां लोग इकट्ठे होकर बैठते हैं, (समाजाः) सार्वजनिक स्थान, (प्रेक्षणानि) मनोरंजन के स्थान, (जीर्ण+उद्यान+अरण्यानि) पुराने बगीचे और जंगल, (कारुक

+आवेशनानि) शिल्पगृह=सग्रहालय आदि (शून्यानि अगाराणि) सूने पड़े हुए घर, (वनानि च उपवनानि) वन और उपवन, (राजा) राजा (एवं-विधान् देशान्) ऐसे स्थानों में (तस्करप्रतिषेधार्थम्) चोरों के निवारण के लिए (स्थावर-जङ्गमैः गुल्मैः) एक स्थान पर (पुलिस चौकी बनाकर) रहने वाले और गश्त लगाने वाले सिपाहियों के दलों को (च) और (चारैः) गुप्तचरों को (अनुचारयेत्) विचरण कराये या नियुक्त करे ॥ २६४–२६६॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥ (११६)

(तत् सहायैः+अनुगतैः) उन चोर आदि के सहायकों और अनु-गामियों से (नानाकर्मप्रवेदिभिः निपुणैः पूर्वतस्करैः) अनेक प्रकार के कर्मों को जानने वाले चतुर भूतपूर्व चोरों से भी (विद्यात्) चोरों का पता लगावे (च) और पता लगने पर उन्हें (उत्सादयेत्) दण्डित करे ॥ २६७ ॥

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥ (११७)

वे सहयोगी या गुप्तचर लोग (भक्ष्य-भोज्य-अपदेशैः) खाने के पदार्थों का लालच देकर (च) और (ब्राह्मणानां दर्शनैः) ब्रह्मवेत्ता विद्वानों के दर्शनों के बहाने (च) तथा (शौर्यकर्म-अपदेशैः) कोई शौर्यकर्म दिखाने के बहाने से (तेषां समागमं कुर्युः) उन चोर आदि को सिपाहियों से मिला दें, गिरफ्तार करादें ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।
तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥ (११८)

(ये) जो चोर और उनके सहयोगी (तत्र न+उपसर्पेयुः) उपर्युक्त स्थानों [२६८] पर न आवें (च) और (ये) जो चोर (मूलप्रणिहिताः) पकड़े जाने की शंका से सावधान होकर बचते रहें अर्थात् पकड़ में न आवें तो (नृपः) राजा (समित्र-ज्ञाति-बान्धवान् तान्) मित्र, रिश्तेदार और बान्धवों सहित उन चोरों को (प्रसह्य) बलपूर्वक पकड़कर (हन्यात्) दण्डित करे ॥ २६९ ॥

प्रमाण मिलने पर ही दण्ड दे—

न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥ (११९)

(धार्मिकः नृपः) धार्मिक राजा (होढेन विना) चोरी का माल आदि प्रमाणों के बिना (चौरं न घातयेत्) चोर को न मारे, किन्तु (सहोढं स+उपकरणम्) चोरी का माल, और सेंध मारने आदि के औजार आदि प्रमाण उपलब्ध होने पर (अविचारयन् घातयेत्) अवश्य दण्डित करे ॥ २७० ॥

चोरों के सहयोगियों को भी दण्ड दे—

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥ २७१ ॥ (१२०)

(च) और (ग्रामेषु+अपि ये केचित्) गांवों में भी जो कोई (चौराणां भक्तदायकाः भाण्ड-अवकाशदाः) चोरों को भोजन देने वाले, बर्तन और स्थान-शरण देने वाले हों (तान् सर्वान् अपि घातयेत्) राजा उन सबको भी दण्डित करे ॥ २७१ ॥

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥ २७२ ॥ (१२१)

राजा (राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्) राज्य में रक्षा के लिए नियुक्त (च) और (सामन्तान् चोदितान्) सीमाओं पर नियुक्त राजपुरुषों को (अभ्याघातेषु मध्यस्थान्) यदि चोरी आदि के मामले में मिला हुआ पायें तो उनको भी (चौरान्+इव द्रुतं शिष्यात्) चोर के समान ही शीघ्रतापूर्वक दण्ड दे, शीघ्रतापूर्वक इसलिए जिससे प्रजाओं के मन में राजपुरुष होने के कारण छूट जाने का संदेह न पनपे ॥ २७२ ॥

सामूहिक हानि होने पर सहयोग न करने वाले को दण्ड—

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ २७४ ॥ (१२२)

(ग्रामघाते) चोर आदि के द्वारा गांव को लूटने के मौके पर (हिता-भङ्गे) नदियों के तोड़ने पर (पथि मोष-अभिदर्शने) रास्ते में चोर आदि से मुकाबला होने पर (शक्तितः न+अभिधावन्तः) यथाशक्ति दौड़कर रक्षा न करने वालों को (सपरिच्छदाः निर्वास्याः) गृहसामग्री सहित उस देश से निकाल देवे ॥ २७४ ॥

अनुशीलन : हिता का अर्थ और व्युत्पत्ति—'हिता' का अर्थ नदी है। 'हि-गतौ वृद्धौ च' धातु से क्त प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में टाप् से 'हिता' शब्द की सिद्धि होती है। 'हिन्वन्ति गच्छन्ति याः ताः नद्यः' इस विग्रह से बहने वाली-गति करने वाली

हिता अर्थात् नदी होती है। नदियां सामूहिक उपकार करने के लिए होती हैं। इसलिए उनको तोड़ने वालों का सामूहिक रूप से ही विरोध करना चाहिए।

राज्ञः कोषापहर्तृंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥ २७५ ॥ (१२३)

(राज्ञः कोषहर्तृन्) राजा के खजाने को चुराने वाले (च) और (प्रतिकूलेषु स्थितान्) राज्य के विरोधी कार्यों में संलग्न (च) तथा (अरीणाम् उपजापकान्) शत्रुओं को भेद देने वाले, इन्हें राजा और (विविधैः दण्डैः घातयेत्) विविध प्रकार के दण्डों से दण्डित करे ॥ २७५ ॥

विभिन्न अपराधियों को दण्ड—

संधिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥ २७६ ॥ (१२४)

(ये तस्कराः) जो चोर (रात्रौ सन्धिं छित्त्वा) रात को सेंध मारकर (चौर्यं कुर्वन्ति) चोरी करते हैं (नृपः) राजा (तेषां हस्तौ छित्त्वा) उनके हाथ काटकर (तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्) तेज शूलो पर चढ़ादे ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥ (१२५)

राजा (ग्रन्थिभेदस्य) जेबकतरे चोर की (प्रथम ग्रहे) पहली बार पकड़े जाने पर (अङ्गुलीः छेदयेत्) अंगुलियां कटवादे (द्वितीये हस्तचरणौ) दूसरी बार पकड़े जाने पर हाथ-पैर कटवादे (तृतीये वधम्+अर्हति) तीसरी बार पकड़े जाने पर वध करने योग्य है ॥ २७७ ॥

अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्।
संनिधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥ (१२६)

(ईश्वरः) राजा (मोषस्य अग्निदान् भक्तदान् शस्त्र-अवकाशदान् च संनिधातृन्) चोरों को अग्नि, भोजन, शस्त्र, स्थान देने वाले और चोरी के माल को रखने वाले लोगों को भी (चौरम्+इव हन्यात्) चोर की तरह ही [९ । २७७ जैसे] दण्डित करे ॥ २७८ ॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा।
यद्वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद् दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥ (१२७)

राजा (तडागभेदकं हन्यात्) प्रजा के लिए बने तालाब आदि को तोड़ने वालों का वध करे (वा) अथवा (अप्सु शुद्धवधेन) पानी में डुबोकर या साधारण तरीके से मारे (यद् वा+अपि) यदि (प्रतिसंस्कुर्यात्) तोड़े हुए

को पुनः ठीक करवा दे तो (उत्तमसाहसं दाप्यः) 'उत्तमसाहस' का दण्ड [८ । १३८] करे ॥ २७९ ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं वाऽप्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥ (१२८)

(यः तु) जो व्यक्ति (पूर्वनिविष्टस्य तडागस्य) किसी के द्वारा पहले बनाये गये तालाब का (उदकं हरेत्) पानी चुराले (वा) अथवा (अपाम्+आगमं भिद्यात्) जल आने का रास्ता तोड़दे (सः पूर्वसाहसं दाप्यः) उसे 'पूर्वसाहस' [८ । १३८] का दण्ड दे ॥ २८१ ॥

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥ २८२ ॥ (१२९)

(यः तु) जो व्यक्ति (अनापदि) आपत्काल के बिना अर्थात् स्वस्थ अवस्था में (राजमार्गे) सड़क पर मुख्य रास्ते या गली पर (अमेध्यं समुत्सृजेत्) मल, मूत्र आदि डाले तो (सः द्वौ कार्षापणौ दद्यात्) उस पर दो 'कार्षापण' [८ । १३६] दण्ड करे (च) और (आशु अमेध्यं शोधयेत्) तुरन्त उस गन्दगी को साफ करवाये ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥ (१३०)

(आपद्गतः) कोई रोगी या आपत्तिग्रस्त व्यक्ति (वृद्धा गर्भिणी वा बालः) वृद्ध, गर्भवती या बालक राजमार्ग को गन्दा करें तो (परिभाषणम्+अर्हन्ति) उनको उसके न करने के लिए कहें या फटकार दे (च) और (तत् शोध्यम्) उसकी सफाई कराले (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥ २८३ ॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥ (१३१)

(सर्वेषां चिकित्सकानाम्) सभी चिकित्सकों में (अमानुषेषु मिथ्या प्रचरताम्) पशुओं की गलत चिकित्सा करने वालों को (प्रथमः दमः) 'प्रथम-साहस' [८ । १३८] का दण्ड करे और (मानुषेषु मध्यमः) मनुष्यों की गलत चिकित्सा करने पर 'मध्यम साहस' का दण्ड करे ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतीमानां च भेदकः ।

प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥ (१३२)

(संक्रम-ध्वज-यष्टीनाम्) संक्रम अर्थात् रथ, उस रथ के ध्वजा की यष्टि जिसके ऊपर ध्वजा बांधी जाती है (च) और (प्रतिमानां भेदकः) प्रतिमा=छटांक आदिक बटखरे, जो इन तीनों को तोड़ डाले वा अधिक न्यून करदेवे (तत् सर्वं प्रतिकुर्यात्) उनको उससे राजा बनवा लेवे (च) और (पञ्चशतानि दद्यात्) जिसका जैसा ऐश्वर्य है, उसके योग्य दण्ड करे—जो दरिद्र होवे तो उससे पांच सौ पैसा राजा दण्ड लेवे; और जो कुछ धनाढ्य होवे तो पांच सौ रुपया उससे दण्ड लेवे; और जो बहुत धनाढ्य होवे उससे पांच सौ अशर्फी दण्ड लेवे। रथादिकों को उसी के हाथ से बनवा लेवे ॥ २८५ ॥ (द० शा० ५१, प० वि० १२)

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥ (१३३)

(अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे) अच्छी वस्तुओं में खराब वस्तुओं की मिलावट करके उन्हें दूषित करने पर (तथा) तथा (भेदने) अच्छी वस्तुओं को बिगाड़ने पर (च) और (मणीनाम्+अपवेधे) मणि आदि रत्नों को तोड़ने-फोड़ने के अपराध में (प्रथमसाहसः दण्डः) 'प्रथमसाहस' [८। १३८] का दण्ड दे ॥ २८६ ॥

समैर्हि च विषमं यस्तु चरेद्वा मूल्यतोऽपि वा।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥ (१३४)

(यः तु) जो (नरः) मनुष्य (समैः) समानमूल्य वाली वस्तुओं के बदले (अपि वा मूल्यतः) अथवा सही मूल्य से (विषमं चरेत्) कम वस्तु देने का व्यवहार करे, (पूर्वं वा मध्यमम्+एव दमं समाप्नुयात्) 'पूर्वसाहस' या 'मध्यमसाहस' [८। १३८] दण्ड का भागी होता है ॥ २८७ ॥

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत्।
दुःखिता यत्र दृश्येरन् विकृताः पापकारिणः ॥२८८॥ (१३५)

(राजा) राजा (सर्वाणि बन्धनानि) कारागार आदि (बन्धनगृह) (मार्गे निवेशयेत्) प्रधान मार्गों पर बनवावे (यत्र) जहां (दुःखिता विकृताः पापकारिणः दृश्येरन्) हथकड़ी, बेड़ी आदि से दुःखी हुए, बिगड़ी हुई हालत वाले अपराधी लोग दिखाई देते रहें [जिससे कि जनता के मन में अपराधों के प्रति भय की प्रेरणा उत्पन्न होती रहे] ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम्।

द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥२८९॥ (१३६)

राजा (प्राकारस्य भेत्तारम्) नगर के परकोटे को तोड़ने वाले (च) और (परिखाणां पूरकम्) नगर के चारों ओर की खाई को भरने वाले (च) तथा (द्वाराणां भक्तारम्) नगर-द्वारों को तोड़ने वाले व्यक्ति को (क्षिप्रम्+एव प्रवासयेत्) तुरन्त देशनिकाला दे दे ॥ २८९ ॥

सात राजप्रकृतियां—

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥ (१३७)

(स्वामी-अमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्) १-स्वामी, २-मन्त्री, ३-किला, ४-राष्ट्र, ५-कोश, ६-दण्ड और ७-मित्र (एताः सप्त प्रकृतयः) ये सात राजप्रकृतियां हैं (सप्ताङ्गं राज्यम्+उच्यते) इनसे युक्त होने से राज्य 'सप्ताङ्ग'=सात अङ्गों वाला कहलाता है ॥ २९४ ॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥ (१३८)

(राज्यस्य+आसां सप्तानां प्रकृतीनां तु) राज्य की इन सात प्रकृतियों में (यथाक्रमं पूर्वं पूर्वं व्यसनं महत् गुरुतरं जानीयात्) क्रमशः पहली-पहली प्रकृति-सम्बन्धी आपत्ति को बड़ी समझे [जैसे—राजा से कम मन्त्री पर आपत्ति, मन्त्री से कम किले पर आपत्ति आदि] ॥ २९५ ॥

सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥ (१३९)

(इह) इसमें (त्रिदण्डवत्) तीन पायों पर स्थित तिपाई के समान (सप्ताङ्गस्य विष्टब्धस्य राज्यस्य) सात प्रकृतिरूपी अंगों पर स्थित इस राज्य में (अन्योन्यगुणवैशेष्यात्) सभी अंगों के अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त और परस्पर आश्रित होने के कारण (किंचित् न अतिरिच्यते) कोई अंग किसी से विशिष्ट या कम नहीं है अर्थात् अपने-अपने प्रसंग में सभी का विशेष महत्त्व है ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥ (१४०)

यतो हि (तेषु तेषु तु कृत्येषु) उन प्रकृतियों के अपने अपने कार्यों में (तत्-तत्+अङ्गं विशिष्यते) वह-वह प्रकृति अंग विशेष है (यत् कार्यं येन

साध्यते) जो कार्य जिस प्रकृति से सिद्ध होता है (तस्मिन् तत् श्रेष्ठम्+उच्यते) उसमें वही प्रकृति श्रेष्ठ मानी गई है। अर्थात् समयानुसार सभी प्रकृतियों की श्रेष्ठता है, अतः किसी को कम महत्त्वपूर्ण समझकर त्याज्य न समझें ॥ २९७ ॥

चारेणोत्साहयोगेन च क्रिययैव च कर्मणाम्।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥ (१४१)

(चारेण) गुप्तचरों से (उत्साहयोगेन) सेना के उत्साह सम्बन्ध से (च) और (कर्मणां क्रियया) राज्यशक्ति-वर्धक नये-नये कार्यों के करने से (महीपतिः) राजा (स्वशक्तिं च परशक्तिं नित्यं विद्यात्) अपनी शक्ति और शत्रु की शक्ति की सदा जानकारी रखे ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥ (१४२)

(सर्वाणि पीडनानि) अपने तथा शत्रु के राज्य में आई सभी व्याधि, आपत्ति आदि पीड़ाओं को (तथैव व्यसनानि) तथा व्यसनों [७।४५-५३] के प्रसार को (च) और (गुरु-लाघवं संचिन्त्य) बड़े-छोटे अर्थात् अपने और शत्रु राजा में कौन कम-अधिक शक्तिशाली है (संचिन्त्य) इन बातों पर विचार करके (ततः कार्यम्+आरभेत) उसके पश्चात् राजा सन्धि-विग्रह आदि [७।१६०-२१०] कार्य को आरम्भ करे ॥ २९९ ॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥ (१४३)

(श्रान्तः श्रान्तः) बार-बार हारा-थका हुआ भी राजा (कर्माणि पुनः-पुनः आरभेत एव) कार्यों को [७।१६०-२००] फिर-फिर अवश्य आरम्भ करे (हि) क्योंकि (कर्माणि+आरभमाणं हि पुरुषम्) कर्मों को आरम्भ करने वाले पुरुष को ही (श्रीः निषेवते) विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ३०० ॥

राजा के शासन में ही चार युग—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥ (१४४)

(कृतं त्रेतायुगं द्वापरं च कलिः) सतयुग, त्रेतायुग द्वापरयुग और कलियुग (सर्वाणि राज्ञः वृत्तानि) ये सब राजा के ही आचार-व्यवहार

विशेष हैं अर्थात् राजा जैसा राज्य को बनाता है उस राज्य में वैसा ही युग बन जाता है (राजा हि युगम्+उच्यते) वस्तुतः राजा ही 'युग' कहलाता है अर्थात् राजा ही युगनिर्माता है ॥ ३०१ ॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥ (१४५)

(प्रसुप्तः कलिः भवति) जब राजा सोता है अर्थात् राज्यकार्य में उपेक्षा बरतता है तो वह 'कलियुग' होता है, (सः जाग्रत् द्वापरं युगम्) जब वह जागता है अर्थात् राज्य कार्य को साधारणतः करता रहता है तो वह 'द्वापरयुग' है, और (कर्मसु+अभ्युद्यतः त्रेता) राज्य और प्रजा-हितकारी कार्यों में जब राजा सदा उद्यत रहता है वह 'त्रेतायुग' है, (विचरन् तु कृतं युगम्) जब राजा सभी कर्त्तव्यों को तत्परतापूर्वक करे और अपनी प्रजा के दुःखों को जानने के लिए राज्य में तत्पर होते हुए उन्हें जानकर न्यायानुसार सुख प्रदान करने के लिए उद्यत रहे, राजा का यह सत्ययुग है ॥ ३०२ ॥

राजा के आठ रूप—

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥ (१४६)

(नृपः) राजा (इन्द्रस्य+अर्कस्य वायोः यमस्य वरुणस्य चन्द्रस्य+अग्नेः पृथिव्याः तेजः वृत्तम् चरेत्) इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि, पृथिवी इनके तेजस्वी स्वभाव के अनुसार ही आचरण-व्यवहार करे [द्रष्टव्य ७ । ४—७] ॥ ३०३ ॥

अनुशीलन : अन्यत्र वर्णित भावों की पुष्टि—मनु ने सप्तमाध्याय में 'राजा में कौन-कौन से विशिष्ट गुण होने चाहिएँ' इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए भी इन गुणों का वर्णन किया है । मनु ने यह भाव वेदमन्त्रों से ग्रहण किया है । द्रष्टव्य हैं ७ । ४—७ श्लोक और उनकी समीक्षा में वेदमन्त्र ।

राजा का इन्द्ररूप आचरण—

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥ (१४७)

(यथा+इन्द्रः वार्षिकान् चतुरः मासान्) जैसे इन्द्र [=वृष्टिकारक शक्ति] प्रत्येक वर्ष के श्रावण आदि चार मासों में (अभिप्रवर्षति) जल बरसाता है (तथा इन्द्रव्रतं चरन्) उसी प्रकार इन्द्र के व्रत को आचरण में लाता हुआ राजा (स्वं राष्ट्रं कामैः अभिवर्षेत्) अपने राष्ट्र की प्रजाओं की कामनाओं को पूर्ण करे, यही राजा का इन्द्रवत् आचरण है ॥ ३०४ ॥

राजा का सूर्यरूप आचरण—

अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत्॥ ३०५॥ (१४८)

(यथा+आदित्यः) जैसे सूर्य (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (अष्टौ मासान् तोयं हरति) आठ मास तक जलग्रहण करता है (तथा) उसी प्रकार राजा (राष्ट्रात् नित्यं करं हरेत्) राष्ट्र से कर ग्रहण करे (अर्कव्रतं हि तत्) यही राजा का 'अर्कव्रत' है॥ ३०५॥

राजा का वायुरूप आचरण —

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम्॥ ३०६॥ (१४९)

(यथा मारुतः) जैसे वायु (सर्वभूतानि प्रविश्य) सब प्राणियों में प्रविष्ट होकर (चरति) विचरण करता है (तथा) उसी प्रकार (चारैः प्रवेष्टव्यम्) राजा को गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश रखना चाहिए (एतत् हि मारुतं व्रतम्) यही राजा का 'मारुतव्रत' है॥ ३०६॥

राजा का यमरूप आचरण—

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥ ३०७॥ (१५०)

(यथा यमः) जिस प्रकार यम(=ईश्वर की नियामक शक्ति=मृत्यु) (काले प्राप्ते) कर्मफल का समय आने पर (प्रियद्वेष्यौ नियच्छति) प्रिय और शत्रु सबको अपने वश में करके दण्डित करता है या मारता है (राज्ञा तथा प्रजाः नियन्तव्याः) राजा को उसी प्रकार अपराध करने पर प्रिय-शत्रु सभी प्रजाओं को न्यायपूर्वक पक्षपातरहित दण्ड देना चाहिए (तत् हि यमव्रतम्) यही राजा का 'यमव्रत' है॥ ३०७॥

राजा का वरुणरूप आचरण—

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम्॥ ३०८॥ (१५१)

(यथा) जिस प्रकार अपराधी मनुष्य (वरुणेन पाशैः बद्धः एव+अभिदृश्यते) वरुण के द्वारा पाशों से अर्थात् जलीय या समुद्र की तरंगों, भंवरोंरूपी बंधनों में फंसकर जैसे मनुष्य बंधा-जकड़ा हुआ दीखता है अर्थात् अवश्य बंध जाता है (तथा) उसी प्रकार राजा भी (पापान् (निगृह्णीयात्) पापियों=अपराधियों को सुधरने तक साम-दाम-दण्ड-भेद आदि से वश में करके या बन्धन में=कारागार में डाल रखे (एतत् हि वारुणं व्रतम्) यही

राजा का 'वरुणव्रत' है ॥ ३०८ ॥

अनुशीलन : वरुणपाश का अर्थ—'वरुणपाश' के यद्यपि प्रसंगानुसार अनेक अर्थ होते हैं। यहां महाभूतादि दिव्यशक्तियों के गुणों से राजा के गुणों की तुलना की है, अतः यहां वरुण का जल अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। और जैसे जल की उत्ताल तरंगें या भंवर किसी वस्तु या व्यक्ति को वश में करके फंसा लेती हैं, उसी प्रकार विविध बन्धनों से राजा दुष्टों को वश में करे। यह वरुणपाश का आलंकारिक अभिप्राय है।

राजा का चन्द्ररूप आचरण—

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥ (१५२)

(यथा) जिस प्रकार (परिपूर्णं चन्द्रं दृष्ट्वा मानवाः हृष्यन्ति) पूर्ण चन्द्रमा को देखकर मनुष्य प्रसन्न होते हैं (तथा) उसी प्रकार (यस्मिन् प्रकृतयः) जिस राजा को पाकर-देखकर उस द्वारा प्रदत्त सुखों से प्रजाएं स्वयं को हर्षित अनुभव करें (सः नृपः चान्द्रव्रतिकः) वह राजा का 'चन्द्रव्रत' है ॥ ३०९ ॥

राजा का अग्निरूप आचरण—

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥ (१५३)

राजा (पापकर्मसु) पापियों में—पाप करने वालों को (नित्यम्) सदैव (प्रतापयुक्तः तेजस्वी स्यात्) संतापित करने वाला और तेज से प्रभावित करने वाला होवे (च) और (दुष्टसामन्तहिंस्रः) दुष्ट मन्त्री आदि का मारने वाला होवे (तत्+आग्नेयं व्रतं स्मृतम्) यही राजा का 'आग्नेयव्रत' कहा है ॥ ३१० ॥

राजा का धरारूप आचरण—

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥ (१५४)

(यथा) जिस प्रकार (धरा) धरती (सर्वाणि भूतानि समं धारयते) सब प्राणियों को समानभाव से धारण करती है (तथा) उसी प्रकार (सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः) समान भाव से सभी प्राणियों को धारण-पोषण करने वाले राजा का (पार्थिवं व्रतम्) यह 'पार्थिव व्रत' होता है ॥ ३११ ॥

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।

स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥ (१५५)

(राजा) राजा (एतैः+उपायैः च अन्यैः युक्तः) इन पूर्वोक्त उपायों तथा इनसे भिन्न जो और उत्तम उपाय हों उनसे युक्त होकर (नित्यम्+अतन्द्रितः) सदा आलस्यहीन रहता हुआ (स्वराष्ट्रे च परे+एव) अपने राष्ट्र में रहने वाले और दूसरे राष्ट्र से आकर चोरी करने वाले (स्तेनान् निगृह्णीयात्) चोरों को वश में करे ॥ ३१२ ॥

एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥ (१५६)

(पार्थिवः) राजा (एवं चरन्) पूर्वोक्त [७।१ से ९।३१२] प्रकार से आचरण करता हुआ (सदा राजधर्मेषु युक्तः) सदा राजधर्मों में स्वयं संलग्न रहकर (सर्वान् भृत्यान् एव) सभी राजकर्मचारियों को भी (लोकस्य हितेषु नियोजयेत्) प्रजाओं के हित-सम्पादन में लगाये ॥ ३२४ ॥

वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्य—

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥ (१५७)

(एषः) यह [७।१ से ९।३२४ तक] (राज्ञः सनातनः अखिलः कर्मविधिः उक्तः) राजा की सनातन और सम्पूर्ण कार्य करने की विधि कही।

अब (वैश्य-शूद्रयोः) वैश्यों और शूद्रों की (कर्मविधिं इमं विद्यात्) कर्त्तव्यों की विधि को इस आगे कहे अनुसार जानें —[उनका वर्णन अग्रिम अध्याय में है] ॥ ३२५ ॥

अनुशीलन : नवम अध्याय के विभाजन पर विचार—वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृतियों में नवम अध्याय में ३३६ श्लोक उपलब्ध होते हैं। सप्तम, अष्टम और नवम अध्याय के ३२५ श्लोक तक राजनीति का विषय है। मनुस्मृति का अध्याय-विभाजन भी प्रकरणानुसार हुआ है, किन्तु कुछ अध्यायों के विभाजन में विभाजनकर्त्ता द्वारा भूलें हुई हैं, प्रकरण को समझे बिना अध्याय-विभाजन कर दिया है [इस पर विस्तृत विवेचन सप्रमाण 'मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन' शीर्षक में 'मनुस्मृति-अनुशीलन' में किया गया है]। इसी प्रकार इस अध्याय में भी भूल हुई है। राजधर्म विषय के साथ ९।३२६ से ९।३३६ श्लोक जिनमें वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन है, मिला दिये हैं। इनके साथ ही चातुर्वर्ण्य धर्म [२।१४४ (२।२५) से ९।३३६ तक] समाप्त हो जाते हैं क्योंकि दशम अध्याय में चातुर्वर्ण्य धर्म का उपसंहार है। क्योंकि वैश्य-शूद्र धर्मवर्णन के ग्यारह श्लोकों के प्रकरण का कोई एक अध्याय उपयुक्त नहीं जंचता

अतः हमने इन श्लोकों को दशम अध्याय में उपसंहार-वर्णन के साथ सम्मिलित कर दिया है। ९।३२५ श्लोक के कथनानुसार यहीं इस राजधर्मात्मक अध्याय को समाप्त कर दिया है।

[नवम अध्याय के ३२६ से ३३६ श्लोक दशम अध्याय के अन्तर्गत देखिए]

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दीभाषाभाष्यसमन्वितायाम्
अनुशीलन-समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
राजधर्मात्मको नवमोऽध्यायः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(चातुर्वर्ण्य-धर्मान्तर्गत-वैश्य-शूद्र के धर्म १०।१-८ एवं चातुर्वर्ण्य धर्म का उपसंहार)

वैश्यों के कर्त्तव्य—

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ९।३२६ ॥ (१)

(कृतसंस्कारः) यज्ञोपवीत संस्कार विधिपूर्वक शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् [समावर्तन के अनन्तर] (वैश्यः) वैश्य (दारपरिग्रहं कृत्वा) विवाह करके (वार्त्तायां च पशूनां रक्षणे नित्ययुक्तः स्यात्) व्यापार में और पशुपालन में सदा लगा रहे ॥ ३२६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ९।३२९ ॥ (२)

वैश्य (मणि-मुक्ता-प्रवालानाम्) मणि, मोती, प्रवाल आदि के (लोहानाम्) लोहे आदि धातुओं के (च) और (तान्तवस्य) कपड़ों के (गन्धानां च रसानाम्) सुगन्धित कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों के और रस-रसायनों [पारा, नमक आदि] के (अर्घ-बल-अबलं विद्यात्) मूल्यों के कम-अधिक भावों को जाने ॥ ३२९ ॥

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ९ । ३३० ॥ (३)

वैश्य (बीजानाम्+उप्तिवित् स्यात्) सब प्रकार के बीजों को बोने की विधि को जानें (च) और (क्षेत्र-दोष-गुणस्य) खेतों के दोष-गुणों को जानें (च) तथा (मानयोगम्) तोलने के बाटों (च) और (तुलायोगान्) तराजुओं से सम्बद्ध (सर्वशः जानीयात्) सभी बातों की जानकारी रखें ॥ ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ९।३३१ ॥ (४)

(भाण्डानां सार-असारम्) वस्तुओं के अच्छे-बुरेपन को (देशानां गुण-अवगुणान्) देशों के गुणों और दोषों को (च) और (पण्यानां लाभ-अलाभम्) बेची जाने वाली वस्तुओं की लाभ-हानि को, तथा (पशूनां परिवर्धनम्) पशुओं के संवर्धन के उपायों को वैश्य लोग जानें ॥ ३३१ ॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् ।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥९।३३२॥ (५)

(भृत्यानां भृतिम्, नौकरों के वेतन, (नृणां विविधाः भाषाः) विविध देशों में रहने वाले लोगों की विभिन्न भाषाएँ (द्रव्याणां स्थान-योगान्) वस्तुओं के प्राप्तिस्थान तथा मिश्रण आदि की विधियाँ (च) और (क्रय-विक्रय+एव) खरीद बिक्री की विधि, इसको (विद्यात्) जानें ॥ ३३२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ९।३३३ ॥ (६)

वैश्य इस प्रकार [९।३२९-३३३] (धर्मेण) धर्मपूर्वक (द्रव्यवृद्धौ उत्तमं यत्नम्+आतिष्ठेत) पदार्थों की वृद्धि के लिए अधिक से अधिक यत्न करे (च) और (सर्वभूतानां प्रयत्नतः अन्नम्+एव दद्यात्) सब प्राणियों को प्रयत्नपूर्वक अन्न उपजाकर देता रहे ॥ ३३३ ॥

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्श्रेयसः परः ॥ ९।३३४ ॥ (७)

(वेदविदुषां विप्राणाम्) वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों (यशस्विनां गृहस्थानाम्) यशस्वी गृहस्थियों की (शुश्रूषा+एव तु) सेवा करना ही (शूद्रस्य नैश्श्रेयसः परः धर्मः) शूद्र का कल्याणकारक उत्तम धर्म है ॥ ३३४ ॥

शूद्र को उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति—

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ९ । ३३५ ॥ (८)

(शुचिः) शुद्ध-पवित्र [शरीर एवं मन से], (उत्कृष्टशुश्रूषुः) अपने से उत्कृष्ट वर्ण वालों की सेवा करने वाला, (मृदुवाक्) मधुरभाषी (अनहंकृतः) अहंकार से रहित (नित्यं ब्राह्मण+आदि-आश्रयः) सदा ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा में संलग्न शूद्र भी (उत्कृष्टां जातिम्+अश्नुते) उत्तम ब्रह्मजन्मान्तर्गत द्विजवर्ण को प्राप्त कर लेता है ॥ ३३५ ॥

अनुशीलन : (१) **शूद्र को उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति**— इन श्लोकों के वर्णन से मनु की शूद्र के प्रति यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को हीन नहीं मानते अपितु पवित्र, उत्कृष्ट और उत्तम कर्मों से उच्चवर्ण प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं । [illegible] ९।३३५ में भी वर्णित है । [illegible] ही [illegible] शूद्र

कहाता है, जन्मना नहीं। यही मनु की मान्यता है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन १।३१, ९१ पर तथा १।१०७ की अन्तर्विरोध समीक्षा में देखिए। १।९१ में शूद्र के के कर्म का वर्णन है।

(२) **वेदों में शूद्र को यज्ञ आदि का विधान**—ऋक्० १०।५३।४-५ में "पञ्चजनाः ममहोत्रं जुषध्वम्" कहकर शूद्र को भी यज्ञ करने का आदेश है। निरुक्त ३।२।७ में 'पञ्चजनाः' की व्याख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निरामिष-भोजी निषाद की गणना की है [विस्तृत विवेचन भूमिका में शूद्र विषय में द्रष्टव्य है]।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥ १०।४ (९)

[आर्यों के समाज में] (ब्राह्मणः क्षत्रियः वैश्यः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (त्रयः वर्णाः द्विजातयः) ये तीन वर्ण विद्याध्ययन रूपी दूसरा जन्म प्राप्त करने वाले [२।१४६-१४८, इस संस्करण में २।१२१-१२३] हैं, अतः द्विज कहलाते हैं (चतुर्थः एकजातिः शूद्रः) चौथा विद्याध्ययनरूपी दूसरा जन्म (द्विजजन्म) न होने के कारण एकजाति=एक जन्म वाला ब्रह्मजन्म से रहित शूद्र वर्ण है (नास्ति तु पञ्चमः) पांचवां कोई वर्ण नहीं है॥ ४॥

अनुशीलन: (१) वर्ण चार हैं—(क) मनु ने यहां चार वर्णों की मान्यता अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित की है। मनुस्मृति में अन्यत्र वर्णनात्मक रूप में चार वर्णों का ही वर्णन है। चार वर्णों की दीक्षा से रहित अन्य सभी व्यक्ति दस्यु हैं [१०।४५] अन्य वर्णसंकर आदि संज्ञक कोई वर्ण नहीं। इस श्लोक की पुष्टि के लिए मनुस्मृति के निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है—१।३१, ८७-९१।३।२०॥ ५।५७॥ ७।६८॥ १०।४५, ६५, १३१॥ १२।९७ आदि।

२. **चार वर्णों में शास्त्रीय प्रमाण**—अन्यत्र शास्त्रग्रन्थों में भी चार वर्णों का ही उल्लेख आता है। इन चार वर्णों से शेष व्यक्ति आर्येतर हैं जिन्हें निषाद, असुर, राक्षस आदि विभिन्न वर्गकृत नामों से अभिहित किया जाता है—

(क) **"ऊर्जादः उत यज्ञियासः पञ्चजनाः मम होत्रं जुषध्वम्।"**

(ऋक् १०।५३।४)

"पञ्चजनाः—चत्वारो वर्णाः, निषादः पञ्चम इति औपमन्यवः।"

(निरु० ३।२।७)

चार वर्ण=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनसे भिन्न पांचवें निषादजन, ये वेदोक्त पांच प्रकार के मनुष्य हैं।

(ख) **"चत्वारो वर्णाः। ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः"**

(श० ब्रा० ५।५।४।९)

"चत्वारो वै पुरुषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः॥"

(मन्त्रा० सं० ४।४।६)

चारों वर्णों से भिन्न व्यक्तियों की संज्ञा—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥१०।४५॥ (१०)

(लोके) लोक में (मुख-बाहु+उरु-पत्-जानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से (बहिः) श्रेष्ठ कर्त्तव्यपालन न करने के कारण बहिष्कृत या इनमें अदीक्षित(या जातयः) जो जातियां हैं (म्लेच्छ-वाचः च आर्यवाचः) चाहे वे म्लेच्छभाषाएं बोलती हैं या आर्यभाषाएं (ते सर्वे) वे सब (दस्यवः स्मृताः) 'दस्यु' कहलाती हैं ॥ ४५ ॥

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति उद्धृत करके लिखा है—"जो आर्यावर्त देश से भिन्न हैं, वे दस्यु देश और म्लेच्छदेश कहाते हैं ॥"
(स० प्र० २२५)

अनुशीलन : (१) श्लोक के प्रसंग पर विचार—१०।४ के पश्चात् वर्णनक्रम में १०।४५ की सम्बद्धता सिद्ध होती है, क्योंकि चौथे श्लोक में मनु द्वारा विहित समाज में चार वर्णों का अस्तित्व भूमिका रूप में बतलाया है और कहा है कि पांचवां कोई वर्ण नहीं है। अब वर्णों में अदीक्षित या बहिष्कृत जो व्यक्ति रह गये हैं, उन्हें किसके अन्तर्गत माना जाये ? यह बतलाना प्रासंगिक था। उसे ४५ वें श्लोक में वर्णित किया है कि शेष व्यक्ति 'दस्यु' हैं।

(२) **दस्यु से अभिप्राय**—वेदों में और प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'दस्यु' शब्द का पर्याप्त प्रयोग आता है। यहां मनु ने स्पष्ट किया है कि दस्यु कौन है। वेदों में मनुष्यों के दो वर्ग उक्त हैं—'आर्य'=श्रेष्ठ और 'दस्यु'=अश्रेष्ठ। मनु ने यहां बताया है कि आर्यों के चार वर्णों से बाह्य अर्थात् वर्णाश्रम धर्मों में अदीक्षित [१०।५७] धर्म का पालन न करके अधर्माचरण करने वाले चारों वर्णों से अवशिष्ट सभी लोग दस्यु हैं। दस्यु शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति भी इनके इसी आचरण पर प्रकाश डालते हैं—'दसु-उपक्षये' धातु से '**यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्**' (उणादि ३।२०) से युच् प्रत्यय के योग से 'दस्यु' शब्द बनता है। निरुक्त ७।२३ में इसकी व्युत्पत्ति है—"**दस्यु दस्यतेः क्षयार्थात्...उपदासयति कर्माणि**"=दस्यु वह है जो शुभकर्मों से क्षीण है या शुभकर्मों में बाधा डालता है।

दस्यु अर्थात् अनार्य की पहचान उसके कार्य देखकर करें—

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥१०।५७॥ (११)

(वर्ण-अपेतम्) वर्णों की दीक्षा से रहित अथवा वर्णों से बहिष्कृत (आर्यरूपम्+इव+अनार्यम्) श्रेष्ठ रहन सहन और स्वभाव का दिखावा करने वाले किन्तु वास्तव में श्रेष्ठलक्षणों से रहित अनार्य (कलुषयोनिजम्)

[कलुषयोनौ=दुष्टयोनौ जायते इति कलुषयोनिजः तम्] दुष्टसंस्कारों वाले व्यक्ति से उत्पन्न दुष्टसंस्कारी या दुष्टप्रवृत्ति वाले (स्वैः कर्मभिः विभावयेत्) उसके अपने कर्मों से पहचान ले अर्थात् जो श्रेष्ठ कर्मों को न करता हो और अश्रेष्ठ कर्मों को करता हो, वह अनार्य है [जैसा कि अगले श्लोक में वर्णित है] ॥ ५७ ॥✤

अनुशीलन : अनार्य और उसके लक्षण—(१) मनु ने प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी वर्ण की दीक्षा ग्रहण कर उत्तम धर्मानुकूल आचरण का पालन करने का कथन किया है। कुछ व्यक्ति इतने दुष्टसंस्कारों के होते हैं कि उनकी धर्माचरण में रुचि नहीं बनती। वे किसी भी वर्ण की दीक्षा को स्वीकार नहीं करते [**'वर्णापेतम्'**], उनमें स्वभावगत अश्रेष्ठता, कठोरता, निर्दयता होती है और धार्मिक क्रियाओं के प्रति उपेक्षा भावना रहती है। ऐसे व्यक्ति ही अनार्य या दस्यु हैं। दुष्टसंस्कारयुक्त व्यक्तियों से उत्पन्न होने वाले दुष्टसंस्कारी व्यक्तियों=कलुषयोनिजों या दस्युओं में ये संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि वे किसी-न-किसी रूप में प्रकट होकर उसकी पहचान करा देते हैं। ४।४१-४२ में मनु ने दुष्ट कर्मों से दुष्टसंस्कारी सन्तानों की उत्पत्ति की ओर संकेत किया है। वही कलुषयोनिज या दस्यु होते हैं—

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥
……भवति प्रजा निन्दितैर्निन्दिता नृणाम्—॥"

(२) इस श्लोक में उच्च-निम्न जातिपरक अर्थ करना मनुसम्मत नहीं है। यहां स्पष्टतः सभी ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख है जो आर्यरूप में अनार्य होते हैं, दुष्टोत्पन्न होने से दुष्ट गुण-कर्म स्वभाव वाले होते हैं। चाहे वे किसी भी वर्ण में हों 'कलुषयोनिज' ही कहलायेंगे।

अनार्यों-दस्युओं के लक्षण—

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ १० । ५८ ॥ (१२)

(अनार्यता) अश्रेष्ठ व्यवहार (निष्ठुरता) स्वभाव की कठोरता (क्रूरता) निर्दयता (निष्क्रियात्मता) धार्मिक क्रियाओं [यज्ञ आदि] के प्रति उपेक्षाभाव=न करने की भावना, ये लक्षण (लोके) लोक में (पुरुषं कलुषयोनिजं व्यञ्जयन्ति) पुरुष के दुष्टप्रवृत्ति या अनार्य होने को सूचित करते हैं कि यह आर्यवर्णों के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि ये आर्यों के लिए

✤ प्रचलित अर्थ—वर्णभ्रष्ट (हीन वर्ण वाले), अप्रसिद्ध, नीच जाति से उत्पन्न, देखने में सज्जन (उच्च जाति वाले किन्तु वास्तव में) नीच जाति वाले मनुष्य को उसके कर्मों (बर्तावों) से जानना चाहिये ॥५७॥

निषिद्ध हैं ॥ ५८ ॥ ❀

अनुशीलन : (१) १०।५६ में यह बतलाने पर कि वर्णों से बहिष्कृत या अदीक्षित व्यक्ति दस्यु हैं, चाहे वे आर्यभाषा बोलने वाले हों अथवा म्लेच्छभाषा-भाषी। अब उनकी पहचान का वर्णन करना प्रासंगिक था, वह १०। ५७–५८ में किया है। इस प्रकार४ ५ वें के पश्चात् वर्णनक्रम की सम्बद्धता की दृष्टि से १०। ५७-५८ श्लोक उपयुक्त जंचते हैं।

(२) इन श्लोकों से मनु की यह मान्यता स्पष्ट एवं सिद्ध हो जाती है कि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं।

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ १०। ५९ ॥ (१३)

(दुर्योनिः) बुरे जीवन वाला या बुरे माता पिता से उत्पन्न व्यक्ति (पित्र्यं या मातुः शीलम्) पिता अथवा माता के स्वभाव को (वा उभयम्+एव) अथवा दोनों के ही स्वभाव को (भजते) अवश्य धारण किये होता है, और वे (स्वां प्रकृतिं कथंचन न नियच्छति) अपने स्वभाव को किसी प्रकार नियन्त्रित नहीं कर सकते अर्थात् उनका वह बुरा स्वभाव किसी न किसी रूप में प्रकट हो जाता है। [अतः उससे बुरे व्यक्ति का ज्ञान कर लेना चाहिए] ॥ ५९ ॥

कर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १०। ६५ ॥ (१४)

[श्रेष्ठ–अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार ही—]

(शूद्रः ब्राह्मणताम्+एति) शूद्र ब्राह्मण (च) और (ब्राह्मणः शूद्र-ताम्+एति) ब्राह्मण शूद्र हो जाता है अर्थात् गुणकर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला

❀ प्रचलित अर्थ—इस लोक में अनार्यता, निष्ठुरता, क्रूरता, क्रिया (यज्ञ-सन्ध्यावन्दनादि कार्य—)हीनता, ये सब नीच जाति में उत्पन्न पुरुष को मालूम करा देती हैं अर्थात् इन गुणों से युक्त मनुष्य को नीच जाति वाला जानना चाहिये ॥ ५८ ॥

हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है (क्षत्रियात् जातम्+एवं तु तथैव वैश्यात् विद्यात्) वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना ॥ ६५ ॥

(ऋ० भा० भू० ३१३)

"उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से जो शूद्र है वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण, और वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मण, तथा क्षत्रिय ब्राह्मण, वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है। वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है वह क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है॥" (सं० वि० १०६)

"जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण, कर्म, स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय, वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाय, वैसे क्षत्रिय, वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।"

(स० प्र० ८७)

ऋषि ने पूना प्रवचन में इस श्लोक को उद्धृत करके कहा है—

"शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है," इस मनु के वाक्य का भी विचार करना चाहिए।" (पृ० २०)

अनुशीलन : (१) १०। ५७—५८ में कर्मानुसार म्लेच्छ व्यक्तियों की पहचान बतला कर १०। ६५ में कर्मानुसार वर्ण का परिवर्तन हो जाना कहा है अर्थात् कर्मानुसार अनार्य व्यक्ति की पहचान तो होती ही है, कर्म के आधार पर उच्च-निम्न वर्ण वाले के वर्ण का परिवर्तन भी हो सकता है। इस प्रकार १०। ५७—५८ के पश्चात् सम्बद्धता की दृष्टि से १०। ६५ वां प्रासंगिक है।

(२) **कर्मणा वर्णव्यवस्था का अतिस्पष्ट विधान**—मनु ने इस श्लोक में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णव्यवस्था को कर्मों पर आधारित माना है। इस मान्यता के सम्बन्ध में अन्य विवेचन २। ३१, ८७—९१, १०७, ११। ११४ श्लोकों में और उनकी समीक्षा में देखिये।

(३) **श्लोक की पुष्टि में प्रमाण**—प्राचीन काल में कर्मानुसार वर्णव्यवस्था प्रचलित थी। इसके अनेक प्रमाण औरउदाहरण मिलते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र १। ५। १०—११ में इसी मान्यता को स्पष्ट किया है—

"धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥

अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे ॥ १ ॥

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ॥ २ ॥"

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

(४) **वर्ण-परिवर्तन का उदाहरण**—ऐतरेय ब्राह्मण २।१९ में कवष-ऐलूष नामक व्यक्ति की एक घटना वर्णित है, जो वर्ण-परिवर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है। जन्मना निम्न जाति का व्यक्ति ऋषित्व के कारण ऋषियों में परिगणित होकर उच्च-वर्णस्थ कहलाया—

"ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन्, दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति।...स बहिर्धन्वोदूढह पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्—'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति ॥"

अर्थात्—'ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में भाग लेने के लिए आये हुए कवष ऐलूष को ऋषियों ने सोम से वञ्चित कर दिया। यह सोचकर कि यह दासी का पुत्र, कपट-आचरण वाला, अब्राह्मण किस प्रकार हमारे मध्य दीक्षित हो गया है! (यज्ञसे बाहर निकाल देने पर) वह कवष-ऐलूष पिपासा से संतप्त हुआ बाहर जंगल में चला गया। वहां उसने 'अपोनप्त्र' देवता वाले सूक्त का 'अर्थदर्शन किया' फिर ऋषियों ने वेदार्थद्रष्टा होने के कारण उसे पुनः अपने मध्य बुला-कर यज्ञ में दीक्षित कर लिया।

यह सूक्त ऋक्० १०। ३० वां है और वेद में इस सूक्त पर इसी ऋषि का नाम उल्लिखित है। इस ऋषि-द्वारा दृष्ट अन्य १०। ३१—३४ सूक्त भी हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सूक्तों पर लिखित ऋषि उन-उन सूक्तों के अर्थद्रष्टा हैं।

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥१०।१३१॥ (१५)

(एषः) [१। १ से १०। १३० तक] (चातुर्वर्ण्यस्य) चारों वर्णों के व्यक्तियों का (कृत्स्नः) सम्पूर्ण (धर्मविधिः कीर्तितः) धर्म-विधान कहा है। (अतः परम्) इसके बाद अब (शुभं प्रायश्चित्तविधिं प्रवक्ष्यामि) शुभ प्राय-श्चित्त की विधि को कहूँगा—॥ १३१ ॥

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत-हिन्दीभाषा-भाष्यसमन्वितायाम्
अनुशीलन-समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ चातुर्वर्ण्य-
धर्मान्तर्गत-वैश्य-शूद्रधर्मात्मको दशमोऽध्यायः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

[प्रायश्चित्त-विषय]

(११ । १ से ३१ तक)

[प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विधान]

प्रायश्चित्त कब किया जाता है—

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥ (१)

(विहितं कर्म अकुर्वन्) शास्त्र में विहित कर्मों [यज्ञोपवीत संस्कार वेदाभ्यास (११।१९१–१९२), संध्योपासन, यज्ञ आदि] को न करने पर, (च) तथा (निन्दितं समाचरन्) शास्त्र में निन्दित माने गये कार्यों [बुरे कर्मों से धनसंग्रह (११।१९३) मद्यपान, हिंसा आदि] को करने पर (च) और (इन्द्रिय-अर्थेषु प्रसक्तः) इन्द्रिय-विषयों में अत्यन्त आसक्त होने काम, क्रोध, मोह में आसक्त होने] पर (नरः प्रायश्चित्तीयते) मनुष्य प्रायश्चित्त [४७] के योग्य होता है ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥ (२)

(बुधाः) कुछ विद्वान् (अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुः) अज्ञान-वश किये गये पाप में प्रायश्चित्त करने को कहते हैं (एके) और कुछ विद्वान् (श्रुतिनिदर्शनात्) वेदों में उल्लेख होने के कारण (कामकारकृते + अपि आहुः) जानकर किये गये पाप में भी प्रायश्चित्त करने को कहते हैं ॥ ४५ ॥

अनुशीलन : यजु० ३९।१२ में प्रायश्चित्त का उल्लेख हुआ है—

"निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्त्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा ।"

[illegible] (निष्कृत्यै) निवारण के लिए (स्वाहा) सत्यक्रिया, (प्रायश्चित्त्यै)

पापनिवारण के लिए (स्वाहा) सत्यक्रिया और (भेषजाय) सुख के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया का सदा प्रयोग करें।" (महर्षि दया० भाष्य)

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः॥ ४६॥ (३)

(अकामतः कृतं पापम्) अनिच्छापूर्वक किया गया पाप (वेदाभ्यासेन शुध्यति) वेदाभ्यास तदनुसार बार-बार चिन्तन-मनन आचरण से शुद्ध होता है—पाप की भावना नष्ट होकर आत्मा पवित्र होती है (मोहात् कामतः तु कृतम्) आसक्ति में इच्छापूर्वक किया गया पाप [पापफल नहीं] (पृथक्-विधैः प्रायश्चित्तैः) अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों के [११।२११–२२६] करने से शुद्ध होता है॥ ४६॥

प्रायश्चित्त का अर्थ—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥ ४७॥ (४)

('प्रायः' नाम तपः प्रोक्तम्) 'प्रायः' तप को कहते हैं और ('चित्तं' निश्चयः उच्यते) 'चित्त' निश्चय को कहते हैं (तपः-निश्चयसंयुक्तं 'प्रायश्चित्तम्' इति स्मृतम्) तप और निश्चय का संयुक्त होना ही 'प्रायश्चित्त' कहलाता है॥ ४७॥

अनुशीलन : **प्रायश्चित्त का अर्थ और उद्देश्य**—'प्रायश्चित्त' शब्द प्राय-चिति पदों से समास में **'पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम्'** (अष्टा० ६।१।१५७) से सुट् आगम के योग से सिद्ध हुआ है। **तपादि साधनपूर्वकं किल्विषनिवारणार्थं चित्तम् निश्चयम् प्रायश्चित्तम्'**। 'जब व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्त्तव्य कार्य को करके मन में उसके करने के प्रति खिन्नता अनुभव करता है, तब वह उसके दण्ड रूप में स्वयं तप=कष्टसहन करता हुआ यह निश्चय करता है कि पुनः मैं यह पाप नहीं करूंगा।' यह प्रायश्चित्त कहलाता है। ऐसा करने से मन में खिन्नता का भार नहीं रहता। जैसे कोई व्यक्ति किसी को अचानक गलत बात कह जाये और कहने के बाद उसे दुःख अनुभव हो तो वह खेद प्रकट करता है। इससे उसके मन में खिन्नता नहीं रहती और आगे वैसा न करने के लिए सावधान हो जाता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त से पाप क्षीण नहीं होता, अपितु पाप-भावना क्षीण होती है [द्रष्टव्य ११। २२७ पर समीक्षा]। पुनः वह उस पाप को न करने के लिए निश्चय करता है और सावधान रहता है [११।२२६–२३०]। प्रायश्चित्त से मनुष्य की पापवृद्धि रुक जाती है और वह धर्म की ओर उन्मुख होता जाता है।

प्रायश्चित्त क्यों करना चाहिए—

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३ ॥ (५)

[४६–४७ में वर्णित लाभ होने से] (अतः) इसलिए (विशुद्धये) संस्कारों की शुद्धि के लिए (नित्यं प्रायश्चित्तं चरितव्यम्) सदा [बुरा काम होने पर] प्रायश्चित्त करना चाहिए, (हि) क्योंकि (अनिष्कृत-एनसः) पाप-शुद्धि किये बिना मनुष्य (निन्द्यैः लक्षणैः युक्ताः जायन्ते) निन्दनीय लक्षणों से युक्त हो जाते हैं या मरकर पुनर्जन्म में होते हैं ॥ ५३ ॥

व्रात्यों का प्रायश्चित्त—

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥१९१॥ (६)

(येषां द्विजानां सावित्री) जिन द्विजों को यज्ञोपवीत संस्कार (यथा-विधि) उचित समय [इस संस्करण में २ । ११–१३] पर (न+अनूच्येत) नहीं हुआ हो, (तान्) उनको (त्रीन् कृच्छ्रान् चारयित्वा) तीन कृच्छ्र व्रत [११ । २१२] कराके (यथाविधि+उपनाययेत्) विधिपूर्वक उनका उपनयन संस्कार कर देना चाहिए ॥ १९१ ॥

निन्दित कर्म करने वालों का प्रायश्चित्त—

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९२ ॥ (७)

(विकर्मस्थाः तु ये द्विजाः) अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का त्याग कर देने और निन्दित कर्म करने पर जो उपनयनयुक्त द्विज (प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति) प्रायश्चित्त करके अपने को शुद्ध करना चाहते हैं (च) और (ब्रह्मणा परित्यक्ताः) वेदादि के त्यागने पर जो प्रायश्चित्त करके शुद्ध होना चाहते हैं (तेषाम्+अपि+एतत्+आदिशेत्) उन्हें भी पूर्वोक्त व्रत [११ । १९१] करने को कहें ॥ १९२ ॥

वेदोक्त कर्मों के त्याग का प्रायश्चित्त—

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥ (८)

(वेदोक्तानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे) वेदोक्त नैत्यिक [अग्नि-होत्र, संध्योपासन आदि] कर्मों के न करने पर (च) और (स्नातकव्रत-लोपे) ब्रह्मचर्यावस्था में व्रतों [भिक्षाचरण आदि] के न करने पर (अभो-जनं प्रायश्चित्तम्) एक दिन उपवास रखना ही प्रायश्चित्त है ॥ २०३ ॥

अनुशीलन : तुलनार्थ द्रष्टव्य है २ । १९५ [२ । २२०] श्लोक ।

अविहित कर्मों के लिए प्रायश्चित्त-निर्णय—

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥ (९)

(अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानाम्) जिनका प्रायश्चित्त नहीं कहा है ऐसे अपराधों के (अपनुत्तये) दोष को दूर करने के लिए (शक्तिं च पापम् अवेक्ष्य) प्रायश्चित्तकर्ता की शक्ति और अपराध को देखकर (प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्) प्रायश्चित्त का निर्णय कर लेना चाहिए ॥ २०९ ॥

प्रायश्चित्तों का परिचय-वर्णन—

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति।
तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥२१०॥ (१०)

(मानवः) मनुष्य (यैः+अभ्युपायैः) जिन उपायों से (एनांसि व्यपकर्षति) पापों=अपराधों को [पापफलों को नहीं] दूर करता है, अब मैं (देव-ऋषि-पितृ-सेवितान्) विद्वानों, ऋषियों=तत्त्वज्ञानियों और पिता आदि वयोवृद्ध व्यक्तियों द्वारा सेवित (तान् अभ्युपायान् वः वक्ष्यामि) उन उपायों को तुमसे कहूँगा—॥ २१० ॥

अनुशीलन : (१) मनु ने यहां देव=विद्वानों, ऋषियों, पितरों द्वारा सेवित-विहित प्रायश्चित्तों का विधान किया है [११ । २११–२२५] मनुस्मृति में अनेक स्थानों पर देव-ऋषि-पितरों की मान्यताओं का उल्लेख आता है [२ । १२६–१३१ (२ । १५१–१५६) आदि]। परम्परागतरूप में ये प्रचलित रहे हैं। देव-ऋषि-पितर शब्दों के अर्थ को समझने के लिए विशेष विवेचन ३ । ८१–८२ पर देखिए।

(२) 'एनः' के अर्थ पर २ । २ [२ । २७] के अनुशीलन में प्रकाश डाला गया है। वहां द्रष्टव्य है।

(३) यह व्रतों के प्रसंग को प्रारम्भ करने का कथन करने के लिए प्रसंग-संकेतक श्लोक है।

(४) व्रतों से पाप-फल की निवृत्ति नहीं अपितु पापकर्म अर्थात् पापभावना नष्ट होती है। देखिए सप्रमाण अनुशीलन—११ । २२७ पर।

प्राजापत्य व्रत की विधि—

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः ॥२११॥ (११)

(प्राजापत्यं चरन् द्विजः) 'प्राजापत्य' नामक व्रत का पालन करने वाला द्विज (त्रि+अह प्रातः) पहले तीन दिन प्रातःकाल ही, (त्रि+अह

सायम्) फिर तीन दिन केवल सांयकाल, (त्रि+अहम् अयाचितम् अद्यात्) उसके पश्चात् तीन दिन बिना मांगे जो मिले उसका ही भोजन करे (च) और (परं त्रि+अहं न अश्नीयात्) उसके बाद फिर तीन दिन उपवास रखे। [यह प्राजापत्य व्रत है] ॥ २११ ॥

अनुशीलन : योगदर्शन में 'कृच्छ्र' आदि व्रतों का उद्देश्य—मनुस्मृति में चित्त की अशुद्धि को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। इसकी पुष्टि योगदर्शन और उसके व्यासभाष्य में की गई है—"**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः**" अर्थात् तप के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की अशुद्धि दूर होकर शरीर रोगरहित और चित्त आदि इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं [२।४३]।

२।३२ सूत्र के भाष्य में तप की व्याख्या में कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों को भी परिगणित किया है—"**व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्र-चान्द्रायण-सान्तपनादीनि।**" अर्थात् तप के अन्तर्गत कृच्छ्रव्रत, चान्द्रायणव्रत, सान्तपनव्रत आदि व्रत भी आते हैं। इनका शरीर की अनुकूलता के अनुसार पालन करना चाहिए।' इस प्रकार व्रतों से मानसिक पाप की अशुद्धि क्षीण होती है।

कृच्छ्र सान्तपन व्रत की विधि—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥ (१२)

क्रमशः एक-एक दिन (गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधिः सर्पिः कुश+उदकम्) गोमूत्र, गोबर का रस, गोदूध, गौ के दूध का दही, गोघृत और कुशा=दर्भ से उबला जल, इनका भोजन करे (च) और (एकरात्र+उपवासः) फिर एक दिन-रात का उपवास रखे, यह (कृच्छ्रं-सांतपनं स्मृतम्) 'कृच्छ्र सांतपन' नामक व्रत है ॥ २१२ ॥

अतिकृच्छ्र व्रत की विधि—

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः ॥ २१३ ॥ (१३)

(अतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः) 'अतिकृच्छ्र' नामक व्रत को करने वाला द्विज (पूर्ववत्) पूर्व विधि [११।२११] के अनुसार (त्रि+अहाणि त्रीणि) तीन दिन केवल प्रातःकाल, तीन दिन केवल सायंकाल, तीन दिन बिना मांगे प्राप्त हुआ (एक-एकं ग्रासम्+अश्नीयात्) एक-एक ग्रास भोजन करे (अन्त्यं त्रि+अहं च उपवसेत्) और अन्तिम तीन दिन उपवास रखे। [यह 'अतिकृच्छ्र' व्रत है] ॥ २१३ ॥

तप्तकृच्छ्र व्रत की विधि—

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥ २१४ ॥ (१४)

(तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रः) 'तप्तकृच्छ्र' व्रत को करने वाला द्विज (उष्णान् जल-क्षीर-घृत-अनिलान् प्रतित्र्यहं पिबेत्) गर्म पानी, गर्म दूध, गर्म घी और वायु प्रत्येक को तीन-तीन दिन पीकर रहे, और (सकृत्स्नायी) एक बार स्नान करे, तथा (समाहितः) एकाग्रचित्त रहे ॥ २१४ ॥

अनुशीलन : इस श्लोक में 'वायु पीना' एक मुहावरा है जिसको आजकल 'हवा के सहारे जीना' रूप में भी प्रयोग करते हैं इसका अर्थ—'बिना कुछ खाये पीये रहना' है अर्थात् अन्तिम तीन दिन बिना कुछ खाये-पीये रहे।

चान्द्रायण व्रत की विधि—

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥२१६॥ (१५)

[पूर्णिमा के दिन पूरे दिन में १५ ग्रास भोजन करके फिर] (कृष्णे एक-एकं पिण्डं ह्रासयेत्) कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास भोजन प्रतिदिन कम करता जाये, [इस प्रकार करते हुए अमावस्या को पूर्ण उपवास रहेगा, फिर शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को पूरे दिन में एक ग्रास भोजन करके] (शुक्ले वर्धयेत) शुक्लपक्ष में एक-एक ग्रास भोजन पूरे दिन में बढ़ाता जाये, इस प्रकार करते हुए (त्रिषवणम्+उपस्पृशन्) तीन समय स्नान करे, (एतत् चान्द्रायणं स्मृतम्) यह 'चान्द्रायण' व्रत कहाता है ॥ २१६ ॥

यवमध्यम चान्द्रायणव्रत की विधि—

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥ (१६)

(यवमध्यमे) यवमध्यम विधि में अर्थात् जैसे जौ मध्य में मोटा होता है, आगे-पीछे पतला; इस विधि के अनुसार (चान्द्रायणं चरन्) 'यवमध्यम चान्द्रायण व्रत' करते हुए, व्यक्ति (शुक्ल-पक्ष-आदि-नियतः) शुक्लपक्ष को पहले करके (एतम्+एव कृत्स्नं विधिम्) इसी पूर्वोक्त [११ । २१६] सम्पूर्ण विधि को (आचरेत्) करे अर्थात् शुक्लपक्ष से प्रारम्भ करके प्रथम दिन से एक-एक ग्रास भोजन बढ़ाता जाये, पूर्णिमा को पूर्ण भोजन करे। फिर कृष्णपक्ष के प्रथम दिन से एक-एक ग्रास घटाता जाये और अमावस्या के दिन निराहार रहे ॥ २१७ ॥

व्रत-पालन के समय यज्ञ करें—

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥ (१७)

प्रायश्चित्तकाल में (अन्वहम्) प्रतिदिन (स्वयम्) प्रायश्चित्तकर्त्ता को स्वयं (महाव्याहृतिभिः होमः कर्त्तव्यः) महाव्याहृतियों [भूः, भुवः, स्वः आदियुक्त मन्त्रों से] हवन करना चाहिए (च) और (अहिंसा-सत्यम्-अक्रोध-आर्जवं समाचरेत्) अहिंसा, सत्य, क्रोधरहित रहना, कुटिलता न करना, इन बातों का पालन करे ॥ २२२ ॥

अनुशीलन : महाव्याहृतियुक्त होममन्त्र—महाव्याहृतियों से युक्त कुछ प्रसिद्ध मन्त्र निम्न हैं, जो यज्ञ में आज भी आहुतिदान के लिए प्रयुक्त होते हैं—

(क) अग्निप्रज्वलित करने का मन्त्र—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ।। यजु० ३।५ ॥

(ख) घृताहुति मन्त्र—

ओं भूरग्नये स्वाहा । इदमग्नये–इदं न मम ॥१॥ ओं भुवर्वायवे स्वाहा । इदं वायवे–इदं न मम ॥२॥ ओं स्वरादित्याय स्वाहा । इदमादित्याय–इदं न मम ॥३॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा । इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः इदं न मम ॥४॥
(सं० वि० सामान्यप्रकरण) ।

(ग) अन्य हैं ऋक्० ९।६६।१९–२१॥१०।१२१।१०॥ और 'गायत्री मन्त्र' [श्लोक २।५३ (२।७८) की समीक्षा में उद्धृत] आदि ।

व्रत-पालन के समय गायत्री आदि का जप करें—

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥२२५॥ (१८)

प्रायश्चित्तकर्त्ता प्रायश्चित्तकाल में (नित्यम्) प्रतिदिन (शक्तितः) शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक (सावित्रीं च पवित्राणि जपेत्) सावित्री=गायत्री मन्त्र और 'पवित्र करने की प्रार्थना' वाले मन्त्रों का जप करे, (एवम्) ऐसा करना (सर्वेषु+एव व्रतेषु) सभी व्रतों में (प्रायश्चित्तार्थम्+आदृतः) प्रायश्चित्त के लिए उत्तम माना गया है ॥ २२५ ॥

अनुशीलन : (१) पवित्रताकारक मन्त्र—मन को दुर्गुणों से हटाकर पवित्र करने की भावना वाले कुछ मन्त्र निम्न हैं—

(क) ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रन्तन्न आ सुव ॥ यजु० ३०। ३ ॥

अर्थ—"हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त (देव) शुद्ध स्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा, सुव) दूर कर दीजिए (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं (तत्) वह सब हमको (आ, सुव) प्राप्त कीजिए।" (सं० वि० ईश्वरस्तुति० प्रकरण)।

(ख) शिवसंकल्पसूक्त के मन्त्र "ओं यज्जाग्रतो दूरमुदैति०" आदि
यजु० ३४। १-६ ॥

(ग) गायत्री मन्त्र अर्थसहित [देखिए २। ५३ (२। ७८) पर उद्धृत]

इत्यादि 'दुर्गुणों को दूर कर सद्गुणों को धारण करने की भावना वाले' मन्त्रों का जप प्रायश्चित्त में करे।

मानस पापों के प्रायश्चित्त की विधि—

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ (१९)

(आविष्कृत-एनसः द्विजातयः) जिनका पाप क्रियारूप में प्रकट हो गया है, ऐसे द्विजातियों को (एतैः व्रतैः शोध्याः) इन पूर्वोक्त [११।२११–२२५] व्रतों से शुद्ध करें, और (अनाविष्कृतपापान् तु) जिनका पाप क्रिया रूप में प्रकट नहीं हुआ है अर्थात् अन्तःकरण में ही पाप-भावना उत्पन्न हुई है, ऐसों को (मन्त्रैः च होमैः शोधयेत्) मन्त्र-जपों [११।२२५] और यज्ञों से शुद्ध करें अर्थात् मानसिक पापों की शुद्धि [पाप-फलों की नहीं] जपों एवं यज्ञों=संध्योपासन-अग्निहोत्र आदि से होती है ॥ २२६ ॥

अनुशीलन : तुलनार्थ निम्न ५। १०७ श्लोक भी द्रष्टव्य है—

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥

पांच कर्मों से प्रायश्चित्त में पापभावना से मुक्ति—

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥ (२०)

(ख्यापनेन) अपनी त्रुटि और उसके लिए दुःख अनुभव करते हुए सर्वसाधारण के सामने किये हुए अपने दोष को कहने से [११।२२८] (अनुतापेन) पश्चात्ताप करने से [११।२२९–२३२] (तपसा) व्रतों [११।२११–२२५, २३३] की साधना से, (अध्ययनेन) वेदाभ्यास से [११।२४५–

२४६] (पापकृत् पापात् मुच्यते) पाप करने वाला [पाप-फल से नहीं अपितु] पाप-भावना से रहित हो जाता है (तथा) और (आपदि) आपद्-ग्रस्त व्याधि, जरा आदि से पीड़ित अवस्था में अपराध होने पर (दानेन) प्रायश्चित्त-हेतु सत्संग और परोपकारार्थ दान देने से भी पापभावना समाप्त होकर निष्पापता आती है ॥ २२७ ॥॰

अनुशीलन : (१) प्रायश्चित्त से पाप-फल से नहीं पापभावना से मुक्ति—(क) प्रायश्चित के इस प्रसंग में यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रायश्चित्त से किये हुए पाप का फल क्षीण नहीं होता अपितु पाप-भावना नष्ट होती है और आगे वह पाप नहीं किया जाता। प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति किये हुए पाप-कर्म पर पश्चात्ताप का अनुभव करता है, उसके दण्ड के रूप में तपश्चरण करता है। यही मान्यता प्रायश्चित्त की परिभाषा वाले ११। २३० और ११।२३२ श्लोक से सिद्ध होती है। और, दूसरा मनु का प्रमाण यह है कि मनु किये हुए अधर्म के फल को किसी अवस्था में निष्फल नहीं मानते—

"न त्वेव कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः।" ४।१७३ ॥

(ख) इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रचलित टीकाओं में जो प्रत्येक श्लोक पर 'पाप से छूट जाना' आदि मान्यता वाले अर्थ किये हैं, वे मनुसम्मत नही हैं।

इस भाष्य में जहाँ-जहाँ भी 'पाप से छूटना' आदि अर्थ किये हैं उनका अभिप्राय 'पापफल से छूटना नहीं' अपितु 'पापभावना से छूटना' है। इस मान्यता की पुष्टि के लिए ११।२३० के अनुशीलन में देखिए महर्षि दयानन्द की मान्यता।

(२) इस मान्यता की तुलना—तुलनार्थ द्रष्टव्य है ५।१०७ श्लोक का पद—'**दानेनाकार्यकारिणः (शुद्धयन्ति)**"।

(३) आपत्काल में दान द्वारा पापभावना से मुक्ति पर विचार—श्लोक में आपत्काल में पापभावना से मुक्ति के लिए दान देने का विधान किया है। यह सत्संग, विद्या आदि शुभगुणों का और परोपकारार्थ धन के दान का विधान है। मनु ने स्वयं कहा है—"**सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते**"=संसार में जितने दान हैं, उनमें वेद और ईश्वर-विद्या का दान और श्रेष्ठ गुणों का दान सर्वोत्तम है [४।२३३]। धन को श्रेष्ठ पात्र के लिए परोपकारभावना से देना, धन का दान कहलाता है। अन्य भावना से दिया गया धन 'दान' नहीं होता [४।१८७–१९६]। मनु ने ४।२२७ में दान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मनुष्य सुपात्र को सात्त्विक भाव से समाज के

॰ [**प्रचलित अर्थ**—अपने आपको सर्वसाधारण में कहने, पश्चात्ताप करने से, कठिन तपश्चरण से, अध्ययन (वेदादि पाठ, जप आदि) से, और (इन सब कर्मों की शक्ति नहीं रहने पर) दान करने से पापी मनुष्य पाप से छूट जाता है ॥ २२७ ॥]

परोपकार के लिए दान दे। इसके साथ-साथ संध्या-यज्ञ-जप आदि भी करे। अब प्रश्न उठता है कि आपत्काल क्या है ? इसका स्पष्ट-सा उत्तर यह है कि इस प्रसंग में विहित व्रतों को जब व्यक्ति करने में वास्तव में असमर्थ हो जाता है, जैसे अतिव्याधि, अतिजरा आदि की अवस्था में, तब वह व्यक्ति दान की विधि को अपनाये। यह भी एक तप का भेद है। इस दानव्रत के साथ अन्य मन्त्रजप, होम आदि की विधि अन्य व्रतों के समान ही करे।

सबके सामने अपना अपराध कहने से पापभावना से मुक्ति—

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥ (२१)

(अधर्मं कृत्वा) अधर्मयुक्त आचरण करके (नरः) मनुष्य (यथा-यथा स्वयम् अनुभाषते) जैसे-जैसे अपने पाप को लोगों से कहता है (तथा तथा अहिः त्वचा+इव) वैसे-वैसे सांप की केंचुली के समान (तेन+अधर्मेण मुच्यते) उस अधर्म से—अपराध-जन्य संस्कार से मुक्त होता जाता है और लोगों में उसके प्रति अपराधी होने की भावना समाप्त होती जाती है ॥ २२८ ॥

अनुताप करने से पाप-भावना से मुक्ति—

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥ (२२)

और, (तस्य मनः यथा यथा) उसका मन=आत्मा जैसे-जैसे (दुष्कृतं कर्म गर्हति) किये हुए पाप-अपराध को धिक्कारता है [कि मैंने यह बुरा कार्य किया है............आदि] (तथा तथा तत् शरीरम्) वैसे-वैसे उसका शरीर (तेन अधर्मेण मुच्यते) उस अधर्म-अपराध से मुक्त-निवृत्त होता जाता है अर्थात् बुरे कर्म को बुरा मानकर उसके प्रति ग्लानि होने से शरीर और मन बुरे कार्य करने से निवृत्त होते जाते हैं ॥ २२९ ॥

तपपूर्वक पुनः पाप न करने के निश्चय से पापभावना से मुक्ति—

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥२३०॥ (२३)

मनुष्य (पापं हि कृत्वा) पाप=अपराध करके (संतप्य) और उसके लिए पश्चात्ताप करके (तस्मात् पापात् प्रमुच्यते) उस पाप-कर्म से छूट जाता है [पाप-फल से नहीं] अर्थात् उस पाप को करने में पुनः प्रवृत्ति नहीं करता और (पुनः एवं न कुर्यात्) फिर कभी इस प्रकार का कोई पाप

नहीं करूंगा (इति निवृत्त्या) इस प्रकार निश्चय करने के बाद पापों से निवृत्ति होने से (सः तु पूयते) वह व्यक्ति पवित्राचरण वाला बन जाता है ॥ २३० ॥ ❋

अनुशीलन : इस श्लोक को पूना-प्रवचन में (पृ० ६३-६४) ऋषि-दयानन्द ने उद्धृत किया है—"अब कोई ऐसी शंका निकाल ले कि पूर्वकृत पापों का दण्ड जीव को बिना भोगे छुटकारा नहीं मिल सकता यह हमारा मत है, तो फिर पश्चात्ताप का कुछ भी उपयोग नहीं है क्या ? इसका उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पापक्षय नहीं होता, परन्तु आगे पाप करना बन्द हो जाता है।"

कर्मफलों पर चिन्तन करने से पाप-भावना से मुक्ति—

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।
मनोवाङ्मूर्त्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥ (२४)

(प्रेत्य कर्मफल–उदयम्) 'मरकर कर्मों का फल अवश्य मिलेगा' (मनसा एव संचिन्त्य) मन में इस विचार को, रखते हुए मनुष्य (मनः-वाक्-मूर्त्तिभिः) मन, वाणी और शरीर से (नित्यं शुभकर्म समाचरेत्) सदा शुभ कार्य करे ॥ २३१ ॥

पाप-भावना से मुक्ति चाहने वाला पुनः पाप न करे—

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥ (२५)

(अज्ञानात् यदि वा ज्ञानात्) अज्ञान से अथवा जानबूझकर (विगर्हितं कर्म कृत्वा) निन्दित कर्म करके (तस्मात् विमुक्तिम्+अन्विच्छन्) मनुष्य उस पाप-प्रवृत्ति से छुटकारा पाने के लिए (द्वितीयं न समाचरेत्) दुबारा पाप न करे [तभी पाप-प्रवृत्ति से छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा नहीं।] ॥ २३२ ॥

तप तब तक करें जब तक मन में प्रसन्नता आ जाये—

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥ (२६)

(यस्मिन् कर्मणि कृते) जिस कर्म के करने पर (अस्य मनसः अलाघवं स्यात्) मनुष्य के मन में जितना दुःख पश्चात्ताप अर्थात् असन्तोष एवं अप्रसन्नता होवे (तस्मिन्) उस कर्म में (यावत् तुष्टिकरं भवेत्)

❋ **प्रचलित अर्थ**—पापी मनुष्य पापकर्म करके उसके लिए अनुताप (पछतावा) कर पाप से छूट जाता है तथा 'फिर मैं ऐसा निन्दित कर्म नहीं करूंगा' इस प्रकार संकल्प रूप से उसका त्याग कर वह पवित्र हो जाता है ॥ २३० ॥

जितना तप करने से मन में सुप्रसन्नता एवं संतुष्टि हो जावे (तावत् तपः कुर्यात्) उतना ही तप करे, अर्थात् किसी पाप के करने पर मनुष्य के मन में जब तक ग्लानिरहित पूर्ण संतुष्टि एवं प्रसन्नता न हो जाए तब तक स्वेच्छा से तप करता रहे ॥ २३३ ॥

वेदाभ्यासादि से पाप-भावनाओं का क्षय—

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥ (२७)

(अन्वहं शक्त्या वेदाभ्यासः) प्रतिदिन वेद का अधिक-से-अधिक अध्ययन-मनन (महायज्ञक्रियाः) पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, (क्षमा) तप-सहिष्णुता, ये क्रियायें (महापातकजानि+अपि पापानि) बड़े पापों से उत्पन्न पापभावनाओं या दुःसंस्कारों को भी (नाशयन्ति) नष्ट कर देती हैं ॥ २४५ ॥

वेदज्ञानाग्नि में पाप-भावना विनष्ट होती है—

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥ (२८)

(यथा वह्निः तेजसा) जैसे अग्नि अपने तेज से (प्राप्तम् एधः क्षणात् निर्दहति) समीप आये काष्ठ आदि इंधन को तत्काल जला देती है (तथा) वैसे ही (वेदवित्) वेद का ज्ञाता (ज्ञान-अग्निना सर्वं पापं दहति) वेद-ज्ञान रूपी अग्नि से सब आने वाली [पाप-फलों को नहीं] पाप-भावनाओं को जला देता है—पापसंस्कारों को भस्म कर देता है ॥ २४६ ॥

अनुशीलन :—इन्हीं भावों की तुलना के लिए १२ । १०१ श्लोक भी द्रष्टव्य है । मनु ने वहाँ भी इसी मान्यता को प्रकट किया है ।

(१) **ज्ञान से मुक्ति में सांख्यदर्शन का प्रमाण**—मनु ने ११।२६३—२६५ श्लोकों में भी इस मान्यता की पुष्टि की है कि 'वेदों का वेत्ता विद्वान् वेदज्ञान से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।' १२।८३, ८५, १०४ में भी वेदाभ्यास और परमात्मज्ञान को मुक्ति का साधन माना है । सांख्यदर्शन में भी इस मान्यता का उल्लेख है—

ज्ञानान् मुक्तिः ३ । २३ ॥

अर्थात् वेदज्ञान और परमात्मज्ञान से जीव को मुक्ति प्राप्त हो जाती है ।

वेदज्ञान-रूपी तालाब में पापभावना का डूबना—

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥२६३॥ (२६)

(यथा) जैसे (क्षिप्तं लोष्टम्) फेंका हुआ ढेला (महाह्रदं प्राप्य) वि-

नश्यति) बड़े तालाब में गिरकर पिघलकर नष्ट हो जाता है (तथा) उसी प्रकार (त्रिवृति वेदे) तीन विद्याओं वाले वेदों के ज्ञान में (सर्वं दुश्चरितं मज्जति) सब बुरे आचरण नष्ट हो जाते हैं।। २६३ ।।

वेदवित् का लक्षण—

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥२६४॥ (३०)

(ऋचः) ऋचाएँ (यजूंषि) यजुष् मन्त्र (च) और (अन्यानि विविधानि सामानि) इनसे भिन्न सामवेद के अनेक मन्त्र (एषः त्रिवृत् वेदः ज्ञेयः) यह तीनों 'त्रिवृत्वेद' जानना चाहिए, (यः एनं वेद सः वेदवित्) जो इस त्रिवृत्वेद=त्रयीविद्या अर्थात् सभी वेदों को जानना है, वही वस्तुतः 'वेद-वेत्ता' है ।। २६४ ।।

अनुशीलन : त्रयीविद्या का अभिप्राय एवं अन्यत्र वर्णन—मनु ने तीन वेदरूप त्रयीविद्या का वर्णन १। २३ और १२। १११-११२ में भी किया है।

मीमांसा दर्शन में—जहां अर्थव्यवस्था के साथ-साथ पादव्यवस्था भी है अर्थात् जो मन्त्र अर्थानुसार छन्दोबद्ध हैं वे ऋक्मन्त्र कहे गए हैं। जो इन विशेषताओं के साथ गाये भी जा सकते हैं वे साममन्त्रऔर शेष गद्यरूप यजुष्मन्त्र हैं। इस प्रकार चारों वेद त्रयीविद्यारूप हैं। सूत्र हैं—तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः ॥ २। १। ३५-३७॥ कहीं-कहीं ज्ञान-कर्म-उपासनापरक मन्त्रों के आधार पर भी चारों वेदों को त्रयीविद्यारूप माना गया है।

ईश्वर भी एक ज्ञेय वेद है—

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ।। २६५ ॥ (३१)

और, (यत् त्रि+अक्षरम् आद्यं ब्रह्म) जो तीन अक्षरों वाले प्रमुख नाम 'ओम्' से उच्चरित होने वाला सबका आदिमूल परमेश्वर है, (यस्मिन् त्रयी प्रतिष्ठिता) जिसमें तीनों वेदविद्याएँ प्रतिष्ठित हैं, (सः अन्यः गुह्यः त्रिवृत्वेदः) वह भी एक गुप्त अर्थात् अदृश्य-सूक्ष्म 'त्रिवृत्वेद' है; (यः तं वेद सः वेदवित्) जो उसको जानता है, वह 'वेदवेत्ता' कहलाता है ।। २६५ ।।

अनुशीलन : अन्यत्र वर्णन—मनु ने 'ओम्' का वर्णन २। ५१ (२। ७६) में किया है। इसके अतिरिक्त १। ३॥ १। २३ और १२। ९४, १११-११२ श्लोकों में भी वेद को ईश्वररचित घोषित किया है।

इस श्लोक में 'ओम्' नाम वाच्य परमेश्वर को स्वयं एक वेद का रूप माना है क्योंकि परमेश्वर सर्वज्ञाता है। वही वेदों का रचयिता है। इसका उल्लेख मनु १। २३ में कर चुके हैं। इस सम्बन्धी वेदों के प्रमाणों के लिए देखिए उस श्लोक पर अनुशीलन।

उस सूक्ष्म-निराकार परमात्मा को वेदवेत्ता ही जान सकते हैं और जो उस परमेश्वर का साक्षात् कर लेता है वही वास्तविक 'वेदवेत्ता' है।

प्रायश्चित्त विषय का उपसंहार—

एष वोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः।
निःश्रेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत॥ २६६॥ (३२)

(एषः) यह [११। ४४-२६५ तक] (वः) तुम्हें (प्रायश्चित्तस्य कृत्स्नः निर्णयः अभिहितः) प्रायश्चित्त का सम्पूर्ण [अपराध, उनका प्रायश्चित्त एवं प्रायश्चित्तविधि] निर्णय कहा।

अब (विप्रस्य इमं निश्रेयसं धर्मविधिम्) ब्राह्मण के इस [१२। १-१२५] मोक्ष के धर्मविधान अर्थात् कर्मविधान को (निबोधत) सुनो—॥२६६॥

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत हिन्दी-भाषाभाष्य-समन्वितायाम्
'अनुशीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
प्रायश्चित्त- विषयात्मक एकादशोऽध्यायः॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

[हिन्दी-भाष्य 'अनुशीलन' समीक्षाभ्यां सहितः]

(कर्मफल-विधान एवं निःश्रेयस कर्मों का वर्णन)

[१२।१ से ,६६ तक]

त्रिविध कर्मों का और त्रिविध गतियों का कथन—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥ (१)

(मनः-वाक्-देहसंभवं कर्म) मन, वचन और शरीर से किये जाने वाले कर्म (शुभ-अशुभ-फलम्) शुभ-अशुभ फल को देने वाले होते हैं, (कर्मजा नृणाम्) और उन कर्मों के अनुसार मनुष्यों की (उत्तम-अधम-मध्यमाः गतयः) उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन गतियां=जन्मावस्थाएँ होती हैं ॥ ३ ॥

मन कर्मों का प्रवर्तक—

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥ (२)

(इह) इस विषय में (देहिनः मनः) मनुष्य के मन को (तस्य त्रिविधस्य+अपि त्रि+अधिष्ठानस्य दशलक्षणयुक्तस्य) उस उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन प्रकार के; मन, वचन, क्रिया भेद से तीन आश्रय वाले और दशलक्षणों [१२।५-७] से युक्त कर्म का (प्रवर्तकं विद्यात्) प्रवृत्त करनेवाला जानो ॥ ४ ॥

त्रिविध मानसिक बुरे कर्म—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥ (३)

(त्रिविधं मानसं कर्म) मानसिक कर्मों में से तीन मुख्य अधर्म हैं (परद्रव्येषु+अभिध्यानम्) परद्रव्यहरण अथवा चोरी [का विचार] (मनसा+अनिष्टचिंतनम्) लोगों का बुरा चिन्तन करना, मन में द्वेष

करना, ईर्ष्या करना, (वितथ+अभिनिवेशः) वितथाभिनिवेश अर्थात् मिथ्या निश्चय करना ॥ ५ ॥ (उपदेश मञ्जरी ३४)

चतुर्विध वाचिक बुरे कर्म—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥ (४)

(वाङ्मयं चतुर्विधं स्यात्) वाचिक अधर्म चार हैं—(पारुष्यम्) पारुष्य अर्थात् कठोरभाषण। सब समय, सब ठौर मृदुभाषण करना, यह मनुष्यों को उचित है। किसी अन्धे मनुष्य को 'ओ अंधे' ऐसा कहकर पुकारना निस्सन्देह सत्य है परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है। (अनृतं च+एव) अनृत-भाषण अर्थात् झूठ बोलना, (पैशुन्यं च+अपि) पैशुन्य अर्थात् चुगली करना, (असम्बद्ध प्रलापः) असम्बद्धप्रलाप अर्थात् जानबूझकर [लांछन या बुराई बनाकर] बात को उड़ाना ॥ ६ ॥

(उपदेश मञ्जरी० ३४)

त्रिविध शारीरिक बुरे कर्म—

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥ (५)

(शारीरं त्रिविधं स्मृतम्) शारीरिक अधर्म तीन हैं—(अदत्तानाम्+उपादानम्) चोरी (हिंसा च+एव) हिंसा अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म, ❀ (परदारोपसेवा) रंडीबाजी वा व्यभिचारादि कर्म करना ॥ ७ ॥

(उपदेशमञ्जरी० ३४)

❀ (अविधानतः) शास्त्रविरुद्ध रूप में करना [शास्त्र में कुछ हिंसाएँ विहित हैं, जैसे—आपत्काल में आततायी की हिंसा (८। ३४८-३५१), हिंस्रपशु की हिंसा, [युद्ध में शत्रुओं की हिंसा आदि]।............

जैसा कर्म उसी प्रकार उसका योग—

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥ (६)

(अयम्) यह जीव (मानसं शुभ+अशुभं कर्म मानसा+एव) मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है उसको मन, (वाचाकृतं वाचा) वाणी से किये को वाणी, (च कायिकं कायेन+एव) और शरीर से किये को शरीर से (उपभुङ्क्ते) सुख-दुःख को भोगता है ॥ ८ ॥

(स० प्र० नवम समु०)

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥६॥ (७)

(नरः) जो नर (शरीरजैः कर्मदोषैः स्थावरतां याति) शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्ष आदि स्थावर का जन्म, (वाचिकैः पक्षिमृगताम्) वाणी से किये पापकर्मों से पक्षी और मृग आदि तथा (मानसैः अन्त्यजातिताम्) मन से किये दुष्टकर्मों से चंडाल आदि का शरीर मिलता है ॥ ६ ॥

(स० प्र० नवम समुल्लास)

प्रकृति के आत्मा को प्रभावित करने वाले तीन गुण—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥ (८)

(सत्त्वं रजः च तमः एव त्रीन् आत्मनः गुणान् विद्यात्) सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन तीनों को आत्मा को प्रभावित करनेवाले, प्रकृति के गुण समझें, (महान्) महत्तत्त्व=प्रकृति का प्रथम विकार [१। १४] (यैः) जिन इन तीन गुणों से (अशेषतः) बिना किसी पदार्थ को छोड़े (इमान् सर्वान् भावान् व्याप्य स्थितः) इन समस्त प्रकृति के कार्यरूप पदार्थों को व्याप्त करके स्थित है ॥ २४ ॥

अनुशीलन : 'आत्मा' शब्द का अर्थ प्रकृति भी होता है। यहाँ यही अर्थ प्रासंगिक है। इस अर्थ से सम्बन्धित विस्तृत विवेचन १। १५ पर द्रष्टव्य है।

जिस गुण की प्रधानता, वैसी ही आत्मा—

यो यदेषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥ (९)

(यः गुणः एषां देहे) जो गुण इन जीवों के देह में (साकल्येन+अतिरिच्यते) अधिकता से वर्तता है (सः तदा तं शरीरिणम्) वह गुण उस जीव को (तद्गुणप्रायं करोति) अपने सदृश कर लेता है ॥ २५ ॥

(स० प्र० नवम सम०)

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥ (१०)

(सत्त्वं ज्ञानम्) जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, (अज्ञानं तमः) जब अज्ञान रहे तब तम, (रागद्वेषौ रजः स्मृतम्) और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिए (एतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः एतत् व्याप्ति-

मत्) ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं ॥ २६ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

आत्मा में सत्वोगुण प्रधानता की पहचान—

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥ (११)

उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिए कि (तत्र आत्मनि यत् किंचित् प्रीतिसंयुक्तम्) जब आत्मा में प्रसन्नता (प्रशान्तम्+इव शुद्धाभं लक्षयेत्) मन प्रसन्न प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्ते (तत्+उपधारयेत् सत्त्वम्) तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं ॥ २७ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

आत्मा में रजोगुण प्रधानता की पहचान—

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥ (१२)

❀ (यत् तु आत्मनः) जब आत्मा और मन (दुःखसमायुक्तम्+अप्रीतिकरम्) दुःखसंयुक्त प्रसन्नतारहित विषय में (सततं हारि) इधर-उधर गमन आगमन में लगे (तत् विद्यात् रजः) तब समझना कि ❀ रजोगुण प्रधान, सत्त्व-गुण और तमोगुण अप्रधान है ॥ २८ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

❀ (देहिनाम्) प्राणियों के·········

❀ (प्रतिपम्) सतोगुण का विरोधी············

आत्मा में तमोगुण की प्रधानता की पहचान—

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥ (१३)

(यत् तु मोहसंयुक्तं स्यात्) जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फंसा हुआ आत्मा और मन हो, (अव्यक्तम्) जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, (विषयात्मकम्) विषयों में आसक्त, (अप्रतर्क्यम्) तर्क-वितर्क रहित, (अविज्ञेयम्) जानने के योग्य न हो, (तत्+उपधारयेत् तमः) तब निश्चय समझना चाहिए कि इस समय मुझ में तमोगुण प्रधान, और सत्त्व गुण तथा रजोगुण अप्रधान है ॥ २९ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥ (१४)

अब (यः) जो (चैतेषां त्रयाणाम्+अपि अग्र्यः मध्यः च जघन्यः फलोदयः) इन तीनों गुणों का उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है (तम् अशेषतः प्रवक्ष्यामि) उसको पूर्ण भाव से कहते हैं ॥ ३० ॥
(स० प्र० नवम समु०)

सतोगुण को प्रत्यक्ष कराने वाले लक्षण—

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥ (१५)

जो (वेदाभ्यासः तपः ज्ञानम्) वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि (शौचम्+इन्द्रियनिग्रहः) पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह (धर्मक्रिया च आत्मचिन्ता) धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है (सात्त्विकं गुणलक्षणम्) यही सत्त्वगुण का लक्षण है ॥ ३१ ॥
(स० प्र० नवम समु०)

रजोगुण के लक्षण—

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥ (१६)

जब रजोगुण का उदय, सत्त्वगुण और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है तब (आरम्भ-रुचिता) आरम्भ में रुचिता, (अधैर्यम्) धैर्यत्याग (असत्कार्यपरिग्रहः) असत् कर्मों का ग्रहण, (अजस्रं विषय-उपसेवा) निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है (राजसं गुणलक्षणम्) तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझ में वर्त रहा है ॥ ३२ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

तमोगुण के लक्षण—

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥३३॥ (१७)

जब तमोगुण का उदय और दोनों का अन्तर्भाव होता है तब (लोभः) अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, (स्वप्नः) अत्यन्त आलस्य और निद्रा, (अधृतिः) धैर्य का नाश, (क्रौर्यम्) क्रूरता का होना (नास्तिक्यम्) नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, (भिन्नवृत्तिता) भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति (च) और (प्रमादः) एकाग्रता का अभाव, (याचिष्णुता) और किन्हीं व्यसनों में फंसना होवे, तब (तामसं गुणलक्षणम्) तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है ॥ ३३ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥ (१८)

(त्रिषु तिष्ठताम्) तीनों कालों [भूत, भविष्यत् और वर्तमान] में विद्यमान रहने वाले (एतेषां त्रयाणाम्+अपि गुणानाम्) इन तीनों गुणों के (गुणलक्षणं क्रमशः) 'गुणलक्षण' को क्रमशः (सामासिकम् इदं ज्ञेयम्) संक्षेप में इस प्रकार [१२। ३५-३८] समझें ॥ ३४ ॥
(स० प्र० नवम समु०)

तमोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा—

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥ (१९)

(यत् कर्म कृत्वा) जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके, (कुर्वन्) करता हुआ (च) और (करिष्यन्+एव लज्जति) करने की इच्छा से लज्जा, शंका और भय को प्राप्त होवे (तत् ज्ञेयं सर्वं तामसं गुणलक्षणम्) तब जानो कि मुझ में प्रवृद्ध तमोगुण है ॥ ३५ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

रजोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा—

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥३६॥ (२०)

(येन कर्मणा) जिस कर्म से (अस्मिन् लोके) इस लोक में जीवात्मा (पुष्कलां ख्यातिम्+इच्छति) पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, (असंपत्तौ न शोचति) दरिद्रता होने में भी चारण, भाट आदि को [अपनी प्रसिद्धि के लिए] दान देना नहीं छोड़ता, (तत् विज्ञेयं तु राजसम्) तब समझना कि मुझ में रजोगुण प्रबल है ॥ ३६ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

सतोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा—

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥ (२१)

और जब मनुष्य का आत्मा (सर्वेण ज्ञातुम्+इच्छति) सब से जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाये, (यत् च आचरन् न लज्जति) अच्छे कामों में लज्जा न करे (च) और (येन अस्य आत्मा तुष्यति) जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण ही में रुचि रहे (तत् सत्त्व-गुणलक्षणम्) तब समझना कि मुझ में सत्त्वगुण प्रबल है ॥ ३७ ॥
(स० प्र० नवम समु०)

तीनों गुणों के प्रधान उद्देश्य व पारस्परिक श्रेष्ठता—

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥ (२२)

(तमसः लक्षणं कामः) तमोगुण का लक्षण काम, (रजसः तु+अर्थः) रजोगुण का अर्थसंग्रह की इच्छा, (सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः) सत्त्वगुण का लक्षण धर्मसेवा करना है, (एषां यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्) परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥ (स०प्र० नवम समु०)

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥ (२३)

(एषाम्) इन तीन गुणों में (येन गुणेन) जिस गुण से (यः तु) जो मनुष्य (संसारान् प्रतिपद्यते) जिस सांसारिक गति को प्राप्त करता है (तान्) उन सबको (अस्य सर्वस्य यथाक्रमं समासेन वक्ष्यामि) समस्त संसार के क्रम से, संक्षेप से कहूँगा ॥ ३९ ॥

"अब जिस-जिस गुणों से, जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, उस-उस को आगे लिखते हैं।" (स० प्र० नवम समु०)

तीन गुणों के आधार पर तीन गतियाँ—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥ (२४)

(सात्त्विकाः देवत्वम्) जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, (राजसाः मनुष्यत्वम्) जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य, (च) और (तामसाः तिर्यक्त्वम्) जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीचगति को (यान्ति) प्राप्त करते हैं, (इति+एषा त्रिविधा गतिः) इस प्रकार यह त्रिविध गति है ॥ ४० ॥ (स० प्र० नवम समु०)

अनुशीलन : देव शब्द के अर्थज्ञान एवं देवकोटि के व्यक्तियों के विषय में विस्तृत जानकारी के लिए २।१५१ पर 'देव' विषयक अनुशीलन द्रष्टव्य है।

तीन गतियों के कर्म, विद्या के आधार पर तीन गौण गतियाँ—

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।
अधमा मध्यमाऽग्र्या च कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥ (२५)

(एषा त्रिविधा) ये तीन प्रकार की [सत्त्व, रज, तम] गतियाँ

(कर्मविद्या विशेषतः) कर्म और विद्या की विशेषताओं के आधार पर प्रत्येक की पुनः (अधमा, मध्यमा च अग्रया) अधम, मध्यम और उत्तम भेद से (त्रिविधा गौणिकी गतिः विज्ञेया) तीन-तीन प्रकार की गौण गतियाँ होती हैं [१२।४२–५०] ॥ ४१ ॥

तीन गतियों के तीन-तीन भेद और तदनुसार जन्मावस्थाओं के फल

तामस गतियों के तीन भेद—

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च सकच्छपाः ।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥४२॥(२६)

(जघन्या तामसी) जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे (स्थावराः) स्थावर वृक्षादि [१।४६–४६] (कृमिकीटाः मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः पशवश्च मृगाः) कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

हस्तिनश्च तुरंगाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥ (२७)

(मध्यमा तामसी गतिः) जो मध्यम तमोगुणी हैं वे (हस्तिनः तुरंगाः) हाथी, घोड़ा, (शूद्राः म्लेच्छाः निन्दिताः) शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित कर्म करने हारे, (सिंहाः व्याघ्राः वराहाः) सिंह, व्याघ्र, वराह अर्थात् सूकर के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥ (२८)

(तामसीषु उत्तमा गतिः) जो उत्तम तमोगुणी हैं वे (चारणाः सुपर्णाः दाम्भिकाः पुरुषाः) चारण=जो कि कवित्त, दोहा आदि बनाकर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं, सुन्दर पक्षी, दाम्भिक पुरुष अर्थात् अपने सुख के लिए अपनी प्रशंसा करने हारे, (रक्षांसि पिशाचाः) राक्षस जो हिंसक, पिशाच =अनाचारी अर्थात् मद्य आदि के आहारकर्त्ता और मलिन रहते हैं वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है ॥ ४४ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

अनुशीलन : राक्षस और पिशाच शब्दों पर विस्तृत विवेचन ३।३३-३४ की समीक्षा में देखिये ।

राजस गतियों के तीन भेद—

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।

द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥४५॥ (२९)

(जघन्या राजसी गतिः) जो अधम रजोगुणी हैं वे (झल्लाः) झल्ला अर्थात् तलवार आदि से मारने वा कुदार आदि से खोदने हारे, (मल्लाः) मल्ला अर्थात् नौका आदि के चलाने वाले, (नटाः) नट, जो बांस आदि पर कला, कूदना, चढ़ना-उतरना आदि करते हैं, (शस्त्रवृत्तयः पुरुषाः) शस्त्र-धारी भृत्य, (च) और (मद्यपानप्रसक्ताः) मद्य पीने में आसक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण का फल है ॥ ४५ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥ (३०)

(मध्यमा राजसी गतिः) जो मध्यम रजोगुणी होते हैं वे (राजानः क्षत्रियाः) राजा, क्षत्रियवर्णस्थ, (राज्ञां पुरोहिताः) राजाओं के पुरोहित, (वादयुद्धप्रधानाः) वाद-विवाद करने वाले–दूत प्राड्विवाक=वकील, बैरिस्टर, युद्धविभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं ॥ ४६ ॥

(स० प्र० नवमसमु०)

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥ (३१)

(राजसीषु उत्तमा गतिः) जो उत्तम रजोगुणी हैं वे (गंधर्वाः) गंधर्व=गाने वाले, (गुह्यकाः) गुह्यक=वादित्र बजाने वाले, (यक्षाः) यक्ष=धनाढ्य, (विबुधा अनुचराः) विद्वानों के सेवक, (तथा+एव सर्वाः अप्सरसः) और अप्सरा अर्थात् जो उत्तम रूप वाली स्त्री का जन्म पाते हैं ॥ ४७ ॥

(स० प्र० नवमसम०)

अनुशीलन : गन्धर्व शब्द पर विस्तृत प्रामाणिक विवेचन ३।३२ की समीक्षा में द्रष्टव्य है ।

सात्त्विक गतियों के तीन भेद—

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥४८॥ (३२)

(तापसाः) जो तपस्वी, (यतयः) यति, संन्यासी, (विप्राः) वेदपाठी, (वैमानिका गणाः) विमान के चलाने वाले, (नक्षत्राणि) ज्योतिषी, (च) और (दैत्याः) दैत्य अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं उनको (प्रथमा

सात्त्विकी गतिः) प्रथम सत्त्वगुण के कर्म का फल जानो ॥ ४८ ॥*

(स० प्र० नवम समु०)

अनुशीलन : ४८ वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में अशुद्धि—टीकाकारों ने इस श्लोक में आये 'नक्षत्र' शब्द का जड़ नक्षत्र विशेष अर्थ किया है, जो मनु की मान्यता के विरुद्ध है। १२। २३, २५, ३५, ३७, ४०, ५१ श्लोकों के अनुसार इन श्लोकों में जीव की गतियों का निरूपण किया गया है, जड़ वस्तुओं का नहीं। नक्षत्र कोई योनिविशेष नहीं हैं। वे तो जड़ पदार्थ हैं अतः यह अर्थ सही नहीं है। इस भाष्य में किया गया लाक्षणिक अर्थ 'ज्योतिषी' अर्थात् 'नक्षत्र-विज्ञान का वेत्ता' अर्थ मनुसम्मत है। यहाँ लक्षणा शब्दशक्ति से ही अर्थ की निष्पत्ति होगी।

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥ (३३)

(द्वितीया सात्त्विकी गतिः) जो मध्यम सत्त्वगुणयुक्त होकर कर्म करते हैं वे जीव (यज्वानः) यज्ञकर्त्ता, (ऋषयः देवाः) वेदार्थवित् विद्वान्, (वेदाः ज्योतींषि वत्सराः) वेद, विद्युत् आदि और काल-विद्या के ज्ञाता, (पितरः) रक्षक, ज्ञानी (च) और (साध्याः) साध्य=कार्यसिद्धि के लिए सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं ॥ ४९ ॥

(स० प्र० नवम समु०)*

अनुशीलन : ४९ वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में अशुद्धि—

(१) टीकाकारों ने 'ज्योतींषि' का 'ध्रुव तारे' आदि अर्थ किया है, यह १२।२३, २५, ३५, ३७, ४०, ५१ श्लोकों के संकेत के विरुद्ध है। जड़ वस्तु की कोई योनिविशेष नहीं होती। यह प्रसंग जीवों की योनियों का है। इसका लाक्षणिक अर्थ 'विद्युत् आदि के ज्ञाता' ही संगत है।

(२) देव, साध्य और पितरों की पृथक् योनिविशेष की कल्पना कपोलकल्पित है। मनु के मत में देव और पितर मनुष्यों के ही स्तरविशेष हैं [इस विषयक विस्तृत विवेचन २।१५१ (२।१७६) की समीक्षा में द्रष्टव्य है,] साध्यविषयक समीक्षा १।२२ पर द्रष्टव्य है]।

---

*. [प्रचलित अर्थ—तपस्वी (वानप्रस्थ), यति (संन्यासी-भिक्षु), ब्राह्मण, वैमानिक गण, नक्षत्र और दैत्य, जघन्य सात्त्विकी गतियाँ हैं ॥ ४८ ॥]

*. [प्रचलित अर्थ—यज्वा (विधिपूर्वक अनुष्ठान किये हुए), ऋषि, देव, वेद (इतिहास-प्रसिद्ध शरीरधारी वेदाभिमानी देवविशेष), ज्योति (ध्रुव आदि), वर्ष (इतिहास प्रसिद्ध ...), पितर (सोमप आदि) और साध्य (देव-योनिविशेष); ये मध्यम सात्त्विकी गतियाँ हैं ॥ ४९ ॥]

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥ (३४)

(उत्तमां सात्त्विकीं गतिम्) जो उत्तम सत्त्वगुणयुक्त होके उत्तम कर्म करते हैं वे (ब्रह्मा) ब्रह्मा=सब वेदों का वेत्ता, (विश्वसृजः) विश्वसृज=सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनाने हारे, (धर्मः) धार्मिक, (महान् च अव्यक्तम्+एव) सर्वोत्तम बुद्धियुक्त और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ ५० ॥

(स० प्र० नवमसमु०)*

अनुशीलन : (१) ५० वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में अशुद्धि—(१) इस श्लोक में टीकाकारों द्वारा 'ब्रह्मा' और 'विश्वसृजः' से मरीचि आदि केवल ब्रह्मा से कुछ व्यक्तियों का ग्रहण करना मनुसम्मत नहीं है। चतुर्मुख ब्रह्मा की कल्पना निराधार है। इसी प्रकार मरीचि आदि भी 'विश्वसृज' नहीं हैं। सृष्टि-स्रष्टा तो केवल ईश्वर को बताया है [१।६, १४-१५, १६, २२, ३३॥]। ये तीनों पूर्व श्लोक में ऋषि-कोटि के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। मनुस्मृति में इनसे सम्बद्ध प्रसंग अनेक आधारों पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है [१।११-१३,३२-४१, ५०, ५१ की समीक्षा]। इनका अर्थ 'ब्रह्मा=सब वेदों का वेत्ता' और विश्वसृजः=सब सृष्टि को जानकर विविध विमानादि यानों को बनाने हारे' यही संगत है। (२) इसी प्रकार 'धर्म' 'महान्' और 'अव्यक्त' ये अमूर्त्त और जड़ पदार्थ हैं, इनकी कोई योनिविशेष नहीं होती। यहाँ केवल जीवों की योनियों के वर्णन का प्रसंग है, अतः इनके लाक्षणिक अर्थ ही प्रसंग-सम्मत हैं।

(२) **प्रकृतिवशित्व सिद्धि का विवेचन**—अव्यक्त 'मूल प्रकृति' को कहते हैं। अव्यक्त से यहाँ अभिप्राय उन योगी जनों से है जो 'प्रकृतिवशित्व' की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे योगी उत्तम सात्त्विक गति को प्राप्त होते हैं।

प्रकृति वशित्वसिद्धि का वर्णन योगदर्शन में आया है—

"ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।" [विभूति० ४८]

अर्थात्—इन्द्रियजय सिद्धि होने पर पुनः इन्द्रियों की विषयग्रहणवृत्ति में संयम करने से, मन के समान इन्द्रियों में गतिशीलता=स्फूर्ति और शक्ति आना, शरीर की अपेक्षा के बिना सूक्ष्म और दूरस्थ विषयों के ज्ञान की प्राप्ति और प्रधानजय=प्रकृति के विकारों को वश में करना; ये तीन सिद्धियाँ योगी को प्राप्त हो जाती हैं।

---

* [**प्रचलित अर्थ**—ब्रह्मा (चतुर्मुख), विश्वस्रष्टा (मरीचि आदि), (शरीर-धारी) धर्म, महान्, अव्यक्त (सांख्यप्रसिद्ध दो तत्त्वविशेष); इनको विद्वान् उत्तम सात्त्विक गतियाँ कहते हैं ॥ ५० ॥]

प्रधानजय ही प्रकृतिवशित्व सिद्धि है। इसकी सिद्धि पर योगी प्राकृतिक विकारों से अबाधित रहकर कार्य कर सकता है। योगदर्शन में इस सिद्धि को 'मधु-प्रतीका' कहा है, जिसका अर्थ है 'मोक्षानन्द की प्रतीकरूप' सिद्धि। इसके बाद योगी मोक्षप्राप्ति की स्थिति में पहुंच जाता है।

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥ (३५)

(त्रिप्रकारस्य कर्मणः) मन, वचन, शरीर के भेद से तीन प्रकार के कर्मों का (त्रिविधः) सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण नामक तीन प्रकार का फल, तथा (त्रिविधः) फिर उनकी उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन-तीन गतियों वाले (सार्वभौतिकः कृत्स्नः संसारः) सर्वभूतयुक्त सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का (एषः सर्वः समुद्दिष्टः) यह पूर्ण वर्णन किया ॥ ५१ ॥

(स० प्र० नवम समु०)

विषयों में आसक्ति से और अधर्मसेवन से दुःखरूप जन्मों की प्राप्ति—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥ (३६)

(इन्द्रियाणां प्रसंगेन) जो इन्द्रियों के वश होकर विषयी (धर्मस्य+असेवनेन) धर्म को छोड़कर अधर्म करने हारे (अविद्वांसः) अविद्वान् हैं (नराधमाः पापान् संसारान् संयान्ति) वे मनुष्यों में नीच जन्म, बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं ॥ ५२ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

विषयों के सेवन से पाप-योनियों की प्राप्ति—

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥ (३७)

(विषयात्मकाः) विषयी स्वभाव के मनुष्य (यथा-यथा विषयान् निषेवन्ते) जैसे-जैसे विषयों का सेवन करते हैं (तथा तथा) वैसे-वैसे (तेषु तेषां कुशलता+उपजायते) उन विषयों में उनकी आसक्ति अधिक बढ़ती जाती है ॥ ७३ ॥

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥ (३८)

फिर (ते अल्पबुद्धयः) वे मन्दबुद्धि मनुष्य (तेषां पापानां कर्मणाम्+अभ्यासात्) उन विषयों से उत्पन्न पापकर्मों को बारम्बार करते हैं, और उनके कारण पुनः (तासु-तासु योनिषु) पापकर्मों से प्राप्त होने वाली उन-उन योनियों में अर्थात् जिस पाप से योनि प्राप्त होती है [१२ । ३९-५१]

उसे प्राप्त करके (इह) इसी संसार में (दुःखानि प्राप्नुवन्ति) दुःखों को भोगते हैं ॥ ७४ ॥

आसक्ति-निरासक्ति के अनुसार फलप्राप्ति—

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥ (३६)

मनुष्य (यादृशेन तु भावेन) जैसी अच्छी या बुरी भावना से और उनमें वैसी दृढ आसक्ति या निरासक्ति है उसके अनुसार (यतयत् कर्म निषेवते) जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है, (तादृशेन शरीरेण) वैसे-वैसे ही शरीर पाकर (तत्तत् फलम्+उपाश्नुते) उन कर्मों के फलों को भोगता है ॥ ८१ ॥

अनुशीलन : श्लोकार्थ पर विचार— इस श्लोक के अर्थ को समझने के लिए ६ । ८० श्लोक सहायक है—"**यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः । तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ।**"='जब व्यक्ति सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह हो जाता है तो वह लौकिक और मोक्षसुख को प्राप्त करता है । इसी आधार पर यहाँ वर्णन है । जो व्यक्ति जितनी दृढ़ स्पृहा=आसक्ति या निःस्पृहा=अनासक्ति से कर्म-सेवन करेगा, उसे उसी के अनुसार कम-अधिक अच्छा-बुरा फल मिलेगा ।

निःश्रेयसकर कर्मों का वर्णन—

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
निःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥ (४०)

(एषः) यह [१२ । ३–८१] (कर्मणां फलोदयः) कर्मों के फल का उद्‌भव (सर्वः) सम्पूर्ण रूप में (वः समुद्दिष्टः) तुमसे कहा ।

अब (विप्रस्य) विद्वानों या ब्राह्मण आदि द्विजों के (निःश्रेयसकरं कर्म निबोधत—) मोक्षदायक कर्मों को सुनो ॥ ८२ ॥

छह निःश्रेयसकर कर्म—

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
धर्मक्रियाऽत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥ (४१)

(वेदाभ्यासः, तपः, ज्ञानम्, इन्द्रियाणां संयमः, धर्मक्रिया, च आत्म-चिन्ता) वेदों का अभ्यास [१२ । ९४–१०३], तप=व्रतसाधना [१२ । १०४], ज्ञान=सत्यविद्याओं की प्राप्ति [१२ । १०४], इन्द्रियसंयम [१२ । ९२], धर्मक्रिया=धर्मपालन एवं यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओं का अनुष्ठान

और आत्मचिन्ता=परमात्मा का ज्ञान एवं ध्यान, ये छः (निःश्रेयसकरं परम्) मोक्ष प्रदान करने वाले सर्वोत्तम कर्म हैं ॥ ८३ ॥*

अनुशीलन : **श्लोक में पाठभेद**—उपलब्ध संस्करणों में इस श्लोक के तृतीय पाद में "अहिंसा गुरुसेवा च" पाठ मिलता है। यह पाठभेद किया गया है जो मनुस्मृति के अनुरूप नहीं है। यहां "**धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च**" पाठ ही उपयुक्त है। इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण हैं —

(१) ८३ वें श्लोक में निःश्रेयस कर्मों की परिगणना है, परिगणना के बाद छह कर्मों से सम्बन्धित व्याख्यान ८५—११५ श्लोकों में है। इस व्याख्यान में 'अहिंसा' और 'गुरुसेवा' का कहीं उल्लेख नहीं है, अपितु 'आत्मज्ञान' और 'धर्मक्रिया' का है। श्लोकार्थ में तत्तद् वर्णन वाले श्लोकों की संख्या दे दी है।

(२) मनु ने सात्त्विक कर्मों को ही निःश्रेयस कर्म माना है। इस श्लोक में अन्य सभी कर्म तो वही हैं, केवल दो में पाठभेद कर दिया है। सात्त्विक कर्मों का वर्णन १२। ३१ में है। वही पाठ यहाँ ग्रहण करना मनुसम्मत है क्योंकि वही कर्म मनु-मत से सर्वश्रेष्ठ हैं और वही मुक्तिदायक हो सकते हैं। अतः प्रस्तुत पाठ सही है।

आत्म-ज्ञान का वर्णन

आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ धर्म है—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥८५॥ (४२)

(एषां सर्वेषाम्+अपि) इन सब [१२। ८३] कर्मों में (आत्मज्ञानं परं स्मृतम्) 'परमात्मज्ञान' सर्वश्रेष्ठ कर्म माना है, (तत्+हि सर्वविद्यानाम् अग्र्यम्) यह सब विद्याओं में सर्वप्रमुख कर्म है (ततः अमृतं प्राप्यते) इससे मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥ (४३)

(सर्वभूतेषु आत्मानम्) सब चराचर पदार्थों एवं प्राणियों में परमात्मा की व्यापकता को (च) और (आत्मनि) परमात्मा में (सर्वभूतानि)

* **प्रचलित अर्थ**—इस श्लोक के तृतीय पाद में 'धर्मक्रिया आत्मचिन्ता च' के स्थान पर प्रचलित संस्करणों में "**अहिंसा गुरुसेवा च**" पाठ मिलता है। तदनुसार प्रचलित अर्थ इस प्रकार है—(उपनिषद् के सहित) वेद का अभ्यास, (प्राजापत्य आदि) तप, (ब्रह्मविषयक) ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा और गुरुजनों की सेवा; ये ब्राह्मणों के लिए श्रेष्ठ मोक्षसाधक छः कर्म हैं ॥ ८३ ॥]

सब पदार्थों एवं प्राणियों के आश्रय को (समं पश्यन्) समानभाव से देखता हुआ अर्थात् यथार्थ ज्ञानपूर्वक सर्वत्र परमात्मा की स्थिति का अनुभव कर सर्वदा उसी का ध्यान करता हुआ (आत्मयाजी) परमात्मा का उपासक मनुष्य (स्वाराज्यम्+अधिगच्छति) परमात्मसुख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ ९१ ॥

अनुशीलन : (१) **'स्वाराज्यम्' का अर्थ**—**'स्वप्रकाशेन शक्त्या वा चराचरं जगत् राजयति प्रकाशयति सः स्वराट्=ब्रह्म**=जो अपने प्रकाश या बल से समस्त चराचर जगत् को प्रकाशित=उत्पन्न करता है, वह परमात्मा। अथवा **'स्वप्रकाशेन राजते प्रकाशते इति स्वराट्=ब्रह्म, तस्य भावः स्वाराज्यम्=ब्रह्मत्वम्'**=जो स्वप्रकाश से प्रकाशित होता है वह ब्रह्म=परमात्मा है। स्वराट् का भाव 'स्वाराज्य=ब्रह्मत्व प्राप्ति' है अर्थात् मुक्ति को प्राप्त हो जाना।

(२) **श्लोक की वेदमन्त्र से तुलना**—श्लोकोक्त मान्यता का आधार वेद है। इस पर निम्न मन्त्र से प्रकाश पड़ता है, तुलनार्थ द्रष्टव्य है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र कः मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः ॥ यजु० ४०।७ ॥

अर्थ—"(यस्मिन्) जिस परमात्मा, ज्ञान-विज्ञान अथवा धर्म के विषय में (विजानतः) सम्यक् ज्ञाता जन के लिए (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (आत्मा) अपने आत्मा के समान (एव) ही (अभूत्) होते हैं; (तत्र) उस परमात्मा में विराजमान (एकत्वम्) परमात्मा के एकत्व को (अनुपश्यतः) ठीक-ठीक योगाभ्यास के द्वारा साक्षात् देखने वाले योगी जन को (कः) क्या (मोहः) मोह और (कः) क्या (शोकः) क्लेश (अभूत्) होता है।" [यजु० भाष्य ऋ० दया०]

भाव यह है कि वह विद्वान् शोक-मोह आदि से ऊपर उठकर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

इस भाव की तुलना के लिए १२। ११९, १२५ श्लोक एवं उन पर अनुशीलन भी द्रष्टव्य है।

(३) **आत्मयाजी की व्युत्पत्ति एवं अर्थ**—**'आत्मनि यजते इति आत्मयाजी'** अर्थात् जो परमात्मा में यजन करता है, उसकी संगति एवं उसका ध्यान करता है। परमात्मा के उस उपासक को 'आत्मयाजी' कहते हैं।

(२) इन्द्रियसंयम का वर्णन

आत्मज्ञान, इन्द्रियसंयम का कथन और इनसे जन्मसाफल्य—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥९२॥ (४४)

(द्विजोत्तमः) श्रेष्ठ द्विज (यथोक्तानि+अपि कर्माणि परिहाय) उसके लिए विहित यज्ञ आदि कर्मों को [संन्यासी अवस्था में] छोड़कर [३। ३४, ४३] भी (आत्मज्ञाने शमे च वेदाभ्यासे यत्नवान् स्यात्) परमात्मज्ञान, इन्द्रिसंयम [२। ६८-७५] और वेदाभ्यास=वेद के चिन्तन-मनन में प्रयत्न-शील अवश्य रहे अर्थात् इनको किसी भी अवस्था में न छोड़े ॥ ९२ ॥

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥ (४५)

(एतत् हि) ये [१२। ९२] तीनों कर्म द्विजों के, (विशेषतः ब्राह्मणस्य जन्मसाफल्यम्) विशेष रूप से ब्राह्मण के जन्म को सफल बनाने वाले हैं। (द्विजः) द्विज व्यक्ति (एतत् प्राप्य हि कृतकृत्यः भवति)-इनका पालन करके ही कर्त्तव्यों की पूर्णता प्राप्त करता है, (अन्यथा न) इनके बिना नहीं ॥ ९३ ॥

अनुशीलन : ब्राह्मण को विशेष रूप से इसलिए कहा गया है क्योंकि ब्राह्मण के जीवन का प्रमुख उद्देश्य ही परमात्मा-प्राप्ति होता है।

(३) वेदाभ्यास का वर्णन

वेद सबका चक्षु है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥ (४६)

(पितृ-देव-मनुष्याणाम्) पितृ-संज्ञक रक्षक और पालक पिता आदि, विद्वान् और अन्य मनुष्यों का (वेदः सनातनं चक्षुः) वेद सनातन नेत्र=मार्गप्रदर्शक है, (च) और वह (अशक्यम्) अशक्य अर्थात् जिसे कोई पुरुष नहीं बना सकता, इस लिए अपौरुषेय है, (च) तथा (अप्रमेयम्) अनन्त सत्यविद्याओं से युक्त है, (इति स्थितिः) ऐसी निश्चित मान्यता है ॥९४॥

अनुशीलन : १। ३, २३ में भी वेद को अपौरुषेय, अप्रमेय कहा गया है।

वेदविरुद्ध-शास्त्र अप्रामाणिक—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥९५॥ (४७)

(याः स्मृतयः वेदबाह्याः) जो ग्रन्थ वेदबाह्य, (याः च काः च कुदृष्टयः) कुत्सित पुरुषों के बनाये संसार को दुःखसागर में डुबोने वाले हैं (ताः सर्वाः निष्फलाः) वे सब निष्फल (प्रेत्य तमोनिष्ठाः हि स्मृताः)

असत्य, अन्धकाररूप इस लोक और परलोक में दुःखदायक हैं ॥ ९५ ॥
(स० प्र० एकादश समु०)

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ९६ ॥ (४८)

(यानि+अतः अन्यानि कानिचित् उत्पद्यन्ते) जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं (तानि+अर्वाक् कालिकतया च्यवन्ते) वे आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, (निष्फलानि च अनृतानि) उनका मानना निष्फल और झूठा है ॥ ९६ ॥ (स० प्र० एकादश समु०)

अनुशीलन : अर्वाक् काल से अभिप्राय—यहां वेदविरुद्ध ग्रन्थों के आधुनिक होने से अभिप्राय यह है कि वेदों की मान्यताएँ प्राचीनतम एवं सनातन हैं, किन्तु वेदविरुद्ध ग्रन्थों की मान्यताएँ परवर्ती हैं। और वे सत्य न होने से; बनती हैं फिर नष्ट हो जाती हैं। वेदों की मान्यताओं की तरह सनातन नहीं। ईश्वरीय ज्ञान होने से वेदों की मान्यताएँ सनातन हैं।

वेद से वर्ण, आश्रम, लोक, काल आदि का ज्ञान—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥ (४९)

(चातुर्वर्ण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार वर्ण और इनकी व्यवस्था, (त्रयः लोकाः) पृथ्वी, आकाश एवं द्युलोक अर्थात् समस्त भूमण्डल के लोक, ग्रह आदि, (चत्वारः आश्रमाः पृथक्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, इन चारों के पृथक्-पृथक् विधान, (च भूतं भव्यं भविष्यम्) और भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी कालों की विद्या, (सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति) ये सब वेदों से ही प्रसिद्ध, प्रकट और ज्ञात होती हैं अर्थात् इन सब व्यवस्थाओं और विद्याओं का ज्ञान वेदों के द्वारा ही होता है ॥ ९७ ॥

"चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं।" (ऋ० भा० भू० वेदविषय)

अनुशीलन : मनु ने यही मान्यता १। २१ में वर्णित की है। तुलनार्थ प्रस्तुत है—"सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

पञ्चभूत आदि सूक्ष्म शक्तियों का ज्ञान वेदों से—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥ ९८ ॥ (५०)

(शब्दः स्पर्शः रूपं रसः पञ्चमः गन्धः) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पञ्चम गन्ध, ये (प्रसूति-गुण-कर्मतः) उत्पत्ति, गुण और कार्य के ज्ञानरूप से (वेदात्+एव प्रसूयन्ते) वेदों से ही प्रसिद्ध=विज्ञात होते हैं अर्थात् इन तत्त्वशक्तियों का उत्पत्तिज्ञान, इनके गुणों का ज्ञान, इनकी उपयोगिता का ज्ञान और उत्पन्न समस्त जड़-चेतन संसार का ज्ञान-विज्ञान, वेदों से प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥

वेद सुखों का साधन है—

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥ (५१)

(सनातनं वेदशास्त्रम्) यह जो सनातन वेदशास्त्र है सो (सर्व-भूतानि बिभर्ति) सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त कराता है, (तस्मात् एतत् परं मन्ये) इस कारण से [मनु आदि] हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं, और इसी प्रकार मानना भी चाहिए. (यत्) क्योंकि (जन्तोः अस्य साधनम्) सब जीवों के सब सुखों का साधन यही है ॥ ९९ ॥ (ऋ० भा० भू० वेदविषय-विचार)

वेदवेत्ता ही सफल राजा, सेनापति व न्यायाधीश हो सकता है—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥ (५२)

(सैनापत्यम्) सब सेना (च) और (राज्यम्) सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, (दण्डनेतृत्वम्+एव) दंड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य, (च) और (सर्वलोक-आधिपत्यम्) सब के ऊपर वर्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार, इन चारों अधिकारों में (वेदशास्त्रवित्+अर्हति) सम्पूर्ण वेदशास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्या वाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिए अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, और प्रधान राजा, ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिएँ ॥ १०० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"जो वेदशास्त्रविद्, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधान पद का अधिकार देना, अन्य क्षुद्राशयों को नहीं।"

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अनुशीलन : यहां 'वेदशास्त्रवित् अर्हति' का अर्थ 'वेदशास्त्र का ज्ञाता ही उसके योग्य हो सकता है' यह है। ऋषि दयानन्द ने इसे प्रेरणार्थक रूप में निरूपित किया है। राज्य-संचालन वाली मान्यता की तुलना के लिए ७। २ द्रष्टव्य है तथा 'दण्डनेतृत्व' की तुलनार्थ—७। ३१। वहाँ वेद शास्त्रवेत्ता को ही इसके योग्य माना है।

वेदज्ञानाग्नि से कर्म दोषों का नाश—

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः॥ १०१॥ (५३)

(यथा) जैसे (जातबलः वह्निः) धधकती हुई आग (आर्द्रान् द्रुमान् अपि दहति) गीले वृक्षों को भी जला देती है (तथा) उसी प्रकार (वेदज्ञः) वेदों का ज्ञाता विद्वान् (आत्मनः कर्मजं दोषं दहति) अपने कर्मों से उत्पन्न होने वाले संस्कार-दोषों को जला देता है अर्थात् वेदज्ञान रूपी अग्नि से दुष्ट संस्कारों को मिटाकर आत्मा को पवित्र रखता है॥ १०१॥

अनुशीलन : तुलनार्थ द्रष्टव्य हैं ११। २४५, २४६, २६३। वहाँ भी यही मान्यता है। अनुशीलन द्रष्टव्य—११।२२७॥

वेदज्ञान से परमगति की ओर प्रगति—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १०२॥ (५४)

(वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः) वेदशास्त्र के अर्थतत्त्व का ज्ञाता विद्वान् (यत्र-तत्र+आश्रमे वसन्) किसी भी आश्रम में रहता हुआ, (इह+एव लोके तिष्ठन्) इसी वर्तमान जन्म मे ही (ब्रह्मभूयाय कल्पते) ब्रह्मप्राप्ति के लिए अधिकाधिक समर्थ हो जाता है॥ १०२॥

अनुशीलन : इसी मान्यता की पुष्टि के लिए तुलनार्थ द्रष्टव्य है ४। १४९ श्लोक।

(४-५) तप और विद्या का वर्णन

तप से पापभावना का नाश और विद्या से अमृतप्राप्ति—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ १०४॥ (५५)

(विप्रस्य) विप्र के लिए (तपः च विद्या) तप=श्रेष्ठव्रतों का धारण और साधना, और विद्या=सत्यविद्याओं का ज्ञान, ये दोनों (परं निश्रेयसकरम्) उत्तम मोक्षसाधक हैं, वह विप्र (तपसा किल्विषं हन्ति) तप से पापभावना को नष्ट करता है, और (विद्यया+अमृतम्+अश्नुते) वेदादि सत्यविद्या के यथार्थ ज्ञान से अमरता=मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ १०४ ॥

अनुशीलन : (१) **पापभावना का विनाश**—श्रेष्ठव्रतों के धारण से और प्राणायाम आदि तपों के पालन से आत्मा की पापभावना या अशुद्धि का क्षय होता है। इसकी पुष्टि में अन्यत्र वर्णित मान्यताएँ निम्न श्लोकों में द्रष्टव्य हैं। ६ । ७०-७२ ॥ ११ । २२७ ।

(२) **अमृत का अर्थ**—'मृङ् प्राणत्यागे' तुदादि धातु से 'क्तः' प्रत्यय के योग से और नञ् समास में 'अमृतम्' शब्द सिद्ध होता है, जिसका जन्म-मृत्यु से रहित अर्थात् मोक्षसुख अर्थ होता है। मनुष्य वेद आदि सत्यविद्या के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मोक्षसुख को इसलिए अमृत कहा जाता है कि जब तक मुक्तिसुख का समय रहता है, तब तक यह सुख नष्ट नहीं होता, बीच में दुःख आकर इसे नष्ट नहीं करता। यजु० ४० । १४ में यह वाक्य यथावत् आता है—"**विद्ययाऽमृतमश्नुते ।**"

(६) धर्म का वर्णन

धर्मज्ञान के लिए त्रिविध प्रमाणों का ज्ञान—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥ (५६)

(धर्मशुद्धिम्+अभीप्सता) धर्म के वास्तविक तत्त्व को जानने के अभिलाषी मनुष्य को (प्रत्यक्षम् अनुमानं च त्रिविधागमं शास्त्रम्) प्रत्यक्ष-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और वेद एवं विविध वेदमूलक शास्त्र-प्रमाण, (त्रयं सुविदितं कार्यम्) इन तीनों का अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥ १०५ ॥

अनुशीलन : तीन प्रमाण और उनके लक्षण—प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र या शब्द-प्रमाणों को समझने के लिए यहाँ उन पर विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है। स० प्र० प्रथम समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने न्यायदर्शन के सूत्रों को उद्धृत करके इनकी विस्तृत और गम्भीर व्याख्या की है। यहाँ वही उद्धृत की जाती है—

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥"

न्याय० ॥ अध्याय १ । आह्निक १ । सूत्र ४ ॥

"जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह-वह ज्ञान न हो। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'तू जल ले आ' वह लाके उसके पास धरके बोला कि 'यह जल है' परन्तु वहाँ 'जल' इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मंगवाने वाला नहीं देख सकता है। किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है वही प्रत्यक्ष होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह शब्द-प्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारि' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देखके पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुषज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा, ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू को देख के कहा कि 'वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा और कुछ है' 'वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त' जब तक एक निश्चय न हो तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं।"

(२) अनुमान प्रमाण—

"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्च ॥"

न्याय० ॥ अ० १ । आ० १ । सू० ५ ॥

"जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो उसका दूर देश से सहचारी एक देशके प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। जैसे पुत्र को देखके पिता, पर्वतादि में धूम को देखके अग्नि, जगत् में सुख-दुःख देखके पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। वह अनुमान तीन प्रकार का है। एक 'पूर्ववत्' जैसे बादलों को देख के वर्षा, विवाह को देख के सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देखके विद्या होने का निश्चय होता है, इत्यादि जहां-जहां कारण को देखके कार्य का ज्ञान हो वह 'पूर्ववत्'। दूसरा 'शेषवत्' अर्थात् जहां कार्य को देखके कारण का ज्ञान हो। जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देखके ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखके पिता का, सृष्टि को देखके अनादि कारण का तथा कर्त्ता ईश्वर का और पाप-पुण्य के आचरण देखके सुख-दुःख का ज्ञान होता है, इसी को 'शेषवत्' कहते हैं। तीसरा 'सामान्यतोदृष्ट', जो कोई किसी का कार्य कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक-दूसरे के साथ हो जैसे कोई भी बिना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना बिना गमन के कभी नहीं हो सकता। 'अनुमान' शब्द का अर्थ यही है कि अनु अर्थात्

'प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्' जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे बिना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।"

(३) **शास्त्र अर्थात् शब्द-प्रमाण—**

"**आप्तोपदेशः शब्दः।**" (न्याय १।१।७)

"जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकार-प्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो अर्थात् जितने पृथ्वी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को शब्द-प्रमाण जानो।"

शब्द-प्रमाण अर्थात् वेद और वेदमूलक शास्त्रों का वर्णन मनु ने धर्ममूलों में भी किया है। इस विषयक विवेचन १।१२५ [२।६] की समीक्षा में 'वेद' और 'स्मृति' शीर्षकों के अन्तर्गत देखिये।

इन प्रमाणों और वेदादि शास्त्रों से धर्म के वास्तविक रूप का निश्चय होता है, अन्यथा नहीं। अगले श्लोक में इसी मान्यता का कथन है।

वेदानुकूल तर्क से धर्मज्ञान—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते सः धर्मं वेद नेतरः ॥१०६॥ (५७)

(यः) जो मनुष्य (आर्षं च धर्मोपदेशम्) वेद और ऋषिविहित धर्मोपदेश [१।१२५ (२।६)] अर्थात् धर्मशास्त्र का (वेदशास्त्र-अविरोधिना तर्केण अनुसंधत्ते) वेदशास्त्र के अनुकूल तर्क के द्वारा अनुसंधान करता है (सः धर्मं वेद न+इतरः) वही धर्म के तत्त्व को समझ पाता है, अन्य नहीं ॥ १०६ ॥

अनुशीलन : तर्क से अभिप्राय—यहाँ तर्क से अभिप्राय है प्रमाणों और वेदों के अनुकूल सत्यनिश्चय करना। इनसे विरुद्ध बातें तर्क नहीं हैं। विरुद्ध बातें कुतर्क हैं। मनु के मतानुसार तर्क के आधार पर वेद निर्भ्रान्त हैं, अतः वेदोक्त-धर्म भी खरे हैं। फलस्वरूप उन पर तर्क की आवश्यकता नहीं रहती। जो कोई तर्क का नाम लेकर वेदों का खण्डन करता है वह तर्क नहीं, अपितु कुतर्क करता है, और ऐसा व्यक्ति नास्तिक है। [द्रष्टव्य १।१३० (२।११) की समीक्षा भी]।

अविहित धर्मों का विधान शिष्टविद्वान् करें—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥ (५८)

(अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यात् ? इति चेत् भवेत्) जो धर्मयुक्त

व्यवहार, मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों, यदि उनमें शंका होवे तो तुम (यं शिष्टाः ब्राह्मणाः ब्रूयुः) जिसको शिष्ट, [१०९] आप्त विद्वान् कहें (सः अशंकितः धर्मः स्यात्) उसी को शंकारहित कर्त्तव्य-धर्म मानो ॥ १०८ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

शिष्ट विद्वानों की परिभाषा—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥ (५९)

शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते किन्तु (यैः तु धर्मेण सपरिबृंहणः वेदः अधिगतः) जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों, और जो (श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः) श्रुतिप्रमाण और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों ही से विधि का निषेध करने में समर्थ, धार्मिक, परोपकारी हों (ते शिष्टाः ब्राह्मणाः ज्ञेयाः) वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥ १०९ ॥

(सं०वि० गृहा० प्र०)

तीन या दश विद्वानों की धर्मनिर्णायक परिषद्—

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥ (६०)

(दशावरा वृत्तस्था वा त्रि+अवरा परिषद्) न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा (यं धर्मं परिकल्पयेत) जैसी व्यवस्था करे, (तं धर्मं न विचालयेत्) उस धर्म अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई भी न करे ॥ ११० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"गृहस्थ लोग छोटों, बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक), तर्क-कर्त्ता, नैरुक्त=निरुक्तशास्त्रज्ञ, धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अतिन्यूनता करे, तो तीन वेदवित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो, वैसा ही आचरण किया करें।"

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"वैसे शिष्ट न्यून से न्यून दश पुरुषों की सभा होवे अथवा बड़े विद्वान् तीनों की ही सभा हो सकती है। जो सभा से धर्म-कर्म निश्चित हों, उसका भी आचरण सब लोग करें।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

धर्मपरिषद् के दश सदस्य —

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥ (६१)

(दशावरा) उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें— (त्रैविद्यः) तीन वेदों के विद्वान् (हैतुकः) चौथा हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, (तर्की) पांचवां— तर्की=न्यायशास्त्रवित, (नैरुक्तः) छठा— निरुक्त का जानने हारा, (धर्मपाठकः) सातवां—धर्मशास्त्र-वित् (त्रयः च पूर्वे आश्रमिणः) आठवां—ब्रह्मचारी, नववां-गृहस्थ, और दशवां —वानप्रस्थ, इन महात्माओं की (परिषत् स्यात्) सभा होवे ॥ १११॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अनुशीलन : त्रयी विद्या—ऋक्, यजुः साम और अथर्व—ये चारों वेद त्रयीविद्या रूप कहलाते हैं। इस विषयक विस्तृत विवेचन ११। २६५ के अनुशीलन में द्रष्टव्य है।

"इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों, तब वह सभा कि जिसमें दश विद्वानों से न्यून न होने चाहिएं।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

धर्मपरिषद् के तीन सदस्य—

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥(६२)

(च) तथा (ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् च सामवेदवित्+एव) ऋग्वेद-वित्, यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् (त्रि+अवरा धर्मसंशयनिर्णये परिषत् ज्ञेया) इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिए होनी चाहिए ॥ ११२ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"और जिस सभा में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के जानने वाले तीन सभासद हो के व्यवस्था करें उस सभा की कीहुई व्यवस्था का भी कोई उल्लंघन न करे॥" (स० प्र० षष्ठ समु०)

वेद का एक विद्वान् भी असंख्य मूर्खों से धर्मनिर्णय में प्रमाण है—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥ (६३)

(एकः अपि वेदवित्) यदि एक अकेला सब वेदों का जानने हारा

द्विजों में उत्तम संन्यासी (यं धर्मं व्यवस्येत्) जिस धर्म की व्यवस्था करे (सः परः धर्मः विज्ञेयः) वही श्रेष्ठ धर्म है, (अज्ञानाम् अयुतैः उदितः न) अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें, उनको कभी न मानना चाहिए ॥ ११३ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी, अकेला भी जिस धर्मव्यवहार के करने का निश्चय करे, वही कर्त्तव्य परम धर्म समझना किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों और करोड़ों पुरुषों का कहा हुआ धर्म-व्यवहार कभी न मानना चाहिए।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

धर्मपरिषद् का सदस्य कौन नहीं हो सकता—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥ (६४)

(अव्रतानाम्) जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि व्रत (अमन्त्राणाम्) वेदविद्या वा विचार से रहित, (जातिमात्र-उपजीविनाम्) जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान हैं, (सहस्रशः समेतानाम्) उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी (परिषत्त्वं न विद्यते) सभा नहीं कहाती ॥ ११४ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

अनुशीलन : जाति का अर्थ जन्म—मनुस्मृति में जाति शब्द 'जन्म' अर्थ में प्रयुक्त है, अतः यहाँ जाति का अर्थ जन्म ही है। यहाँ ऐसे व्यक्तियों का धर्म-परिषद् में निषेध किया है जो जन्म के आधार पर अपने को श्रेष्ठ समझते हों, उत्तम वर्ण होने का अभिमान करते हों किन्तु गम्भीरता और विधिपूर्वक जिन्होंने विद्याग्रहण न की हो। इसकी पुष्टि के लिए १। १२३ [२। १४८] का अनुशीलन द्रष्टव्य है।

मूर्खों द्वारा निर्णीत धर्म से पापवृद्धि का भय—

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ११५ ॥ (६५)

(तमोभूताः मूर्खाः) तमोगुण अर्थात् अविद्या से युक्त, मूर्ख (अतद्विदः) वेदोक्त धर्मज्ञान से शून्य जन (यं धर्मं वदन्ति) जिस धर्म का उपदेश करते हैं, (तत् पापम्) वह धर्मरूप में कहा अधर्मरूप पाप (शतधा भूत्वा) सौ गुणा होकर अथवा सैकड़ों रूपों में फैलकर (तत्+वक्तॄन्+अनुगच्छति) उन वक्ताओं को लगता है अर्थात् उससे सैकड़ों पाप फैलते हैं और फिर उनकी बुराई वक्ताओं को मिलती है। ॥११५॥

"जो अविद्यायुक्त, मूर्ख, वेदों के न जानने वाले मनुष्य जिस धर्म

को कहें, उसको कभी न मानना चाहिये, क्योंकि सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं ॥" (स० प्र० षष्ठ समु०)

अनुशीलन : मूर्खों द्वारा विहित धर्म से हानि— वेदादि शास्त्र और प्रमाणादि में अपारंगत मूर्ख व्यक्तियों द्वारा कथित धर्म वस्तुतः धर्म नहीं होता । क्योंकि वे धर्म के स्वरूप के ज्ञाता नहीं होते । अधर्म को धर्म के रूप में विहित करने से सैकड़ों प्रकार की अविद्याएँ, भ्रान्तियाँ, पनपती हैं, फिर उनसे पाप की वृद्धि होती है। इस प्रकार समाज रसातल को चला जाता है । उस समाज की स्थिति संस्कृतप्रसिद्ध उक्ति वाली होती है—'अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः' अन्धे के सहारे उसके पीछे चलने वाले जैसे उसके साथ ही गर्त में गिरते हैं, वैसे मूर्खों के पीछे चलने वाले मूर्खता, अज्ञानान्धकार आदि से ग्रस्त होकर अवनति को प्राप्त होते हैं ।

निःश्रेयस कर्मों का उपसंहार—

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥ (६६)

(एतत्) यह [१२ । ८३–११५] (परं निःश्रेयसकरं सर्वं वः अभिहितम्) मोक्ष देने वाले सर्वोत्तम कर्मों का पूर्ण विधान तुम से कहा, (विप्रः) विद्वान् द्विज (अस्मात्+अप्रच्युतः) इसको बिना छोड़े पालन करता हुआ (परमां गतिं प्राप्नोति) उत्तम गति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥ ११६ ॥

ईश्वरद्रष्टा अधर्म में मन नहीं लगाता—

सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥११८॥ (६७)

(समाहितः) जो सावधान पुरुष (असत् च सत् च सर्वम्) असत्कारण और सत्कार्यरूप जगत् को (आत्मनि संपश्येत) आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे, (अधर्मे मनः न कुरुते) वह कभी अपने मन को अधर्मयुक्त नहीं कर सकता, (हि) क्योंकि (सर्वम् आत्मनि संपश्यन्) वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥ ११८ ॥ (द० ल० भ्रा० नि० १९६)

अनुशीलन : सर्वत्र परमात्मा के अनुभव-ज्ञान से अधर्मनिवृत्ति— यह सम्पूर्ण संसार प्रकट और अप्रकटरूप है । कार्यरूप में यह प्रकट है और कारणरूप में अप्रकट है । परमात्मा सम्पूर्ण संसार में व्याप्त रहता है । जो व्यक्ति सदा इस बात का अनुभव करता है, वह किसी भी स्थान पर और किसी भी समय में अधर्म नहीं करता; क्योंकि वह जानता है कि मुझे प्रत्येक स्थान और समय में सर्वव्यापक परमात्मा देख रहा है । [illegible] अनुभूति एवं ज्ञान से मनुष्य अधर्म से दूर रहता है ।

परमेश्वर ही सबका निर्माता, फलदाता और उपास्य है—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥११६॥ (६८)

(आत्मा + एव सर्वाः देवताः) आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं को रखनेवाला, (सर्वम् + आत्मनि + अवस्थितम्) और जिसमें सब जगत् स्थित है, वही सब मनुष्यों का उपास्यदेव तथा (एषां शरीरिणां कर्मयोगं जनयति) सब जीवों को पाप-पुण्य के फलों का देने हारा है ॥ ११६ ॥ (द० ल० भ्रा० नि १९६)

महर्षि द्वारा आंशिक या केवल प्रमाण रूप में यह श्लोक निम्न अन्य स्थानों पर उद्धृत है—

(१) द० ल० भ्रा० नि० १७२, (२) द० ल० वे० ख० २४, (३) द० शा० ५३, (४) ऋ० प० वि० १३, (५) ल० वे० अंक १२५ ।

अनुशीलन : (१) **परमात्मा ही सब देवताओं का देवता**—ईश्वर सबसे प्रमुख देव है । अन्य सभी देवताओं का वही रचयिता है । उन देवताओं के वर्णन से भी परमात्मा का ग्रहण होता है । इस विषय पर निरुक्त में प्रकाश डाला गया है—

"महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते । एकस्यात्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।...आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ।" [७ । ४]

अर्थात्—महान् ऐश्वर्यशाली होने के कारण उसी परमात्मा की ही विभिन्न रूपों में स्तुति की जाती है । शेष सभी देव उस परमात्मा के ही द्वारा प्रकाशित या दिव्य-गुणयुक्त हैं । वही सबका रचयिता है । वही परमात्मा ही सब देवों का देवता है ।

(२) **परमात्मा के आश्रय में ही समस्त जगत् स्थित है**—इस विषय में अनेक वेदमन्त्रों में प्रकाश डाला गया है । द्रष्टव्य है १ । ६; १२ । १२४, १२५ श्लोक पर अनुशीलन ।

(३) **अन्यत्र वर्णन**—परमात्मा ही जीवों को कर्मों से संयुक्त करके उन्हें फल प्रदान करता हैं । इस विषय में मनु ने १ । २६–३० श्लोकों में भी प्रकाश डाला है । परम सूक्ष्म परमात्मा को जानें—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥ (६९)

(सर्वेषां प्रशासितारम्) जो सबको शिक्षा देने हारा, (अणोः + अपि अणीयांसम्) सूक्ष्म से सूक्ष्म, (रुक्माभम्) स्वप्रकाशस्वरूप, (स्वप्नधी–गम्यम्) समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, (तं परं पुरुषं विद्यात्) उसको

परम पुरुष जानना चाहिए ॥ १२२ ॥ (स० प्र० प्रथम समु०)

महर्षि द्वारा अपने ग्रन्थों में यह श्लोक निम्न स्थानों पर प्रमाण या पदांश के रूप में उद्धृत किया गया है—

(१) द० शा० ५३, (२) उपदेश-मञ्जरी ५२, (३) द० ल० वेदांक १२६, (४) ऋ० प० वि० १३, (५) द० ल० भ्रा० नि० १६६, (६) ऋ० भा० भू० १११ ।

अनुशीलन : (१) **परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों का वर्णन**— मनु ने इस श्लोक में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म, स्वप्रकाश-ज्ञानस्वरूप कहा है । वही परमात्मा सबका ज्ञानदाता या शिक्षक है । इसी भाव को मनु ने १ । २१ में दूसरे प्रकार से वर्णित किया है ।

यह सूक्ष्म परमात्मा ही जानने या मानने योग्य है, अन्य नहीं । यह समाधि के द्वारा अर्थात् योगाभ्यास से जाना जा सकता है ।

(२) **श्लोक की वेदमन्त्रों से तुलना**—इस श्लोक में वर्णित ईश्वर के स्वरूप, गुण एवं प्राप्तव्य विधि तथा प्रेरणा का आधार वेद के मन्त्र ही हैं । निम्न मन्त्रों को देखकर प्रतीत होता है कि यह श्लोक उनका साररूप है—

(क) **स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।**
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजु० ४० । ८ ॥

अर्थ—"हे मनुष्यो ! जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है, (अव्रणम्) छिद्ररहित एवं जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है (शुद्धम्) अविद्या आदि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र है, (अपापविद्धम्) जो कभी भी पाप से युक्त, पाप करने वाला और पाप से प्रेम करने वाला नहीं है, वह (परि+अगात्) सर्वत्र व्यापक है, जो (कविः) सर्वज्ञ, (मनीषी) सब जीवों की मनोवृत्तियों को जानने वाला, (परिभूः) दुष्ट-पापियों का तिरस्कार करने वाला, (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूप वाला, जिसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश नहीं होता, जिसके माता-पिता कोई नहीं और जिसका गर्भवास, जन्म, वृद्धि और क्षय नहीं होते हैं; वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन, अनादिस्वरूप वाली, अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश से रहित (समाभ्यः) प्रजा के लिए (याथातथ्यतः) यथार्थता से (अर्थान्) वेद के द्वारा सब पदार्थों का (व्यदधात्) अच्छी तरह से उपदेश करता है । (सः) वह परमात्मा ही तुम्हारे लिए उपासना करने योग्य है ।" [ऋ० दयानन्दयजुःभाष्य] ।

(ख) **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।**
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० ३१।१८

अर्थ—"हे जिज्ञासु ! मैं जिस (एतम्) इस पूर्वोक्त (महान्तम्) महान् गुणों से युक्त (आदित्यवर्णम्) सूर्य के प्रकाश के तुल्य जिसका स्वरूप है, उस स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा को (तमसः) अज्ञान वा अन्धकार से (परस्तात्) परे वर्तमान स्वस्वरूप से पूर्ण (वेद) जानता हूं। (तमेव) उसी को (विदित्वा) जानकर आप (मृत्युम्) दुःखदायक मृत्यु को (अति+एति) लांघते हो; (अन्यः) इससे भिन्न (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिए (न विद्यते) नहीं है।"

[यजु० भाष्य ऋ० दयानन्द]

परमात्मा के अनेक नाम—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥ (७०)

(एतम् एके) इस परमात्मा [१२। १२२] को (एके) कोई (अग्निम्) 'अग्नि', (अन्ये प्रजापतिं मनुम्) कोई प्रजापति परमात्मा को 'मनु' (एके इन्द्रम्) कोई 'इन्द्र', (परे प्राणम्) कोई 'प्राण', (अपरे शाश्वतं ब्रह्म) दूसरे कोई शाश्वत 'ब्रह्म', (वदन्ति) कहते हैं ॥ १२३ ॥

"स्वप्रकाश होने से 'अग्नि', विज्ञानस्वरूप होने से 'मनु', सबका पालन करने और परमैश्वर्यवान् होने से 'इन्द्र', सबका जीवनमूल होने से 'प्राण', और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।"

(स० प्र० प्रथम समु०)

महर्षि द्वारा प्रमाण रूप में अन्यत्र उद्धृत—(१) प० वि० १३, (२) द० ल० भ्रा० नि० १९६, (३) उपदेशमञ्जरी ५२, (४) द० शा० ५३; (५) द० ल० वेदांक १२६।

अनुशीलन : (१) परमात्मा के गौण नाम और उनके अर्थ—मनु ने परमेश्वर का सबसे मुख्य नाम 'ओ३म्' माना है [२। ४९—५३]। यहाँ उसी 'ओ३म्' पदवाच्य परमात्मा के कुछ अन्य गौण नामों का उल्लेख किया है। इन नामों से भी उसी सूक्ष्म, सर्वान्तर्यामी, सर्वप्रकाशक परमात्मा [१२। १२२] का बोध होता है। नीचे इनकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित की जा रही है, जिससे इन शब्दों के परमात्मपरक अर्थ का ज्ञान होता है। इसके साथ-साथ इनसे परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों पर भी प्रकाश पड़ता है—

१. अग्नि—'अञ्चु गतिपूजनयोः' या 'अग-अगि गतौ' धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। पूजन का अर्थ सत्कार है। 'योऽञ्चति, अच्यते, अगत्यङ्गत्येति सोऽयमग्निः' अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य और पूजा के योग्य है, उसको

'अग्नि' कहते हैं। वह परमात्मा का नाम है। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—"आत्मा एव अग्निः" [शत० ६।७।१।२०], "अग्निरेव ब्रह्म" [शत० १०।४।१।५]।

२. मनु—'मन् ज्ञाने' अथवा 'मनु अवबोधने' धातुओं से मनु शब्द सिद्ध होता है। 'यो मन्यते, ज्ञायते, अवबुध्यते स मनुः,=जो विज्ञानरूप और ज्ञान करने योग्य है, इस कारण ईश्वर का नाम 'मनु' है।

३. प्रजापति—प्रजा और पति दो पदों में समास होकर 'प्रजापति' शब्द बनता है। 'प्रजायाः पतिः=पालकः, रक्षकः प्रजापतिः'—प्रजाओं का पालक और रक्षक होने से परमात्मा का नाम 'प्रजापति' है। निरुक्त में भी यही व्युत्पत्ति है—'प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा' =प्रजापति रक्षक और पालक होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—"ब्रह्म वै प्रजापतिः" [शत० १३।६।२।८], "प्रजापतिर्हि आत्मा" [शत० ६।२।२।१२]।

४. इन्द्र—'इदि परमैश्वर्ये' धातु से ऋज्रेन्द्राग्र०··· (उणादि० २।२८) सूत्र से रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। 'इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः'—जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इस कारण परमात्मा का नाम इन्द्र है। "इन्द्रतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः" [निरु० १०।८]। "यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वाबेन्द्रः" (तै० १।२।२५]।

५. प्राण—प्र पूर्वक 'अन् प्राणने' धातु से 'प्राण' शब्द सिद्ध होता है। प्राणनात् प्राणः—सबका जीवनमूल होने से जीवनरक्षक होने से ईश्वर का नाम प्राण है। "प्राणापानौ वेवः=ब्रह्मः" [गो० १।२।११]।

६. ब्रह्म—'बृहि वृद्धौ' धातु से 'बृंहेर्नोऽच्च' (उणादि० ४।१४६) सूत्र से मनिन् प्रत्यय होकर ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है। 'योऽखिलं जगत् निर्माणेन बर्हयति वर्द्धयति स ब्रह्मः,—जो सम्पूर्ण जगत् को रचकर बढ़ाता है, इस कारण ईश्वर का नाम ब्रह्म है। निरुक्त के अनुसार—"ब्रह्म परिवृढं सर्वतः" [निरु० १।८]—सर्वोच्च, सबसे बड़ा, सर्वव्यापक, सबसे शक्तिशाली होने से ईश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।

(२) वेद मन्त्रों में ईश्वर के गौण नामों का वर्णन—वेदमन्त्रों में ईश्वर के अनेक गौण नामों का उल्लेख आता है। श्लोक का भाव इन मन्त्रों पर आधारित प्रतीत होता है—

(क) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्तःसुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋक् १।१६४।४६।

अर्थात्—परमात्मा एक है। एक होते हुए भी विद्वान् लोग भिन्न-भिन्न गुणों के कारण उसे भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं, जैसे—इन्द्र=ऐश्वर्यशाली, मित्र=सबके प्रति मित्र के समान, वरुण=वरणीय, अग्नि=ज्ञानस्वरूप एवं पूजा के

योग्य, दिव्य,=तेजः-स्वरूप एवं अद्भुतगुणयुक्त, सुपर्ण=उत्तम पालन और पूर्णकर्म-युक्त, गरुत्मान्=महान् स्वरूप एवं बलवाला, यम=न्यायकारी, मातरिश्वा=वायु के समान अनन्त बल वाला। ये सभी परमात्मा के नाम हैं।

(ख) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः सः प्रजापतिः॥ यजु० ३२। १॥

अर्थात्—वह सूक्ष्म, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमात्मा ज्ञानस्वरूप और पूज्य होने से 'अग्नि' कहलाता है, प्रलयकाल में सबको ग्रहण करने वाला होने से वही 'आदित्य' है, अनन्त बलवान् होने से 'वायु', आनन्दस्वरूप एवं आह्लादक होने से 'चन्द्रमा', शुद्ध-स्वभाव होने से 'शुक्र', सबसे महान् होने से 'ब्रह्म', सर्वत्र व्यापक होने से 'आपः' और सब प्रजाओं का स्वामी एवं पालक होने से वही परमात्मा 'प्रजापति' कहलाता है।

सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही संसार को चक्रवत् चलाता है—

एषः सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥ १२४॥(७१)

(एषः) वह परमात्मा (पञ्चभिः मूर्तिभिः सर्वाणि भूतानि व्याप्य) पञ्च महाभूतों से सब प्राणियों को युक्त करके अर्थात् उनकी उत्पत्ति करके और उनमें व्याप्त रहकर (जन्मवृद्धि-क्षयैः नित्यं चक्रवत् संसारयति) उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश करते हुए सदा चक्र की तरह संसार को चलाता रहता है॥ १२४॥

अनुशीलनम् : अन्वय वर्णन—निराकार, सूक्ष्म परमात्मा इस संसार का उत्पत्ति-वृद्धि और विनाशकर्त्ता है। यह मान्यता १। ५७, ८० श्लोकों में वर्णित है। तुलनार्थ द्रष्टव्य है।

(२) उपर्युक्त स्वरूप वाला परमात्मा जगत् का उत्पत्ति-प्रलयकर्त्ता और इसमें वेदों, उपनिषदों के प्रमाण—वेदों और उपनिषदों में वर्णित मान्यता को ग्रहण करके मनु ने यहां प्रस्तुत किया है। इस जगत् के उत्पत्ति-वृद्धि-प्रलयकर्त्ता परमात्मा का स्वरूप १२। १२२–१२३ श्लोकों में प्रदर्शित किया है। वही इस संसार का निर्माण-संहार करने वाला है, कोई अन्य नहीं। इस विषय में वेदों और उपनिषद् के प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

(क) इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
ऋ०। मं० १०। सू० १२९। मं० ७॥

हे (अङ्ग) मनुष्य! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है जो धारण और प्रलयकर्त्ता है जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह [illegible] स्थित, [illegible]

प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है। उसको तू जान और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान ॥

(ख) हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
ऋ० । मं० १० । सू० १२१ । मं० १ ॥

हे मनुष्यो! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार और जो यह जगत् हुआ है और होगा, उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था और जिसने पृथिवी से लेके सूर्य्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है, उस परमात्मा देव की प्रेम से भक्ति किया करें ॥

(ग) पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥
यजुः। अ० ३१। मं० २॥

हे मनुष्यो! जो सब में पूर्ण पुरुष और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है; वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् को बनाने वाला है ॥

(घ) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥
तैत्तिरीयोपनि० ३। १ ॥

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं जिससे जीते और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं; वह ब्रह्म है। उसके जानने की इच्छा करो ॥

(ङ) जन्माद्यस्य यतः ॥ वेदान्त अ० १। सूत्र० २॥

जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है; वही ब्रह्म जानने योग्य है। (स० प्र० सप्तम समु०)

अन्य मन्त्र १। ६ के अनुशीलन में भी द्रष्टव्य है।

समाधि से ईश्वर एवं मोक्ष-प्राप्ति—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥ (७२)

(एवम्) इसी प्रकार समाधियोग से (यः) जो मनुष्य (सर्वभूतेषु आत्मानं पश्यति) सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है (सः आत्मना सर्वसमताम्+एत्य) वह सबको अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता

है (परं पदं ब्रह्म अभ्येति) वही परमपद जो ब्रह्म-परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥

(द० ल० आ० नि० १६६)

अनुशीलन : सब प्राणियों में आत्मवत् भाव एवं परमात्मदर्शन से मुक्ति—मनु ने यह मान्यता एवं भाव वेदों से यथावत् रूप में ग्रहण किया है। तुलनार्थ एवं अर्थस्पष्टीकरण के लिए निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ यजु० ४० । ६ ॥

अर्थ—(यः) जो मनुष्य (आत्मन्नेव) आत्मा अर्थात् परमात्मा में तथा अपने आत्मा के सदृश (सर्वाणि भूतानि) समस्त जीव और जगत् के जड़ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से, अथवा धर्माचरण और योगाभ्यास आदि से देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) समस्त प्राणियों और प्रकृतिस्थ पदार्थों में (आत्मानम्) सर्वत्र व्याप्त परमात्मा को देखता है (ततः) ऐसे सम्यक्दर्शन के बाद (न विचिकित्सति) वह संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् संशयरहित होकर निर्भ्रम ज्ञान से परमात्म-पद=मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। उसे संसार और परमात्म-ज्ञान के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता।

इति हरयाणाप्रान्तीयगुरुकुलझज्जरेऽधीतविद्येन, तत्र भवतामाचार्यभगवान्-
देवानामन्तेवासिना, हरयाणाप्रान्तान्तर्गतरोहतकमण्डले 'मकड़ौली'
नाम्नि ग्रामे लब्धजन्मना, श्रीगहरसिंहशान्तिदेवीतनयेन,
सुरेन्द्रकुमारेण कृतं विशुद्धमनुस्मृतेः हिन्दी-भाष्यम्,
प्रक्षिप्त-श्लोकानुसन्धानयुताऽथ च विविधविषय
विमर्शसम्पन्ना 'अनुशीलन' नामिका
समीक्षा च पूर्तिमगात् ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

विशुद्धमनुस्मृते: श्लोकानामुभयपंक्ति-अनुक्रमणिका

आवश्यक निर्देश —

१. इस अनुक्रमणिका में श्लोक-पदों के सामने बिना कोष्ठक के दी गयी संख्या 'प्रचलित संख्या' है, जो ग्रन्थ में सबसे पहले बिना कोष्ठक के और प्रथम, द्वितीय, दशम अध्यायों में बृहत् कोष्ठक में दी हुई है। लघु कोष्ठक में दी गयी संख्याएं, में मौलिक श्लोकों की हैं। उन्हें सामने उल्लिखित अध्यायों के अनुसार ग्रन्थ में लघुकोष्ठक में ही देखें।

२. इस ग्रन्थ में द्वितीय अध्याय के पहले २५ श्लोक प्रथम अध्याय में जोड़े हुए हैं और नवम अध्याय के आखिरी ११ श्लोक दशम में जोड़े हुए हैं। उन्हें उन्हीं अध्यायों में बृहत् कोष्ठक में दी गयी संख्या के अनुसार देखें।

३. इस अनुक्रमणिका में श्लोकों की प्रथमपंक्ति (प्रथमार्ध) बड़े टाइप में दी गयी है और द्वितीय पंक्ति (द्वितीयार्ध) छोटे टाइप में है।

आ

इ

उ

य

इति विशुद्ध मनुस्मृतिश्लोकानामुभयपंक्ति-अनुक्रमणिका